व्यक्ति और वाङ्मय

आदि से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियों
की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण

लेखक
श्रीप्रभाकर माचवे

प्रकाशक
साहनी प्रकाशन
५७, एस्प्लानेड रोड, दिल्ली

मूल्य
सात रुपये
*

कृष्णगोपाल साहनी द्वारा साहनी प्रकाशन, दिल्ली के लिए
नया हिन्दुस्तान प्रेस, चांदनी चौक, दिल्ली से मुद्रित।

व्यक्ति और वाङ्मय********

लेखक व्यक्ति की वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तय्यार नहीं। हाँ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानव का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है। यह प्रश्न वास्तव में विवाद-ग्रस्त है कि लेखक की साहित्यिक-कृति और अन्य कार्यों में विच्छेद कहाँ तक होना चाहिए।

आलोचना करते समय आलोचक रचना को तो आँखों के सामने रखता ही है, परन्तु वह रचनाकार की उस रचना के पीछे रहने वाली स्पष्ट अथवा अस्पष्ट तत्वों को भी नहीं भुला सकता। नवीन आलोचना दृष्टि में वैज्ञानिक तटस्थता, पृथगात्मता, पूर्वग्रहविरहित होना अधिक चाहा जाता है। मगर साहित्य, चाहे समाजोपयोगी हो, चाहे गर्भित सामाजिक प्रयोजनवती वस्तु हो, निर्मित होता है व्यक्ति द्वारा ही और पढ़ा-गुना भी जाता है व्यक्ति ही के द्वारा—सिवा नाटक या चित्रपट जैसे साहित्य-प्रकारों के, जहाँ सामूहिक आनन्द-ग्रहण ही सम्भव होता है। ऐसी अवस्था में वाङ्मय की रचना से जब व्यक्ति काटकर अलग नहीं किया जा सकता तब आलोचना में वह कैसे सम्भव है।

उदाहरणार्थ, एक लेखक 'च' है। मैं व्यक्तिगत जीवन में जानता हूँ कि वे दुश्चरित्र हैं, अनीतिमय जीवन व्यतीत करते हैं, उनका आदर्श कोई भी सभ्य-मनुष्य समाज के लिए सामने नहीं रख सकता। जीवन में वे अत्यन्त अ-सामाजिक हैं; यह सब मैं उनके व्यक्तिगत समीपतर परिचय से जानता हूँ। परन्तु उनकी कृतियाँ लीजिये; अत्यन्त बलिष्ठ-चरित्र व्यक्त करती हैं; नीतिमय और आदर्श-

समाज की अवतारणा में वे सहायक हैं। ऐसी अवस्था में क्या मेरा यह कर्त्तव्य नहीं हो जायगा कि मैं उनकी कृति की, प्रशंसा कृति की निष्पक्ष आलोचना के समय करूँ, और उतने समय के लिए बिल्कुल भूल जाऊँ कि इस कृति के पीछे किस प्रकार का व्यक्ति है। जैसे सिनेमा में अथवा चूड़ी के बाजे पर जब आप गान सुनते हैं तब यह बिल्कुल भुला देते हैं कि गानेवाला (या 'ली') कौन है। सम्भव है उस गायिका के घर जाकर, किसी मजमे में या अकेले गाना सुनना आपको नागवार गुज़रे; मगर उसकी रेकार्ड आप मंगल-प्रसंगों पर बजा रहे हैं और उस गायिका-विरहित गान के सौन्दर्य को उसी तरह ग्रहण कर रहे हैं जैसे फूल-विरहित सुगन्ध। तो क्या इस प्रकार केवल गान की प्रशंसा करनेवाला, मगर गायिका से कतराने वाला व्यक्ति आलोचक की कोटि में आ सकता है ? आप कमल की प्रशंसा में रम जाना चाहते हैं, मगर कीचड़ से बचते हैं।

एक कोटि के आलोचक वे भी हैं जो कमल को कमल और कीचड़ को कीचड़ कहना पसन्द करेंगे। वे कहेंगे—हाँ मीरा की कविता में भक्ति की आर्तता उच्च-कोटि की अवश्य है। परन्तु मीरा का व्यक्तिगत जीवन ? राणा को छोड़कर जोगी के साथ चले जाना कुछ नीति-सम्मत नहीं जान पड़ता। प्रत्यालोचक पूछेगा—कृपया अपने 'नीति' शब्द की ज़रा परिभाषा दें ? क्या रूढ़ियाँ नीति हैं; क्या जो कुछ समाज में चल रहा है और चलने दिया जा रहा है, और जिसे यदाकदा शास्त्राधार और धर्मगुरुओं का समर्थन प्राप्त हो जाता है, वह सब नीति है ? मैथ्यू अरनाल्ड भी अँग्रेजी के क्रान्तदर्शी शेले की जीवनी के उच्छृङ्खल स्थल देख पूर्वग्रह-दूषित (Prejudiced) हो गया और कहने लगा—ऐसा व्यक्ति कैसे श्रेष्ठ कवि हो सकता है। वह तो शून्य में पंख फड़फड़ाने वाला एक स्वर्ण-पक्षी मात्र है, जिसके पंख अपने ही आलोक की आभा में चमक रहे हैं। मगर वही अरनाल्ड टालस्टाय की 'अन्ना' पर लिखते समय कुछ और हो गया; क्योंकि वहाँ उसे ईसाइयत में बहुत महत्वपूर्ण मानी जानेवाली स्वीकारोक्ति जो मिली।

सवाल यों पैदा होता है कि मान लीजिए शेले की कविता केवल आपके सामने है—उसके जीवन के बारे में आप कुछ नहीं जानते (जैसे कालिदास या शेक्सपियर के सम्बन्ध में हम बहुत कम जानते हैं।) ऐसे समय आपकी आलोचना की कसौटी क्या होगी ? केवल उसकी रचनाएँ ही न ? परन्तु केवल 'ऋतु संहार' और 'कुमार-सम्भव' पढ़कर क्या आप उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय दे सकेंगे ? क्या यह अत्यधिक साहस-पूर्ण कार्य न होगा ? अज्ञेय ने

द्वितीया नामक कविता लिखी, जबकि उनका पहला विवाह भी नहीं हुआ था। अथवा वह व्यक्ति, जो केवल इतना ही जानता है कि पं० बालकृष्ण शर्मा कांग्रेसी एम. एल. ए. हैं और गांधीजी के भक्त हैं, क्या कभी कल्पना कर सकता है कि वह रसभीनी-रोमैंटिक कविताएँ लिखने वाले ही 'नवीन' होंगे? वियोगीहरिजी को जिसने सत्याग्रहाश्रम में झाड़ू लेकर सफाई करते ही देखा हो वह कैसे जान सकता है कि इस व्यक्ति ने वीरसतसई भी लिखी होगी? तात्पर्य, व्यक्तित्व को जान लेने भर से, नहीं, पूरी तरह जान लेने पर भी उसकी कृति, कलात्मक-रचना के सम्बन्ध में कोई भी स्थापना, 'केटगोरिकल' विधान के रूप में स्वीकृत करना खतरे से खाली नहीं। जैसे बाप को जान लेने से आप बेटे के बारे में निश्चय रूप से नहीं कह सकते, जैसे गांधी के हीरालाल और अज्ञातनामा, कुलगोत्रहीन पिता के सुविख्यात पुत्र भी अनुवंशशास्त्र में मिल जाते हैं। अतः रचना से रचनाकार के सम्बन्ध में कई धारणाएँ बनाकर चलने से बहुत कुछ स्वप्नभंग होने का डर रहता है। मैं क्रांतिकारियों को कुछ अतिमानव समझकर श्रद्धा-पात्र मानता था। उस किशोर-वय में जब मैंने प्रत्यक्ष जीवन में कुछ उन्हीं भूतपूर्व आतंकवादियों को देखा तब मेरी श्रद्धा को जैसे ठेस लगी। कोई इंश्योरेन्स एजेण्ट जैसा नज़र आता था, तो कोई छुई-मुई-वादी कविनुमा, कोई मरियल हड्डी का कंकालावशेष था, तो कोई तुन्दियल बनिये के समान। मेरी गलती यह थी कि मैं कुछ अतिरंजित, अवास्तव धारणाएँ लेकर चला। अक्सर आलोचक यही करते हैं। उनके दिमाग में एक काठ का नाप तैयार रहता है, उसी डण्डे से वे लेखक की कृति को हाँकते हैं। जब उस नाप में कृति फिट नहीं होती, तब उस लेखक को कोसने लगते हैं। कलालोचन में सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि इसके मान मानसिक हैं; अतः वे स्थिर, शाश्वत, सदा एक से रहने वाले नहीं होते। अब तो नीति-शास्त्रविद् भी कहने लगे हैं कि अच्छे-बुरे के नैतिक-मान भी ऐसे स्थाणु, अचल, और दुनिया जिस दिन बनाई उसी दिन परमात्मा बना दिये हों, ऐसे नहीं होते।

आप कहेंगे, हम व्यक्तित्व के मोह से आतंकित न हों, लेखक के बड़े नाम के रौब में न आजाँय। वह अमुक-अमुक कोटि का प्रसिद्ध राष्ट्र-भक्त या गो-भक्त या धर्म-मार्तण्ड है, इसलिए उसकी रद्दी-से रद्दी किताब को ऊँचा साहित्य न कह डालें; दूसरी ओर उत्तम साहित्य है, इसलिए यह भी न मान बैठें कि उसका लेखक भी कोई अप्सराजात या देवदूत होगा; तो आखिर हम जाँय कहाँ? क्या आलोचना के कोई निश्चित मान ही नहीं, सिवा इसके कि 'भिन्नरुचिर्हिलोकः'

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी!' अब आपके सवाल का सही-सही हल तो आप खुद ही पाने की कोशिश करें—मुमकिन है, आपका मेरा स्वभाव न मिलता हो। मेरी आपकी अभिरुचि भिन्न हो। मुझे रूसी साहित्य पसन्द है; आपको रूस के नाम से चिढ़ हो। इसलिए जवाब में बजाय इस तरह का उपदेश देने के कि आप कैसे सोचें मैं इस समस्या को किस तरह सोचता हूँ, यह बतलाता हूँ।

मैं ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद में विश्वास करना चाहता हूँ। आप इस लम्बे-चौड़े शब्द से घबड़ायें नहीं—मैं ऊपर का ही उदाहरण देकर कहूँ कि केवल 'कला के लिए कला' वाले सौन्दर्यवादियों की भाँति मैं केवल कमल की सुन्दरता पर मुग्ध रह कर नहीं रह जाना चाहता (पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी की बन्दिश की खूबी देखकर वाह-वाह कर उठे; बिहारी एक सामन्ती कवि था, वे यह भूल ही गये; या जैसे 'त्रिशंकु' में 'केशव की कविताई' में अज्ञेय उस 'रसिकप्रिया' वाले केशव के पक्ष में भी कुछ कह पाने की खोज में थे।)—वैसे ही मैं केवल 'नीति के लिए ही कला' वाले 'जीवन-साहित्यवादियों' की भांति कमल के अस्तित्व में भी अश्लीलता सूँघता हुआ (क्योंकि न होते कमल, न होते उपमेय नारी के रूपमय अंग, न होती वासना इत्यादि इत्यादि) कमल की निर्मलता में भी कीचड़ की ही गन्ध नहीं देखना चाहता। मेरा विश्वास है कि कीचड़ के बिना कमल उतना ही असम्भव है जितना कमल के बिना केवल कीचड़ का अस्तित्व अशोभन है (मैं अस्तित्व की समस्या को भी देखता हूँ, सौष्ठव की सम्भावना को भी।) बिहारी या केशव का उक्तिवैचित्र्य ठीक है, परन्तु उसकी देशकाल-परक अनुकूलता और औचित्य भी देखना होगा। आज कोई नायिका-भेद लिखने बैठे, तो कल अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन उस कवि की रचनाओं पर बहिष्कार का प्रस्ताव पास करेगा। मगर तुलसीदास भी केदारनाथ अग्रवाल की तरह कविता तब लिख ही नहीं सकते थे। अतः तुलसीदास में साम्यवाद खोजने जाना अण्डे में शोरबा खोजने जाने के समान है या अगर यह उपमा आपको अप्रिय जान पड़े तो रूढ़ भाषा में कहूँ, बीज में शाखा-प्रशाखा खोजने के समान यह बात है। आशय, द्वन्द्ववाद का अर्थ है कि कला रूपी कमल का अस्तित्व कमल के बीज (सौन्दर्य) और कीचड़ (असौन्दर्य) के परस्पर संघात से ही संभव है। आप कहो कि दुनिया से असुन्दर सब मिट जाय और केवल 'सुन्दर से सुन्दरतम' यह मानव-जीवन हो जाय—तो यह सृष्टि के नियम से विपरीत है।

आप कहेंगे कि कला तो नियतिकृत-नियम-रहिता है। इसे सृष्टि के नियम आप कहाँ से लगाते हैं? कला तो दैवायत्त, प्रातिभ, चमत्कार है। हर कोई कालिदास नहीं हो सकता, हर कोई 'हैम्लेट' नहीं लिख सकता। माना; इसी शंका में मेरा उत्तर छिपा है। मेरा विश्वास है कि प्रतिभा दैवायत्त कोई अलौकिक वस्तु है ही नहीं जो कला तो कला, किसी भी रचना को निर्मित करे। क्रोचे ने जिसे प्रभा या अन्तर्ज्ञान (इंटियूशन) कहा है, वह भी एक रहस्यमय संज्ञा है। मनोवैज्ञानिक उसे अचेतन का क्रीड़ास्थल कहने की अनुमति माँगता है। कलाकार का अचेतन भी उसकी कला में व्यक्त हो सकता है।

यदि आप यहाँ तक मेरी बात मान गये कि कलाकार के व्यक्तित्व से बिलकुल विपरीत दिखाई देने वाली वस्तु उसकी कलाकृति हो सकती है, तो अब आगे चलकर यह भी देखिये कि ऐसा किन परिस्थितियों में विशेष रूप से सम्भव होता है? जब कि चेतना का उपचेतन पर अधिक दबाव हो, जब कि प्रत्यक्ष का भार अप्रत्यक्षोन्मुख कर दे, जब जागृति से घबड़ाकर-ऊबकर अथवा हताश होकर वह स्वप्न की ओर जाय। इस दृष्टि से, कलाकार की कल्पना पर प्रत्यक्ष, वास्तव, यथार्थ का बहुत सूक्ष्म परन्तु साधारण अपेक्षा से भिन्न प्रकार का असर पड़ता रहता है। उसकी कल्पना इसी प्रकार के प्रभावों से बनती है। कालिदास जब मेघदूत में कृष्णाभिसारिकाओं को मार्ग दिखाने के लिए विद्युत् का चमकाना कहता है तब उसे कसौटी के पत्थर पर सोने के रेख की ही उपमा क्यों सूझती है—निश्चय, इसके मूल में उसका राजाश्रित रहना, उस समय के देशकाल परिस्थिति की वैभव-परिपूर्णता, स्वर्णकारों का अस्तित्व; संक्षेप में सामन्ती मनोवृत्ति की यह उपमा का परिचायक है। जब शेक्सपीयर बार-बार कुरेदे गये, अन्दर से कीड़ों द्वारा खाये गये गुलाब या अन्य फूलों के उपमान प्रयुक्त करता है, निश्चय ही एलिज़ाबेथ के समय के इंग्लैंड के स्वेच्छाचारी नैतिक जीवन का उस उपमा में प्रतिबिम्ब है। लेखक अथवा कलाकार की कल्पना भी जब इस पर देशकालपरिस्थिति से परोक्ष-अपरोक्ष में आबद्ध रहती ही है, यह बात आप मानें तो मेरे आरम्भ में कहे हुए, 'ऐतिहासिक' शब्द की भी व्याख्या हो जाती है।

व्यक्ति और वाङ्मय के सम्बन्ध ऐसी ऐतिहासिक द्वंद्वादिता के न्याय से जुड़े हुए हैं। आलोचना के मान भी इसी ऐतिहासिक अनिवार्यता से निर्णीत होते रहते हैं। स्पष्ट है कि मम्मट और जगन्नाथ पंडित, अभिनवगुप्त और रुद्रट के काल में हम जीवित नहीं थे, न ही प्लेटो और अरस्तू, लांगिनस और दांते के।

आप कहेंगे कि कला तो नियतिकृत-नियम-रहिता है। इसे सृष्टि के नियम आप कहाँ से लगाते हैं ? कला तो दैवायत्त, प्रातिभ, चमत्कार है। हर कोई कालिदास नहीं हो सकता, हर कोई 'हैम्लेट' नहीं लिख सकता। माना; इसी शंका में मेरा उत्तर छिपा है। मेरा विश्वास है कि प्रतिभा दैवायत्त कोई अलौकिक वस्तु है ही नहीं जो कला तो कला, किसी भी रचना को निर्मित करे। क्रोचे ने जिसे प्रभा या अन्तर्ज्ञान (इंटियूशन) कहा है, वह भी एक रहस्यमय संज्ञा है। मनोविज्ञानिक उसे अचेतन का क्रीडास्थल कहने की अनुमति माँगता है। कलाकार का अचेतन भी उसकी कला में व्यक्त हो सकता है।

यदि आप यहाँ तक मेरी बात मान गये कि कलाकार के व्यक्तित्व से बिलकुल विपरीत दिखाई देने वाली वस्तु उसकी कलाकृति हो सकती है, तो अब आगे चलकर यह भी देखिये कि ऐसा किन परिस्थितियों में विशेष रूप से सम्भव होता है ? जब कि चेतना का उपचेतन पर अधिक दबाव हो, जब कि प्रत्यक्ष का भार अप्रत्यक्षोन्मुख कर दे, जब जागृति से घबड़ाकर-ऊबकर अथवा हताश होकर वह स्वप्न की ओर जाय। इस दृष्टि से, कलाकार की कल्पना पर प्रत्यक्ष, वास्तव, यथार्थ का बहुत सूक्ष्म परन्तु साधारण अपेक्षा से भिन्न प्रकार का असर पड़ता रहता है। उसकी कल्पना इसी प्रकार के प्रभावों से बनती है। कालिदास जब मेघदूत में कृष्णाभिसारिकाओं को मार्ग दिखाने के लिए विद्युत् का चमकाना कहता है तब उसे कसौटी के पत्थर पर सोने के रेख की ही उपमा क्यों सूझती है—निश्चय, इसके मूल में उसका राजाश्रित रहना, उस समय के देशकाल परिस्थिति की वैभव-परिपूर्णता, स्वर्णकारों का अस्तित्व; संक्षेप में सामन्ती मनोवृत्ति की यह उपमा का परिचायक है। जब शेक्सपीयर बार-बार कुरेदे गये, अन्दर से कीड़ों द्वारा खाये गये गुलाब या अन्य फूलों के उपमान प्रयुक्त करता है, निश्चय ही एलिज़ाबेथ के समय के इंग्लैंड के स्वेच्छाचारी नैतिक जीवन का उस उपमा में प्रतिबिम्ब है। लेखक अथवा कलाकार की कल्पना भी जब इस पर देशकालपरिस्थिति से परोक्ष-अपरोक्ष में आबद्ध रहती ही है, यह बात आप मानें तो मेरे आरम्भ में कहे हुए, 'ऐतिहासिक' शब्द की भी व्याख्या हो जाती है।

व्यक्ति और वाङ्मय के सम्बन्ध ऐसी ऐतिहासिक द्वंद्वादिता के न्याय से जुड़े हुए हैं। आलोचना के मान भी इसी ऐतिहासिक अनिवार्यता से निर्णीत होते रहते हैं। स्पष्ट है कि मम्मट और जगन्नाथ पंडित, अभिनवगुप्त और रुद्रट के काल में हम जीवित नहीं थे, न ही प्लेटो और अरस्तू, लांगिनस और दांते के।

आप मानते होंगे कि देशभक्ति की रचना करने वाले को 'सी' क्लास में चक्की पीसना जरूरी है। कृपया मुझे निवेदन करने दीजिए कि वन्देमातरम् का लेखक न कभी जेल गया था न 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' का लेखक; न प्रेमचन्द कभी कारागृह के अतिथि हुए, यद्यपि उनकी रचनाओं ने देश के जागरण में बहुत योगदान किया (मैंने स्वयं बम्बई कांग्रेस में प्रेमचन्द को एक मामूली दर्शक के नाते आते-जाते देखा है) और 'भारत-भारती' के रचनाकार ने भी तब तक जेल-यात्रा नहीं की थी। इससे उलटे जेल में रहकर अपने विकृत प्रेम-वासना-द्वंद्व में रस ले लेकर गीत-कथा उपन्यास लिखने वाले भी महान् देशभक्त (?) मैंने देखे हैं। मेरे ऊपरके उदाहरण से यह न समझें कि मैं कारागृह के अनुभवों की कीमत कम कर रहा हूँ, उनसे भी लेखकों की अनुभव-संपदा और बढ़ी है, परन्तु वह राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यक शर्त नहीं है—ठीक उसी तरह जैसे देश से प्रेम करने के लिए झंडा लेकर उस प्रेम का प्रदर्शन करते फिरना आवश्यक नहीं। मैं अपनी माता से प्रेम करता हूँ—यह बात मैं विज्ञापन देकर घोषित नहीं करता। अतः लेखक या कलाकार के प्रत्यक्ष-जीवन में समझ कर झाँको, शायद वहाँ तुम्हें कुछ भी हाथ न आये।

—प्रभाकर माचवे

पुनश्च:

इस पुस्तक में सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए मेरे निबंधों में से कुछ चुनकर छापे जा रहे हैं। उन्हें मैंने अद्यावत बनाया है। पुस्तक रूप में इसे लाने में श्री इंद्रानारायण गुर्टू का आग्रह कम महत्त्व का नहीं है। फलतः मैं श्री गुर्टू जी और प्रकाशक दोनों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

नई दिल्ली
२६, दिसम्बर १९५२

—प्र० मा०

वौल्यू और साँवूव, टेन और पेटर का भी ज़माना बदल गया। आज की आलोचना आज और अब की आलोचना होगी; वह दो हजार वर्ष पुरानी या अठारहवीं सदी की उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसे मैं आज अपना परदादा चाहकर भी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में साहित्य में शाश्वत-भावों के, अमरत्व के, युगों-युगों से अबाधित नियम-बन्धनों के उल्लेख का क्या मतलब बचा रहता है? रस-चर्चा में सिवा जुगाली करने के आनन्द (यदि चर्वित-चर्वण में कोई आनन्द हो?) के कौनसा अर्थ शेष है, यह मैं इस नीरस अणुबम के युग में जानना चाहता हूँ। यदि हमारी आलोचना में हमारे आसपास के संघर्षों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; यदि वह उन सब की ओर उदासीन है, तो वह आलोचना मानवीय नहीं। वह शव-शृंगार मात्र है, जिसे ग्रंथगुरु विद्वान केवल दिमागी शतरंज से ऊब कर शुष्क तर्कों की तूलिका से ठंडे दिल और दिमाग से, केवल आलोचना के लिए आलोचना की भाँति किया करते हैं। अतः आज की आलोचना के मानों को, (आलोचना-दृष्टि को आमूलाग्र प्रगतिशील, मेरे बतलाये हुए ऊपर के अर्थ में, होना होगा) ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है। मेरा मत है कि आज की बहुजन-सम्मत भावना भी कुछ ऐसी ही है, यद्यपि उसके आकार की रेखाओं को कुछ स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में 'साहित्य-संदेश' में छपे मेरे प्रगतिशील संगीत-सम्बन्धी पत्र की प्रत्यालोचना को पढ़ें तो पता चलेगा कि जब मैं उस शब्द प्रगतिशील को प्रयुक्त करता हूँ तो केवल बाह्य फैशन रूप में नहीं, परन्तु एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में ही। उदयपुर कालेज में एक भाषण देने के पश्चात् एक विद्यार्थी ने यह शंका उपस्थित की कि आजकल के प्रगतिवादी केवल मौखिक सहानुभूति व्यक्त करते हैं, उनका व्यक्तिगत जीवन विलासपूर्ण होता है—ऐसी अवस्था में प्रगतिवाद केवल एक ढोंग, एक 'पोज़' नहीं है क्या? विद्यार्थी भावावेश में और भी कुछ-कुछ कह गया, जो कि यहाँ दुहराना अनावश्यक है। मैंने उत्तर दिया, जिसका आशय था कि मानो मैं एक चोर की कहानी लिखूँ—प्रथम पुरुष एकवचन में; या अपनी रचना में वेश्या या शराब का जिक्र करूँ तो क्या आप समझ लेंगे कि मैं भी एक चोर, व्यभिचारी या शराबी हूँ। क्या मैं प्रत्यक्ष इन कर्मों के अनुभव के बिना उनके बारे में लिखने का अधिकारी नहीं? तब, आप उन बातों के लिए, जिन्हें आप बुरा समझते हैं, जो बात लेखक पर थोपना न्याय्य नहीं समझेंगे, वही अच्छी समझी जाने वाली बातों के बारे में आप क्यों समझते हैं? उदाहरणार्थ,

आप मानते होंगे कि देशभक्ति की रचना करने वाले को 'सी' क्लास में चक्की पीसना जरूरी है। कृपया मुझे निवेदन करने दीजिए कि वन्देमातरम् का लेखक न कभी जेल गया था न 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' का लेखक; न प्रेमचन्द कभी कारागृह के अतिथि हुए, यद्यपि उनकी रचनाओं ने देश के जागरण में बहुत योगदान किया (मैंने स्वयं बम्बई कांग्रेस में प्रेमचन्द को एक मामूली दर्शक के नाते आते-जाते देखा है) और 'भारत-भारती' के रचनाकार ने भी तब तक जेल-यात्रा नहीं की थी। इससे उलटे जेल में रहकर अपने विकृत प्रेम-वासना-द्वंद्व में रस ले लेकर गीत-कथा उपन्यास लिखने वाले भी महान् देशभक्त (?) मैंने देखे हैं। मेरे ऊपरके उदाहरण से यह न समझें कि मैं कारागृह के अनुभवों की कीमत कम कर रहा हूँ, उनसे भी लेखकों की अनुभव-संपदा और बढ़ी है, परन्तु वह राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यक शर्त नहीं है—ठीक उसी तरह जैसे देश से प्रेम करने के लिए झंडा लेकर उस प्रेम का प्रदर्शन करते फिरना आवश्यक नहीं। मैं अपनी माता से प्रेम करता हूँ—यह बात मैं विज्ञापन देकर घोषित नहीं करता। अतः लेखक या कलाकार के प्रत्यक्ष-जीवन में समझ कर झाँको, शायद वहाँ तुम्हें कुछ भी हाथ न आये।

—प्रभाकर माचवे

पुनश्चः

इस पुस्तक में सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए मेरे निबंधों में से कुछ चुनकर छापे जा रहे हैं। उन्हें मैंने अद्यावत बनाया है। पुस्तक रूप में इसे लाने में श्री इंद्रानारायण गुर्टू का आग्रह कम महत्त्व का नहीं है। फलतः मैं श्री गुर्टू जी और प्रकाशक दोनों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

नई दिल्ली —प्र० मा०

२६, दिसम्बर १९५२

क्रम

संस्कृत कवि

वाल्मीकि
व्यास
भवभूति
कालिदास

: १ :

वाल्मीकि

पूर्व में कविता प्रधान रही, कवि गौण। पश्चिम में व्यक्ति कवि की, या कलाकार की कभी-कभी अधिक चर्चा होती है, उसकी रचना की उतनी नहीं। विशेषतः अभिजात साहित्य की, और महाकाव्य के प्रणेताओं की जब चर्चा होती है, तब जो थोड़े से नाम हमारे सामने आते हैं, यथा, वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, दांते आदि, उन सभी में न केवल रचना के वाह्य शरीर का बृहदत्त्व, परन्तु उनकी आत्मा की परमोदात्तता भी सामने आती है। कल्पना की विराटता इन महाकवियों की विशेषता है। अंधे यूनानी महाकवि होमर ('होमर' शब्द का अर्थ ही एकत्र लानेवाला, जोड़नेवाला होता है) के बारे में कॉलरिज ने कल्पना की है कि आयोनियन समुद्र के किनारे जब वह खड़ा होगा, तब उसके अंतश्चक्षुओं के सामने ईलियड और ओडिसी निनादमय समुद्र की तरंगों के साथ सघोष उठती हुई चली आई होंगी। (राइज़ टु दी स्वेलिंग आफ़ दि वाइसफुल सी!) अरस्तू ने अपने 'पोएटिक्स' में और काव्यादर्शकार दंडी ने महाकाव्य के लक्षणों में वाह्य रचना पर ही विशेष ज़ोर दिया है। अरस्तू कहते हैं: 'महाकाव्य में एक ही विषय, एक ही क्रिया, अपने आप में संपूर्ण, आदि-मध्य-अंतपूर्ण हो। इसका छन्द एक-सा हो और रचना नाटक के शोकान्त प्रकार की भाँति हो।' दंडी ने भी कहा कि सर्गबंद्ध, मंगलाचरण से आरम्भ होनेवाला, इतिहास-कथा पर आधारित, 'सद्' पर आश्रित, चारों फल देने वाला, चतुर उदात्त नायक युक्त महाकाव्य होता है।

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥

इतिहासकथोद्‌भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्॥

यों पूर्व और पश्चिम में महाकाव्य के सामान्य लक्षण एक से होने पर भी प्रधान भेद इसी निर्वैयक्तिक तथा वैयक्तिक दृष्टिकोण का है। हमारे यहाँ व्यक्ति कालिदास के सम्बन्ध में जितना कम ज्ञान हमें है, व्यक्ति वाल्मीकि के विषय में भी हमारे अधिकाँश मत अनुमान पर ही आधारित हैं। आदि कवि के मन में गहरी पीड़ा थी। तभी तो उनका पहला शोक 'अनुष्टुप' श्लोक बन गया। क्रौंच-मिथुन में से एक को वध करनेवाला अहेरी आज भी अनेकों युद्ध-पिपासुओं का प्रतीक बना हुआ है। परन्तु वाल्मीकि की यह आदि-रचना कुछ ऐसी हुई होगी जैसे खलील जिब्रान ने अपने 'मसीहा के बाग़ीचे' में कहा: 'पके फलों के बोझ से मेरी अंतरात्मा झुक आई है। कौन आकर उन्हें ग्रहण करेगा? मेरा अंतस्तल इन द्राक्षाओं की भाँति रस से लबालब भरा है, कौन उन्हें आकर ढालेगा और मरुभूमि की इस जलन को शाँत करेगा?'

'अंबिकातनय दत्त'—श्री दत्तात्रेय रामचन्द्र बेंद्रे कन्नड़ साहित्य के अग्रणी कवि हैं। उन्होंने अपनी 'नन्नहाडु' कविता में लिखा है: 'मेरे गाने का और जीवन का यदि कुछ सार है, तो यही है: रस ही जनन, विरस मरण है, और समरस जीवन है।' महाकवियों की रचनाओं पर यह उक्ति सर्वांशतः लागू होती है। उनका जीवन इतना सामरस्य से भरा होता है कि कोई उनके बारे में खोज-खोज कर भी व्यक्तिगत विवरणों का पता नहीं जान पाता। वाल्मीकि की भी प्रायः यही दशा है।

महाभारत पुराणों में माना जाता है, तो रामायण काव्य में। महाभारत में १,००,००० श्लोक हैं तो रामायण में २४,०००। इसी रामायण के आधार पर कालिदास ने रघुवंश रचा और प्रांतीय भाषाओं में सर्वप्रथम तमिल में १२वीं सदी में रामायण-रचना की गई। तुलसी रामायण पर भी इस तमिल रामायण की छाया है, ऐसा दक्षिण-भारत में गये हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सद्‌भावना-मंडल ने कहा है। क्योंकि काशी के एक धर्मपीठ में इस तमिल रामायण का भावानुवाद तथा पाठ तुलसी के काल में होता था, ऐसा उल्लेख है।

वाल्मीकि रामायण की बंगाल, बम्बई और पश्चिमी भारत की तीन प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें से बम्बईवाली आवृत्ति सबसे प्रामाणिक मानी जाती है। इस तीसरी प्रति में तृतीयाँश ऐसा है, जो अन्य दो प्रतियों में नहीं पाया जाता। बम्बईवाली प्रति ८वीं—६वीं शती की है। इसी रामायण का सार क्षेमेन्द्र ने

१९वीं शती में छपाया। रामायण के सात कांडों में से प्रथम और अन्तिम, यानी सातवाँ प्रक्षिप्त और बाद में जोड़ा हुआ माना जाता है। क्योंकि ये दोनों कांड अन्य कांडों से काव्य-गुणों में हीन हैं। प्रथम कांड में अयोध्या में लक्ष्मण के विवाह की चर्चा है तो दूसरे कांड में उनके ब्रह्मचारी होने का स्पष्ट उल्लेख है। प्रथम और सप्तम कांड में राम को संपूर्ण राष्ट्र का नेता चित्रित किया गया है, अन्य कांडों में राम का व्यक्तित्व जनपद तक सीमित है। प्रथम कांड में राम इन्द्र के और बाद में विष्णु के अवतार बताये गये हैं। प्रथम कांड में वाल्मीकि को राम का समकालीन और द्रष्टा ऋषि चित्रित किया गया है।

अन्य कई आधारों से विद्वानों ने रामायण-काल निश्चित करने का यत्न किया है। महाभारत में रामायण की केवल दो पंक्तियाँ मिलती हैं और 'रामोपाख्यानम्' भी मिलता है। महाभारत में उदात्त आदि शैली है, जिसका रामायण में अभाव है। पालि ग्रन्थों में कहीं भी रामायण का उल्लेख नहीं है। 'दशरथ जातक' एक छोटा-सा ग्रन्थ है। पर रावण जैसे अन्यायी का (जिसकी शिला चट्टान में खुदी, ज़मीन पर गिरी मूर्ति चांदा में है) बाद के साहित्य में कहीं भी कैसे उल्लेख नहीं, यह आश्चर्य है। इसी कारण से लाइपज़िग से १८९६ में प्रकाशित 'गुरुपूजाकौमुदी' ग्रन्थ में हर्मन ओल्डेनबर्ग ने माना है कि रामायण बौद्ध-धर्म के उत्थान के पश्चात् अर्थात् ५०० ईसा पूर्व रची गई। और भी एक आश्चर्य की बात है कि रामायण में यूनानियों का कोई उल्लेख नहीं है। अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने ३२७ ईसा पूर्व भारत पर आक्रमण किया था। रामायण उससे पूर्व की रचना होनी चाहिये। ए० वेबर बहुत दूर की खींच-तान करके रामायण पर होमर के हेलेन और ट्रॉय के युद्ध के कथानक के अनुकरण का मिथ्या आरोप लगाते हैं। यूलिसिस और राम के चरित्र-निर्माण में बड़ा अन्तर है। जेकोबी रामायण को बौद्ध-काल से पूर्व इसलिए मानते हैं कि रामायण में पाटलिपुत्र का कोई उल्लेख नहीं। रामायण में सर्वत्र कौशल की राजधानी अयोध्या कहा गया है, जब कि बौद्ध, जैन, यूनानी ग्रन्थकार और पातंजलि (१५० ईसा पूर्व) भी 'साकेत' नाम लिखते हैं। रामायण में मिथिला की राजधानी विशाला माना गया है, जो कि एक स्वतन्त्र राज्य कहा गया है। बौद्ध-काल में तो वैशाली गणतन्त्र हो गया था। सबसे बड़ा पुष्ट प्रमाण रामायण की प्राचीनता का भाषा-विज्ञान का है। रामायण की भाषा टकसाली लोक-प्रचलित संस्कृत है। अशोक ने अपने शिलालेख (२६० ईसा पूर्व) और बुद्ध ने अपने सारे उपदेश (५०० ईसा पूर्व) क्रमशः प्राकृत और पालि में दिये,

अर्थात् रामायण-काल काफ़ी प्राचीन रहा होगा। विद्वानों के अनुसार रामायण ईसा पूर्व चौथी शती में सम्पूर्ण हुई है।

डा० राधाकुमुद मुखर्जी के 'हिन्दू सिविलाइज़ेशन' ग्रन्थ के अनुसार रामायणकार का भौगोलिक ज्ञान दंडकारण्य के परे नहीं था। राम-कथा पर वेद के संवादसूक्तों का प्रभाव है, ऐतरेय उपनिषद् में हरिश्चन्द्र की कथा भी मिलती है। जनमेजय का उल्लेख शतपथ में और व्यास-वैशंपायन का तैत्तिरीय आरण्यक में उल्लिखित है। फिर भी राम और रावण आर्य-अनार्य सभ्यताओं के प्रतीक हैं। उस समय की समाज-व्यवस्था ग्राम-केंद्रित थी। घोष, व्रज, पल्ली, दुर्ग, ग्राम, खवेट, पट्टन, नगर बस्तियों के भेद थे। रामायण में नगर के चार चौक बताये गये हैं; महाभारत में छः। शासन यों होता था कि एक गाँव में ग्रामणी होता था, और बाद में जनपद, कुल, जाति, श्रेणी, यूथ के प्रतिनिधियों में से चुन कर मंत्रि-परिषद् बनती थी। दशग्रामी, शतग्रामी, ग्रामशताध्यक्ष, अधिपति आदि दस, बीस, सौ, हजार गाँवों के यूथ के प्रमुख का नाम था। वाल्मीकि के आश्रम में लड़कियाँ भी पढ़ती थीं। राम की विवाह के समय उम्र १३ वर्ष की और सीता की ८ वर्ष की थी। तेलुगू नाटककार पुद्दू कृष्ण ने अपने अशोक-वन में जाति-भेद का चित्र दिया है।

वाल्मीकि रामायण के विषय में बहुत कुछ जान लेने के बाद भी वाल्मीकि व्यक्ति रहस्य के कुहरे में छिपे हैं। एक अनुश्रुति यह भी है कि तपस्या करते-करते चूँकि वहाँ एक 'वाल्मीक' (दीमकों का घर) बन गया, इस कारण से इस शिकारी, बहेली बटमार का दिल पलट गया। मरा-मरा कहते हुए वह उलटा मंत्र पढ़ने लगा और उसका उद्धार हो गया। वह जो भी हो। वाल्मीकि जैसी अलौकिक, जाज्वल्यमान, महान्, मौलिक, कवित्वपूर्ण, विराटदर्शी प्रतिभा विश्व-साहित्य में भी मिलना सहज सम्भव नहीं। वाल्मीकि के उदाहरण, उनके विशाल ग्रन्थ में से कहाँ-कहाँ से कितने चुने जाँय?

वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काव्यमय अंश उसके प्रकृति-चित्रण के स्थल हैं। पावस-ऋतु का यह गंभीर मेघ-घोषमय वर्णन कितना स्वाभाविक है:

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित्पर्वत सन्निरुद्धं
रूपं यथा शांत-महार्णवस्य॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृति सन्निकाशाः ।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥

'कहीं थोड़ा उजाला है, कहीं अँधेरा है । आकाश में चारों ओर मेघ यों छा गये हैं मानो पर्वतों से घिरा हुआ कोई शांत महासागर हो ।

'बिजली का झंडा, बगुलों का हार धारण किये, पर्वतों जैसे महदाकार मेघ ऐसे जान पड़ते हैं मानो जुझारू हाथी मस्त होकर चिंघाड़ रहे हों !'

और ऐसी उग्र-गंभीर उपमाओं के साथ-ही-साथ उसी किष्किन्धा कांड में वाल्मीकि कैसी कोमल और आधुनिक कवियों जैसी उपमा भी देते हैं कि धरती पर छोटी-छोटी घास उग आई है और उसमें से लाल-लाल वीरबहूटी इस तरह शोभा देती हुई घूमती हैं मानो किसी स्त्री ने लाल किनारी की हरी चूनरी ओढ़ी हो !

बालेन्दु गोपान्तर चित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुवृ `न शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षित कम्बलेन ॥

पावस की भाँति वाल्मीकि ने किष्किन्धा-कांड में शरद् ऋतु का भी बड़ा ही सुन्दर वर्णन दिया है :

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुन्धराम् ।
निर्वर्तयित्वा शस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥

शाखासु सप्तच्छदपादपानाम् प्रभासु ताराकर्निशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानाम् श्रियं विभाज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥
व्यभ्रं नभः शस्त्र-विधौतवर्णम् कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कल्हारशीताः पवनाः प्रवांति नभो विमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥

अर्थात्, 'सहस्राक्ष देवाधिदेव इन्द्र ने पावस-ऋतु में पानी से पृथ्वी को सींच कर तृप्त किया । अब वे धान को पका कर अपने आपको कृतकर्म अनुभव करते हैं । इस ऋतु में तीन बातों में शोभा जैसे बँट गई है : एक तो छितवन की शाखों में; दूसरे चाँद, तारे और सूर्य की रोशनी में; तीसरे उत्तम हाथियों की लीलाओं में । आसमान में से बादल छँट गये हैं और वह ऐसा साफ़ चमकीला जान पड़ता है जैसे कोई मँजा हुआ शस्त्र हो । नदियों की धार काफी हलकी और दुबली हो गई है । हवा में कमलों की सुगन्ध है । और आकाश खुला-खिला, दिशाएँ धुली-धुली-सी उजली लगती हैं ।'

: २ :

व्यास

व्यक्ति व्यास के विषय में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। विभिन्न विक्रमादित्यों की तरह अट्ठाइस व्यासों के नाम मिलते हैं। कहा जाता है कि इन व्यासों ने विभिन्न कालों में वेदों का संग्रह किया था। वेदव्यास, पुराणों के प्रणेता व्यास और महाभारतकार व्यास एक ही थे या नहीं, इसके बारे में मतभेद है। जनश्रुति तीनों को एक ही मानती है। उनका पूरा नाम कृष्णद्वैपायन व्यास था और उन्हीं व्यास के बारे में यह दो लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं कि अठारह पुराणों का निचोड़ निकाल कर व्यास ने दो बातें कहीं : 'परोपकाराय पुण्यानां पापाय परपीडनम्' (परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है)। दूसरी लोकोक्ति मौलिकता के विषय में है। अब जो लिखा जाता है वह सब व्यास का उच्छिष्ट या जूठन है—'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'

'व्यास' शब्द के अनेक अर्थ हैं, उनमें मुख्य अर्थ है सम्पादक अथवा संग्राहक। व्यास के चार शिष्यों ने चारों वेदों का सम्पादन किया : पैल ने ऋग्वेद का, वैशंपायन ने यजुर्वेद का, जैमिनी ने सामवेद का और सुमन्त ने अथर्ववेद का। व्यास नाम का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में वैशंपायन के साथ-साथ मिलता है। पाणिनि ने महाभारत का उल्लेख किया है; वासुदेव, अर्जुन और युधिष्टिर का भी उल्लेख किया है। परन्तु 'व्यास' वहाँ विशेषण के रूप में आया है, विशेष्य के रूप में नहीं। ब्राह्मणों में पाण्डु और कुरु का उल्लेख नहीं है। हाँ, सांख्यायन गृह्यसूत्र में सुमन्त, जैमिनी, वैशंपायन और पैल का उल्लेख है। पुराणों में ब्रह्मांड, वायु, विष्णु और भागवत व्यास का स्पष्ट निर्देश करते हैं। पुराण-संहितार्थ में व्यास के पंचम शिष्य सूत (या भाट) बताये

गये हैं। इन्हीं को रोमहर्षण या लोमहर्षण भी कहा गया है। इन्हीं के शिष्य उग्रश्रवा हुए और उनके प्रशिष्य सौति उग्रश्रवा। यों सूत तीन शाखाओं में विभाजित माने गये : काश्यपिक, सावर्णिक और शांशपायनिक। डा० राधा-कुमुद मुखर्जी के मतानुसार सरस्वती नदी के तट पर काम्यक वन में व्यास का आश्रम था।[1] वहीं व्यास ने २४,००० मूल श्लोकों का 'भारत' रचा, जो कि उनके शिष्य वैशंपायन ने परीक्षित-पुत्र जनमेजय के यज्ञ में सुनाया। बाद में नैमिषारण्य में शौनक के यज्ञ में वही भारत उग्रश्रवा सौति ने सुनाया। मौखिक रूप से यह परम्परा चलती रही। इन्हीं व्यास ऋषि का नाम जहाँ एक ओर साधारण भाषा में क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न जाति के लिए सामान्य संज्ञा बन गया, वहीं सात चिरंजीवों में अश्वत्थामा, बलि, हनुमान, विभीषण, कृप और परशुराम के साथ उनका नाम लिया जाने लगा। शब्द कल्पद्रुमकार ने बाद में उसमें मार्कण्डेय भी जोड़ दिया है।

व्यास की उत्पत्ति-कथा महाभारत में इस प्रकार से दी हुई है। वैसे तो महाभारत-पुराणों की सभी उत्पत्ति-कथाएँ बहुत-सी समाज-वैज्ञानिक और नृ-वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। व्यास की उत्पत्ति-कथा महाभारत के शब्दों में ही पढ़िये :

सत्यवती भीष्म से कह रही है : "हे भीष्म! मेरे धार्मिक पिता की एक धर्मार्थ नौका मेरे अधीन थी। मैं वह चलाती थी। एक बार प्रथमतः यौवन-प्राप्ति-काल के समय, धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ बुद्धिमान् परमर्षि पराशर यमुना नदी पार करने की इच्छा से मेरी नौका के पास आया। मुझे नौका में अकेली देख वह कामव्याकुल मुनि मेरे पास आकर मधुर भाषण करने लगा। मैंने अपना जन्मकुल बताकर, 'मैं दास-कन्या हूँ' ऐसा कहा।

"पुत्र, मुझे उस समय उसके शाप का डर लगा और पिता का भय तो था ही। उसने मुझे दुर्लभ वर दिये। उसी कारण से मैं उसका परिहार न कर सकी। अपने तेज से मुझ बाला को पराभूत करके उसने अपने वश कर लिया। उसने अपने प्रभाव से चारों ओर कोहरा फैला दिया और तीर पर के लोगों को नाव नहीं दिखाई दे, ऐसी व्यवस्था की। पहले मेरे शरीर से मछली की अत्यन्त निन्द्य दुर्गन्धि आती थी। वह हटा कर उस मुनि ने मुझे यह शुभ गंध दिया।"

"बाद में उस मुनि ने मुझसे कहा : 'मेरे इस गर्भ को इस नदी के द्वीप

---

१. एन्शिन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृ० ३३५।

में रख कर तू कन्या ही बनी रहेगी।' वह पराशर-पुत्र महायोगी, महर्षि बना। वह कानीन, द्वैपायन, कृष्णवर्ण पुत्र वेदों का विभाग करने वाला बना अर्थात् उसे व्यासत्व प्राप्त हुआ।"

व्यक्ति व्यास के विषय में केवल इतना ही पता है। परन्तु उसकी महारचनाएँ महाभारत और पुराणों के बारे में बहुत खोज हो चुकी है और अभी भी हो रही है। महाभारत एक 'क्लासिक' शैली का महाकाव्य है। उसमें विराटता और भव्यता अधिक है, सौन्दर्य उतना नहीं। अंग्रेजी समालोचक हैज़लिट ने 'रुचि के विषय में' लिखते हुए कहा है : 'सब्लिमिटी एराइज़ेज़ फ्राम दि सोर्स आफ़ पावर' (शक्ति के स्रोत में से भव्यता निर्मित होती है !) महाभारत में इसी प्रकार का अखण्ड शक्ति-स्रोत है ! टी० एस० इलियट ने 'वॉट इज़ ए क्लासिक' में 'युग का क्षण और कला का क्षण जहाँ तदाकार होते हैं' उसे ही 'क्लासिक' माना है। महाभारत में युग का सत्य जैसे नीति के सत्य से एकाकार हो उठा है।

पुराणों की भी प्रायः वही दशा है : अनिश्चित काल, अनिश्चित संगति। पुराणों में भौगोलिक वर्णन का विषय ही ले लें तो भारतवर्ष वर्फानी पहाड़ों के दक्षिण में माना गया है। उसमें सात पर्वत प्रधान हैं। नदियों के विचित्र वर्णन हैं। यवन, शक, पहलक, हूण (दूसरी शती ईसा पूर्व) और गुप्त (ईसा की छठी शती) वंशों का भी उल्लेख है। प्रत्येक पुराण का स्थानविशेष से सम्बन्ध है : ब्रह्मपुराण का उड़ीसा से, पद्म का पुष्कर से, अग्नि का गया से, वराह का मथुरा से, वामन का थानेश्वर से, कर्म का बनारस से; मत्स्य का नर्मदा तट के ब्राह्मणों से। भविष्य पुराण का उल्लेख आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों में (ईसा पूर्व दूसरी शती) मिलता है। इस प्रकार व्यास का रचना-काल निर्णय बहुत कठिन वस्तु है।

महाभारत सुन्दर उक्तियों का कोष है। अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनका उदाहरण नहीं। ययाति पुरु से कहता है :

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥

'इस पृथ्वी पर जितने चावल, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ आदि योग्य पदार्थ हैं; वे एक कामी पुरुष के लिए काफी नहीं हैं। इसलिए तृष्णा छोड़ दे।'

अष्टक ययाति से कहता है :

प्रभुरग्निः तपतने भूमिराव्यसने प्रभुः।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशिते सतां त अभ्यागतः प्रभुः॥

'ताप देने वालों में अग्नि, संग्रह करने वालों में धरती और प्रकाश देने वालों में सूर्य जैसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार से सज्जनों में अतिथि श्रेष्ठ है।'

भीष्म ने दुर्योधन से कहा :

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम्।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम्॥

'अपनी कीर्ति की रक्षा करो। दुर्योधन! कीर्ति ही परम-बल है। जिस मनुष्य की कीर्ति नष्ट होती है, उसका जीवन निष्फल है।'

आदिव्यास की दूसरी शैलीगत विशेषता है नामावलियाँ देने का मोह। अनेक स्थलों पर लम्बी-लम्बी नामावलियाँ दी हुई हैं।

व्यास हमारे सांस्कृतिक उषःकाल के अग्रदूत हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में कल्पना, जनश्रुति और अनुमान के कुहासे से लिपटे महा-रचयिता हैं, परन्तु उनकी प्रतिभा एक साथ ही गरुड़ की भाँति ऊँचे उड़ने वाली और पिपीलिका की भाँति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरणों को न छोड़ने वाली है।

: ३ :

भवभूति

मालती-माधव में बुद्धरक्षिता कहती है : 'स्त्रियों और फूलों की सुकुमारता में क्या समानता है ? उन्हें पहिले बहुत सँभलकर छूना पड़ता है। उनका विश्वास प्राप्त करने से पहले उनसे अधिक प्रगल्भता से पेश आने पर, बाद में उनके सहवास से जुगुप्सा उत्पन्न होती है।' भवभूति, नारी-चित्रण में इसी कारण कुटुम्ब और परिवार की मर्यादा की रक्षा विशेष रूप से करने में तत्पर दिखाई देते हैं।

कालिदास और भवभूति के समय रंगमंच पर स्त्रियों के चरित्र स्त्रियों द्वारा ही अभिनीत होते थे और वे भी गणिकाओं द्वारा अधिक। मालती, सरस्वती के 'लक्ष्मीस्वयम्वर' नाटक का प्रयोग इन्द्र-सभा में करने के लिए जब कुलीन ऋषि-पत्नियों ने अस्वीकृति व्यक्त की, तब भरत ने स्त्री-पात्रों के लिए उर्वशी, मेनका आदि अप्सराओं की अर्थात् स्वर्गलोक की वारयोषिताओं की नियोजना की। यह उल्लेख कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में है। ग० वि० केतकर के अनुसार संस्कृत नाटकों की स्त्री-पात्रों के लिए महाराष्ट्र की वारवनिताएँ अधिक थीं; कारण, उन स्त्री-पात्रों के मुख में महाराष्ट्री प्राकृत की योजना अधिक की जाती थी। 'विक्रमोर्वशीय' की नायिका उर्वशी तो अप्सरा है ही, 'शकुन्तला' की नायिका स्वयम् वेश्या नहीं तो वेश्यापुत्री (मेनका की लड़की) है और 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका यद्यपि है कुलीन घराने की, तथापि उसके द्वारा रंगमंच पर गायन-वादन-नर्तन रसभाव-दिग्दर्शक अभिनय करवाया गया है, जो वेश्या अभिनेत्रियों के अनुकूल था। परन्तु भवभूति की नायिकाएं अर्थात् सीता, मालती इत्यादि कुलीन उच्च-वर्ग की हैं। उस समय सीता का अभिनय करने योग्य नटी नहीं

लिए अनुकूल थी, और न मालती के ही। उचित अभिनेताओं के अभाव में इन नाटकों का उनका समुचित प्रदर्शन नहीं होता था, इसी से भवभूति के नाटक इतने लोकप्रिय नहीं हुए। व्याकरण की दृष्टि से भी कालिदास में जिस प्रकार की शुद्धता अथवा सुन्दरता दिखाई देती है, उससे कहीं भवभूति के व्याकरण सम्बन्धी गलतियों की मात्रा से स्पष्ट न था जितने वाले उतना भारी से भी करते हैं। नाट्यशास्त्र नियमों के अनुसार कालिदास के नायक धीरललित प्रकृति के हैं। उनका प्रधान ध्येय उनका शृंगार है। दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता है, राजधर्म में परायण तो था ही जाता है। भवभूति ने जब अपने नाटक लिखे तब इसे साम्राज्य के बन्धन नहीं थे। उनके नायक धीरोदात्त हैं, वे नारी के प्रति निष्ठावान् हैं। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित का नायक राम है, जो प्रजा के अनुरञ्जन की हेतु के लिए तत्पर है। 'मालती-माधव' नामक काल्पनिक प्रकरण का नायक कुमार है।

मालती और माधव, मदयन्तिका और मकरन्द की प्रेमकथा में नायक-नायिकाओं के पिता-माता देवरात, भूरिवसु तथा कामन्दकी जब विद्यार्थि-काल में पढ़ते थे, तभी से उन्होंने यह निश्चय कर रखा था कि यदि एक के कन्या और एक के पुत्र होगा तो दोनों का परस्पर विवाह कर दिया जायगा। बड़े होने पर ये दोनों पद्मावती के राजाओं के मन्त्री बनते हैं। विद्यार्थी-काल में की हुई प्रतिज्ञा मालती के पिता भूरिवसु पालन नहीं कर सकते, क्योंकि उनके स्वामी पद्मावतीपुर के राजा अपने कृपापात्र नन्दन नामक राजा से मालती का विवाह करने का प्रस्ताव करते हैं। स्वामी की इच्छापूर्ति के विचार से यह मालती के पिता की माँग खुले-खुले अस्वीकार नहीं कर सकते थे। मालती-माधव की इच्छा है कि दोनों का विवाह हो। इसीलिए कामंदकी को वे इस काम पर नियुक्त करते हैं। राजा और नन्दन को फँसाने के लिए उन्हें अपना हेतु गुप्त रखना पड़ता है। माधव के पिता देवरात इस विवाह को घटित करने के लिए शिक्षा के विचार से माधव को पद्मपुर भेज देते हैं। कामन्दकी वहाँ माधव को किसी काम के लिए राजमार्ग से भूरिवसु के प्रासाद पर से बार-बार भेजती है। माधव मन्द गति से चलता है। मालती बार-बार उसे देखती है। दोनों ही सुन्दर और तरुण होने के कारण परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है। मालती माधव का चित्र बनाती है, और बकुल-माला गूँथती है—यह दोनों बातें कामन्दकी माधव तक पहुँचती हैं। कामन्दकी उसे साहस के लिए प्रवृत्त करती है, परन्तु मालती उसके लिए राजी नहीं है। देवों को मनुष्य-बलि देने

वाला अघोरघंट, मालती को बलि बनाने भगा ले जाता है। परन्तु ठीक समय पर माधव अघोरघंट को मारकर उसे छुड़ाता है। इस तरह से नायक नायिका को संकट में से अचानक बचा लेता है, अतः उनका प्रेम और दृढ़ होता है।

इधर भूरिवसु नन्दन से मालती का व्याह कर देने की तैयारी कर चुका है। वधू कुल-रीति के अनुसार कुलदैवत के वन्दनार्थ मन्दिर में आती है। कामन्दकी की प्रेरणा से माधव मन्दिर के अन्दर छिपा रहता है। निराश मालती के वहाँ पहुँचते ही कामन्दकी आगे बढ़कर मालती को माधव को सौंप देती है और दोनों विवाह के लिए दूर चले जाते हैं। माधव का मित्र मकरन्द वधू के लिए मन्दिर में भेजी गई पोशाक पहन कर वधू के रूप में गाजे-बाजे के साथ नन्दन के घर पहुँच जाता है। उसके द्वारा ताड़ित होकर नन्दन वधू का मुँह फिर न देखने की प्रतिज्ञा करके चल देता है। अनन्तर मालती-वेषधारी मकरन्द के सोते समय कामन्दकी की शिष्या बुद्धरक्षिता, नन्दन की बहन मदयन्तिका को लेकर वहाँ आती है। मदयन्तिका को मकरन्द ने बाघ के पंजे से छुड़ाया था। अतः परस्पर अनुरक्ति थी ही; मदयन्तिका मकरन्द के प्रति प्रेम व्यक्त करती है, तब मालती वेषधारी मकरन्द उठता है। बुद्धरक्षिता उन्हें भाग जाने की सलाह देती है। राजा का क्रोध कुछ कारणों से दूर हो जाता है और अन्त सुखमय होता है।

इस कथानक में दूसरे अंक में मालती की चतुर सखी लवंगिका मालती की बकुल-माला माधव को देते हुए कहती है: "प्रिय सखे, मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जिस पर अपना गाढ़ प्रेम है, उस सुन्दर प्रेमी से समागम इस संसार में गाढ़ प्रीति को शोभा देने वाला, दुर्लभ मनोरथ का स्तुत्य हल है।" कामन्दकी अवलोकिता को कहती है: "विवाह में परस्पर प्रीति सर्वोत्तम समाधान की बात है। अंगिरस ऋषि के अनुसार वाणी, मन और नेत्र की प्रवृत्ति जिसकी ओर है, उसी से विवाह करने से सदा कल्याण-वृद्धि होती है:

इतरेतरानुरागो हि दारकर्मणि प्रऽराध्यमंगलम्।
गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा यस्या मनश्चक्षुषोरनुबन्धस्तस्यामृद्धिरिति ॥

कामन्दकी का विवाहोत्तर उपदेश बहुत ही सुन्दर है:

प्रेयोमित्रं बन्धुता वासमग्रा
सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणाम्भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥

लवंगिका की स्त्री के जन्म के विषय में वह उक्ति बहुत मार्मिक है, जहाँ पुरुष के स्वामी बनकर स्त्री पर सदैव शासन करने का विरोध किया गया है।

उत्तररामचरित में विवाह का दृश्य चित्रपटी में आने पर राम सीता का हाथ अपने हाथ में लेकर कहते हैं: "हे सीते, गौतम द्वारा मेरे हाथों में दिया हुआ हाथ यही है, जिसका स्पर्श मुझे सुखद जान पड़ा। उसका पुनः प्रसंग मुझे हो रहा है।" आगे चलकर प्रिया के विषय में राम की यह उक्ति देखिए: "अमृत-रूप यह घर की लक्ष्मी, नेत्रों में अमृत-शलाका, स्पर्श में चन्दन का अवलेप है। इसका स्निग्ध शीतल हाथ मोतियों के हार के समान है। इसके वियोग को छोड़कर मुझे इसकी कौन-सी बात प्रिय नहीं।"

उत्तररामचरित के दूसरे अंक में शम्बूक-प्रकरण में राम की यह उक्ति कितनी करुणा-मिश्रित है:

त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु।
इति हारमतेवास्मीं स्नेहस्तस्याः स तादृशः॥
न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

छठे अंक में वाल्मीकि के आश्रम के पास जंगल में जहां लक्ष्मण ने सीता को छोड़ा था, वहां लव-कुश को देखकर राम रो उठते हैं। तब लव, कुश से कहता है: "यह क्या? मांगल्य का आगार इनका मुख-कमल आंसू-कणों से भीगे हुए कमल-सा क्यों दीखने लगा।" राम लव-कुश से दो श्लोक कहने के लिए कहते हैं, तो कुश कहता है:

प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः।
प्रियभावः स तु तया स्वगुणैरेव वर्धितः॥
तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्।
हृदयस्त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्॥

इसी प्रकार सीता एक स्थल पर कहती हैं:

अहमेवास्य हृदयं जानामि ममाप्येषः।

भवभूति, नारी-हृदय की कोमल भावनाओं का, प्रेम और विरह का, करुण शृङ्गार का, स्वाभाविक चित्रण करने में अद्वितीय थे।

: ४ :

कालिदास

महाकवि कालिदास पर पूरी पुस्तक लिखनी चाहिए। परन्तु इस लेख में, संक्षेप में हम उनके काल और आश्रयदाता सम्बन्धी चर्चा, कालिदास के मत में राजा और शासन के गुण, उनके काव्य में महाकाव्य-गुण और शब्द-शिल्प तथा सूक्तियाँ आदि पर कुछ अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

कालिदास का सम्बन्ध किसी विक्रम से अथवा उसके पुत्र से रहा होगा। यह विक्रम अपने मूल-पुरुष से पाँचवीं पीढ़ी में रहा होगा और उसके प्रपितामह का नाम 'चन्द्र' या चन्द्र के समान कुछ रहा होगा, यह 'विक्रमोर्वशीय' के अंक ५, श्लोक २१ से जाना जाता है। इसका नाम 'कुमार' दिया है और उसे महासेन कार्तिकेय की उपमा दी है। 'कुमारसंभव' काव्य के नाम से इस 'कुमार' नामक आश्रयदाता के सम्बन्ध में अनुमान को पुष्टि मिलती है। महाभारत में दुष्यंत बड़े साम्राज्य का अधिष्ठाता नहीं है; परन्तु कालिदास का दुष्यंत आसमुद्र पृथ्वी का प्रतिपालक है। कालिदास की रचनाओं से यह जान पड़ता है कि उसका जीवन-समय शाँत, समृद्ध, सुस्थिर शासन का काल था। बुद्धधर्मियों के पास राजनीतिक सत्ता नहीं थी। शिव, विष्णु, काली की उपासना होती थी। यज्ञ-याग भी होते रहते थे। दाशरथी राम को विष्णु का अवतार मानते थे। ज्योतिष और शिल्पशास्त्र बहुत उन्नत अवस्था में थे और कामशास्त्र लोगों की रुचि का शास्त्र था। नाटक वसंतोत्सव के साथ खेले जाते थे। कालिदास का स्पष्ट उल्लेख सबसे पुराने लेखकों में बाणभट्ट और सम्राट् सत्याश्रय पुलकेशी द्वितीय ने किया है। यह दोनों एक ही काल के यानी सातवीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध के हैं। अतः कालिदास और 'कुमार' उसी काल में हुए होंगे।

कालिदास ने जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है, उनमें पुष्यमित्र, वसुमित्र और अग्निमित्र निश्चित् रूप से मिलते हैं। ये शुङ्ग वंश के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ सम्राट् थे। इनका काल ईसा पूर्व दूसरी शती है। परन्तु कालिदास का आश्रयदाता कुमार शुङ्ग वंश का नहीं था। शुङ्गोत्तर काल का था।

अश्वघोष प्रथम शती ईसवी के उत्तरार्द्ध और दूसरी शती के पूर्वार्द्ध में हुआ। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में, राजपुत्र गौतम जब पर्यटन के लिए बाहर जाते हैं, तब नागरिकों की हड़बड़ाहट का जो वर्णन किया है, उसका अनुकरण कालिदास ने कुमारसंभव (सर्ग ७, श्लोक ५७ से ६२) और रघुवंश (सर्ग ७, श्लोक ५ से १२) में किया है। अश्वघोष और कालिदास की भाषा-शैली भी एक-सी है। कालिदास अश्वघोष के बाद हुए होंगे, ऐसा जान पड़ता है। कुछ विद्वान् इससे उलटे अश्वघोष को कालिदास का अनुकरण करनेवाला मानते हैं।

कालिदास का विष्णुपुराण से परिचय रहा होगा। क्योंकि उसमें राम की पहली चार पीढ़ियाँ दीर्घबाहु, रघु, अज और दशरथ दी हैं। वाल्मीकि रामायण में ययाति, नाभाग, अज और दशरथ कही गई हैं। कालिदास ने दाक्षिणावर्त-नाथ और अरुणाचलनाथ के य में जो विष्णुपुराण का उद्धरण दिया है—"मूलकाद् दशरथः तस्माद् दिलीपः ततश्च विश्वसहः तस्माच्च खट्वांगो दिलीपः खट्वांगाद् रघुरभवत् रघोरजः अजाद् दशरथः।" यही क्रम कालिदास ने अपनाया है। मालवे में उज्जयिनी के शक क्षत्रियों का राज्य ३८८ ईस्वी के करीब नष्ट हुआ। वे शैव थे। परन्तु कालिदास का आश्रयदाता कोई वैष्णव रहा होगा। इससे उलटे कुछ विद्वान् कालिदास को शैव मानते हैं।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र में भास को पूर्वकवि माना है। भास के आज उपलब्ध तेरह नाटकों में से प्रतिमा, अविमारक, अभिषेक, बालचरित और स्वप्नवासवदत्ता कालिदास के पूर्ण परिचय के नाटक थे। भास कवि का समय ईसा की चौथी शती है। मन्दसौर के ४७३ ईस्वी के शिलालेख में कालिदासी कल्पना है। इसलिए कालिदास का काल पाँचवीं शती होगा, ऐसा कुछ विद्वानों को जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भगवतशरण उपाध्याय के अंग्रेजी ग्रन्थ 'इण्डिया इन कालिदास' के अन्तिम परिशिष्ट 'दि डेट आफ कालिदास' में मिलता है। माधव केशव काटदरे की खोजों के अनुसार कालिदास कुमारगुप्त का आश्रित था और कालिदास का काल ३८२ ईस्वी से ४६७ ईस्वी तक रहा होगा।

कालिदास उपाधि वाले अन्य कई कवि हुए। एक कालिदास के विषय में काशिनाथ कृष्ण लेले 'भोज राजा उसका आश्रयदाता था' ऐसा मानते हैं। नवसाहसांक काव्य की भाषा-शैली से उसका कर्ता पद्मगुप्त इस उपाधि से विभूषित रहा होगा—ऐसा माना जाता है। उस समय भोजदेव के दरबार में छत्तप नामक एक प्रसिद्ध कवि था। तब कुछ विद्वान् इस छत्तप को ही कालिदास मानते हैं। इस कालिदास का निचुल कवि से बड़ा स्नेह था। मल्लिनाथ की मेघदूत टीका में 'स्थानादस्मात्' नामक १४वें श्लोक में दिङ्नाग और निचुल शब्द देखकर इस बात की पुष्टि की गई है। परन्तु मेघदूतकर्ता कालिदास विक्रम के दरबार में ईसा की छठी शती में होगा, तो निचुल भोजराज के दरबार में ईसा की ११वीं शती में था। इस सम्बन्ध में 'नानार्थशब्दरत्न' नाम के एक कोशग्रन्थ पर निचुल कवि की तरला नामक व्याख्या उपलब्ध हुई है। इसके आरम्भ में निचुल कवि ने कहा है:

स्वमित्र कालिदासोक्त शब्दरत्नार्थजृम्भिताम्।
तरलाख्या लसद्व्याख्यामाख्याता तन्मतानुगाम्॥

और अन्त में है: "इति श्रीमन् महाराज शिरोमणि श्री भोजराज प्रबोधित निचुल कवि योगिचन्द्र निर्मातायां महाकवि कालिदासस्य नानार्थशब्दरत्नकोशदीपिकायां तरलाख्यायां तृतीयनिबन्धनम्।" (मद्रास गवर्नमेंट हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, सन् १९०६, पृष्ठ ११७५)।

कालिदास को जब हम महाकवि कहते हैं तो उसके काव्यगुणों की दृष्टि से, न कि उसकी रचनाओं की बृहदाकारिता से। 'महान्मतर्थराशिं कवयति स महाकविः'—यह प्रदीर्घ रचनावली सीधी कसौटी उनके बारे में सच नहीं है। गुणानुरूप और अवस्थानुरूप यह कवि कौन होता है, यह विस्तार से राजशेखर ने कहा है। गुण की दृष्टि से रचनाकवि, शब्दकवि, अर्थकवि जैसे ग्यारह प्रकार हैं और प्रत्येक का विशेष गुण बताया है। उनमें कभी कनिष्ठ, मध्यम और सर्वगुणयोगी महाकवि की श्रेणियाँ उसने की हैं। उसके अनुसार सर्वश्रेष्ठ कवि 'कविराज' होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार उत्कट रस का चैतन्य, जिनमें व्यक्त है, ऐसी पंक्तियाँ लेखनी से सहज प्रसूत करने की प्रखर प्रतिभा जिसके पास है, वही महाकवि कहलाता है। श्री समर्थ रामदास ने महाकवि के लिए 'कवेश्वर' शब्द प्रयुक्त किया है। उसमें भाषाप्रभुत्व और भगवद्भक्ति और अनुताप आवश्यक माना है।

कालिदास का भाषाप्रभुत्व असामान्य था, यह निस्सन्देह सच है। तभी जर्मन कवि गोएटे उनके शाकुन्तल को संसार के श्रेष्ठ आनन्ददायक ग्रन्थों में

से एक मानता था। शाकुन्तल का पहला अंग्रेजी अनुवाद सर विलियम जॉन्स ने किया और उसे शेक्सपीयर के तुल्यगुण सिद्ध किया। जर्मन विद्वान् हम्बोल्ड्ट ने लिखा है कि:

"प्रकृति-द्वारा प्रभावित प्रेमी लोगों के चित्त पर जो भाव अङ्कित होते रहते हैं, उन भावों को व्यक्त करने में शकुन्तला के प्रसिद्ध रचयिता कालिदास बड़े ही सिद्धहस्त हैं। भाव-व्यक्त करने मे जो मृदुलता उन्होंने दिखलाई है और रचनात्मक कल्पना की जो बहुलता का परिचय उनमें मिला है, उससे संसार के कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा हो गया है।"

उनके शब्द-शिल्प के सर्वोत्तम प्रमाण हैं उनकी उपमाएँ और सूक्तियाँ। उपमाओं के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं—"कुश से कुमुद्वती के अतिथि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ; जैसे रात्रि के पिछले भाग में बुद्धि विशेष निर्मल होकर जागृत रहती है।" या "अगस्त तारे के पास सूर्य आ जाने के कारण हिमालय पर हिम ऐसे गलने लगी मानो आनन्द-शीत के अश्रु हो।" शकुन्तला को अनसूया और प्रियम्वदा के बीच में देखकर दुष्यन्त को ऐसे लगा "मानो दो विशाखा नक्षत्रों के बीच में चन्द्रकला हो।"

और सूक्तियो का तो कालिदास जैसे खज़ाना है:

सज्जन के लक्षण:

निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः।
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥

(उत्तरमेघ)

'सज्जन लोग उन्हीं को कहते हैं जो याचक की अभिलाषा का उत्तर केवल वाचालता से नहीं, पर अभिलाषा-पूर्ति से करते हैं। जैसे चातक की प्यास को मेघ न गरजते हुए तृप्त करते हैं।'

कृतज्ञता:

न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय।
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥

(पूर्वमेघ)

'साधारण मनुष्य के पास भी यदि कोई मित्र जाय तो वह उसके पूर्व उपकार स्मरण करके यथासम्भव सहायता करता है और विमुख नहीं होने देता। और मन से बड़े आदमी का फिर क्या कहना!'

मित्र-महिमा :

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥

(कुमारसंभव)

'पुरुष का प्रेम पत्नी पर निश्चल नहीं होता, परन्तु सच्चे मित्र पर प्रेम अचल होता है।'

शरणागत-रक्षा :

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने।
ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥

(कुमारसंभव)

'क्षुद्र जाति का और गुणहीन मनुष्य भी यदि शरण में आये तो सज्जन लोग उसे उतना ही प्रेम सिखाते हैं जितना उच्चकुलोत्पन्न गुणवान मनुष्य पर।'

आदर्श-सती :

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

(रघुवंश)

'जब राम गर्भवती सीता को वन में भेज देते हैं तब लक्ष्मण के हाथ वह संदेश भेजती है कि सब देवता, वानर और राक्षसों के सामने अग्नि-परीक्षा में शुद्ध होने पर भी अब मेरा त्याग आप करते है, यह क्या आपके कुल को सुहाता है? 'आप बुद्धिमान हैं, जो कुछ आपने किया वह सोंच समझ कर ही किया होगा। मुझे लगता है कि यह वज्राघात मेरे पूर्व-जन्म के पापों का ही फल है। इसलिए मैं प्रसूति तक सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तपस्या करूँगी। इसका फल होगा कि अगले जन्म में मेरा आपका वियोग नहीं होगा।'

प्राध्यापक म० अ० मेहदले ने कालिदास की प्रतीक-योजना पर कुछ लेख लिखे हैं। उनके अनुसार शाकुन्तल में हिरन का प्रतीक महाकवि ने विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है। वैखानस जब नाटक के आरम्भ में राजा से कहता है कि—'यह आश्रममृग है, तुम इसे न मारो' तब उसमें मानो कालिदास यह अन्योक्ति से कहना चाहता है कि "शकुन्तला आश्रमकन्यका है, तू उससे अस्थिर प्रणय का प्राणलेवा खेल मत खेल!"

इसी प्रकार से उस समय के राजा के लिए कालिदास ने भ्रमर का प्रतीक प्रयुक्त किया है। शकुन्तला नाटक के पहले अंक में सखियों सहित शकुन्तला

फूलों के चिन्तन में मग्न है। एक भ्रमर उसके मुख के पास मँडराने लगता है। उसकी आँखों, कपोलों और अधरों तक को यह भ्रमर स्पर्श करता है। इस भ्रमर-बाधा के बाद ही राजा वहाँ शकुन्तला के सामने प्रकट होता है। तीसरे अंक में राजा ने खुद अपनी तुलना भ्रमर से की है। अनसूया, प्रियम्वदा हट गई हैं और राजा शकुन्तला से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव करता है, और बाद में किसी ताजे फूल से जैसे भ्रमर रस लेता है, वैसे मैं तुम्हें ... आदि कहता है। पाँचवें अंक के प्रारम्भिक श्लोक में राजा की हंसपदिका नामक रानी राजा को भ्रमर कहती है। पुरानी रानी वसुमती राजा को अब प्रिय नहीं है, जैसे भ्रमर आम्रमंजरी को छोड़कर कमल में रहने लगता है। इसी पाँचवें अंक में पुनः जब गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन दूर करती है, तब राजा कहता है: "मेरी स्थिति कुन्दकलिका के आस-पास मँडराने वाले भ्रमर की तरह से है।" षष्ठ अंक में विदूषक के मुख से कालिदास ने कहलवाया है: "हे मधुक! यह एक कुञ्ज पर अनुरक्त मधुकरी फूल पर बैठी तेरी राह देख रही है। यह प्यासी है, फिर भी तेरे बिना वह फूल का रस नहीं पीती। उस मधुकर की ओर न जाकर स्वयं उस शकुन्तला के पीछे क्यों तू भटकता है?" और वही विदूषक अन्त में एक स्थान पर कहता है: "यह राजा और यह भौंरे! दोनों स्वभाव से टेढ़े जायेंगे। उनका निषेध करने पर भी वे अपना हठ नहीं छोड़ेंगे!" कालिदास जैसे महाकवि के स्पर्श मात्र से प्रकृति के हिरन, भ्रमर जैसे साधारण आलंबन कैसे कुन्दन बन जाते हैं, और अधिक अर्थपूर्ण जान पड़ते हैं, यह दर्शनीय है।

यह तो हुआ कालिदास का व्यक्तित्व और कला-पक्ष, अब युग-पक्ष देखें। जैसे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि तथा आलोचक टॉमस स्टर्न इलियट ने 'वॉट इज़ ए क्लासिक?' नामक वर्जिल सोसायटी के भाषण में कहा है कि महाकाव्य में युग का चरण व कलाकार का चरण एकाकार होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के युग का वर्णन जान लेना आवश्यक है।

श्री पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार महाकवियों को समझने के लिए उनके परिवेश से, उनके समय की परिस्थितियों से परिचित होना आवश्यक होता है। परन्तु बड़े खेद की बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के अधिकतर उज्ज्वल रत्नों के काल के सम्बन्ध में हम गम्भीर अन्धकार में पड़े हुए हैं। महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष रूप से लागू है।

कालिदास के समय भारतवर्ष में या उत्तर भारत में कोई अखण्ड विस्तृत साम्राज्य नहीं था, देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। प्राचीन साहित्य

के चक्रवर्ती राजा का परिज्ञान कालिदास के समय वर्तमान था। मगध साम्राज्य की स्मृति भी नहीं मिटी थी। इसलिए रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयम्वर के अवसर पर धात्री सुनन्दा मगधराज के सम्बन्ध में कह रही है :

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रह - संकुलापि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसेव रात्रिः॥

'अवश्य ही इसके अतिरिक्त हजारों राजा हैं; परन्तु इनके कारण ही पृथ्वी को राजयुक्त कहते हैं। रात्रि में असंख्य नक्षत्र, तारा और ग्रह होने पर भी चन्द्रमा ही के कारण वह उज्ज्वल कहलाती है।'

इस समय भारतवर्ष के बाहर उत्तर पश्चिम देश में यवन अर्थात् ग्रीक उपनिवेश का कुछ अवशेष रह गया था। इसलिए रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में पारस देश जाते समय रघु ने यवन स्त्रियों का सौभाग्य हरण किया, (यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः) ऐसा कहा गया है। जल-पथ से भी यवनों से सम्बन्ध रहा। इस समय अलक्सेंद्रिया से जहाज माल लेकर अरब समुद्र के रास्ते भृगुकच्छ (भरोच) आते थे, जहाँ से उज्जयिनी तक सड़क आती थी। इस व्यापार के सम्बन्ध में ग्रीक ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान उज्जयिनी में पहुँच गया था, और बाद को उज्जयिनी से पाटिलपुत्र (पटना) तक फैल गया। कालिदास अपने ग्रन्थों में पाश्चात्य ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान प्रकट करते हैं। कुमारसंभव के सप्तम सर्ग के प्रथम श्लोक में ग्रीक शब्द "दियामेत्रन" के आधार पर "यामित्र" शब्द का प्रयोग मिलता है। वाणिज्य के क्रम में यवन दासियाँ भी भारतवर्ष में मँगाई जाती थीं। 'शाकुन्तल' के द्वितीय अंक में हम राजा दुष्यन्त को वन-पुष्पमाला-धारिणी यवन-स्त्रियों से घिरा हुआ पाते हैं (वन-पुप्फमालाधारिणीहिं जवणीहिं परिवुदो) इसी मार्ग से पाश्चात्य देशों में भारतवर्ष से सूक्ष्म वस्त्र प्रभृति विलास की सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में जाती थीं। इस समय बृहत्तर भारत के द्वीपों से लवंग इत्यादि मसाले भारतवर्ष में आते थे ("द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैराकृतस्वेदलवा मरुद्भिः")। भारतवर्ष के बाहर उत्तर में वक्षु नदी के किनारे हूण जाति का आगमन हो चुका था, जिसका उल्लेख कालिदास रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में करते हैं। चीन इतिहास से पता चलता है कि ईसा पूर्व पहली सदी में हूण लोग वहाँ पहुँच चुके थे। देश में अखण्ड साम्राज्य न होने पर भी शान्ति थी, कवि को सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त था और देश के बाहर अन्य देशों के और वहाँ के लोगों

के विषय में पर्याप्त ज्ञान भी था। इस कारण एक उदार-भावना की मुद्रा कालिदास के सब ग्रन्थों में पाई जाती है।

गिरिधर शास्त्री के शब्दों में कालिदास के अनुसार राजा कैसा हो, यह देखिये :

कालिदास नहीं चाहते कि उनके राजा केवल मृगया-व्यसनी, द्यूत निरत, मद्य एवं स्त्री-लोलुप होकर राष्ट्र-रक्षण की अपेक्षा राष्ट्र-भक्षण में अधिक प्रवृत्त होने लगें। इन्द्रियजयी नृप का चित्रण करते हुए वे कहते हैं :

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥

राजा के लिए इन्द्रिय-दमनशील होना सर्वप्रथम आवश्यक है। जो राजा कामक्रोधादि प्रबल शत्रुओं को वश में नहीं रख सकता, वह अपने बाह्य शत्रुओं का दमन नहीं कर सकता :

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद् रिपून्॥

व्यसनी राजा प्रजा का कल्याण नहीं कर सकते। राजा प्रजा के लिए आदर्श होता है। जिस राजा में आदर्श का पतन हो जाता है, वह प्रजा को प्रभावित नहीं कर सकता। सीता-परित्याग में राम ने उचित किया हो या अनुचित, परन्तु कालिदास की दृष्टि में राम के सामने एक ही लक्ष्य था :

लोकापवादो बलवान्मतो मे।

राम सब कुछ सह सकता है पर वह लोकनिन्दा नहीं सह सकता। सिंहासनासीन राजा के लिए यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रतिक्षण अपने कर्तव्य में सावधान रहे। कालिदास ने इस कर्तव्य का निदर्शन एक परम लघु पर परम सारगर्भित वाक्य में कर दिया है :

अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः (शाकु०)

जो शासक है वह अपने आराम अथवा विश्राम का ध्यान नहीं रख सकता। उसके लिए एक यही जीवन का लक्ष्य हो जाता है कि वह निरन्तर अपने कर्म एवं विचारों को प्रजा के हित में प्रयुक्त करता रहे :

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।

उसके देश में कोई भी आपत्तिग्रस्त न हो और वह सदा प्रत्येक प्रजाजन के दुःख को दूर करने में लगा रहे :

आपन्नस्य विषयवासिन आर्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम् ।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में इस भावना का जैसा मनोहर विकास किया गया है, वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। जब सिंह दिलीप से कहता है कि एक गौ के लिए तुम अपने एकछत्र राज्य और अद्वितीय कान्ति सम्पन्न शरीर की व्यर्थ बलि क्यों दे रहे हो :

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

तो दिलीप उत्तर देते हैं :

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्यशब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥

जब कोई सबल किसी निर्बल पर वार कर रहा हो उस समय क्षत्रिय का यह धर्म हो जाता है कि वह अपने प्राणों की आहुति देकर सबसे पहले उस निर्बल की रक्षा करे।

राजा यदि प्रजा से कर लेते हैं तो वह इसलिए नहीं लेते कि उसके द्वारा वे अपनी कामचारिता की पूर्ति करें। भारतीय राजनीति में कर लेने का एक-मात्र शोधन यही है कि एक लेकर उसके बदले में हज़ार दिये जाने का लक्ष्य सामने रहे :

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।

मेघ यदि सागर से जल लेते हैं तो वह अपने लिए नहीं, अपितु तृषित धरा की तृप्ति के लिए ही उसका उपयोग करते हैं :

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।

राजाओं के इन प्रजा-हितकारी कार्यों का ही यह प्रताप था कि प्रतिक्षण प्रजाजन उनका अभिनन्दन करते थे :

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।

और उनके स्वागत में समस्त नगर को सजाते थे।

प्रजा-कल्याण की यह भावना केवल राजाओं में ही नहीं, अपितु उनकी महारानियों में भी सर्वप्रधान रहती थी—

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः ।

जो कालिदास को केवल सामन्ती कवि मानते हैं, उन्हें यह बात ध्यान से पुनर्विचार करने लायक जान पड़ेगी।

राजशेखर

: ५ :

राजशेखर का सट्टक

हिन्दी में भारतेन्दु ने इस प्राकृत सट्टक का अपूर्ण अनुवाद किया है। उसे पढ़ कर, और जानने की जिज्ञासा हुई।

मागधी, शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री—ये प्राकृत के चार विभेद हैं। वररुचि ने (ईसा पूर्व ३८०) जब अपना व्याकरण रचा, तब महाराष्ट्री प्राकृत में अनेक भेद रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है। दंडी ने 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः' कहा। वररुचि ने प्राकृत के भेद बताते समय 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' कहा है। कुछ लोगों के अनुसार वैदर्भी भी महाराष्ट्री ही थी। शातवाहन-काल में महाराष्ट्री प्राकृत का जनपदों में प्रचलन था। जैसे ब्राह्मण-राज्य के ह्रास के साथ-साथ संस्कृत शिथिल हुई, बौद्धों के पतन के साथ प्राकृत भी धीरे-धीरे पतनशील बनी। ईसा की ग्यारहवीं सदी तक राष्ट्रकूट, नल, मौर्य, कदंब और चालुक्य राज्य महाराष्ट्र में फैले थे। शालिवाहन राजा कवि-वत्सल थे और उन्होंने प्राकृतों को प्रश्रय दिया था।

महाराष्ट्री प्राकृत के चार ग्रन्थ प्रख्यात हैं :

१. 'सप्तशती' या 'गाहा'। इसका लेखन बोटि 'चुल्लहा, मकरन्द सेन और हाल शालिवाहन ने किया। सात सौ आर्याबद्ध मुक्तकों का यह शृङ्गार-परक ग्रन्थ है। श्री० ना० बनहट्टी ने इसे महाराष्ट्र का प्रथम जनपद-काव्य माना है।

२. प्रवरसेन का 'सेतुबंध काव्य'।

३. 'गौडवहो'।

४. राजशेखर का सट्टक 'कर्पूरमंजरी'।

राजशेखर राजा ईसा की सातवीं शती में हुआ। माधव ने 'शंकर-विजय' में

कहा है कि यह केरल-क्षितिपाल, राजशेखर तथा शंकराचार्य का समकालीन था परन्तु यह बात बहुत विवादास्पद है। बालरामायण में महेन्द्रपाल के वर्णन के आधार पर फ्लीट ने राजशेखर का काल ई० ७६१ माना है। बालभारत में महोदय अथवा कान्यकुब्ज देश का उल्लेख है। वहीं के राजा महेन्द्रपाल का यह मन्त्री होगा, ऐसा माना जाता है। वेवर और भांडारकर के मत से राजशेखर दसवीं शती में हुआ होगा; विलसन दसवीं-ग्यारहवीं शती के मध्य में राजशेखर का काल मानते हैं। मैक्सम्यूलर राजशेखर को चौदहवीं शती तक खींच लाये हैं। नार्वे के स्टेन कोनो के अनुसार राजशेखर का काल ८८४ से ९५९ ई० के बीच है। ग्यारहवीं शती के क्षीरस्वामी ने राजशेखर का उल्लेख किया है जिससे मैक्सम्यूलर का मत ग़लत जान पड़ता है। राजशेखर ने 'रत्नाकर' और 'आनंद-वर्धन' कवियों का उल्लेख किया है। ये कवि नवीं शती में हुए। इतिहासकार स्मिथ का मत है कि राजशेखर आठवीं शती के अन्त में और नौवीं शती के आरम्भ में हुआ होगा। जैनधर्मी सोमदेव का 'यशोतिलक' ग्रंथ ९६० ई० में प्रख्यात हुआ था और इस कवि ने राजशेखर का उल्लेख किया है।

कुछ लोग राजशेखर को चेदि-देश-निवासी कहते हैं। परन्तु अब, भवभूति और राजशेखर महाराष्ट्रीय कवि थे, यह प्रायः निश्चित माना जाता है। राज-शेखर ने स्वयं को 'महाराष्ट्र-चूड़ामणि' कहा है। विद्धशाल-भंजिका तथा बाल-रामायण ग्रन्थों से, वह चेदि-निवासी था, ऐसा जान पड़ता है। बाद में वह कन्नौज में गया। 'राजाम् शेखर' यह विग्रह अनुचित है, 'राजानाम् चन्द्रः शेखरः यस्य' यही बहुव्रीहि अधिक उचित जान पड़ता है। स्वयं 'कर्पूरमंजरी' की भूमिका में 'बालकवि कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः', ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। कर्नाटक की तरुणियों के कुन्तलाभरण का वर्णन, लाटदेशीयों की सुख-लोलुपता का उल्लेख, कावेरी ताम्रपर्णी नदियों के वर्णन आदि उसकी रचना में मिलते हैं। परन्तु उनसे कवि का देश निर्धारित करना उचित नहीं। राजशेखर की जाति क्या थी, यह भी विवादास्पद है। 'निर्भय राजा का वह उपाध्याय था,' ऐसे उल्लेख हैं। 'कर्पूरमंजरी' में 'चाहूवान कुल मौलिमालिका राजशेखर कवीन्द्र-गेहिनी' ऐसा परिपार्श्वक कहते हैं—चौहान कुल की क्षत्रिय स्त्री क्षत्रिय की ही गृहिणी बने! सारांशतः, राजशेखर का देश, काल, जाति, सभी कुछ अनिश्चित-सा है।

अनेक उल्लेखों से पता चलता है कि यह कवि शैवपंथीय यायावर ब्राह्मण था। वह कन्नौज में जाकर रहा। उसके पिता का नाम महामन्त्री दर्दूक अथवा

: ६ :

कबीर

संतों की वाणी युग-युग के लिए होती है, ऐसा माना जाता है। आज के युग में कबीर के वचन पढ़ने से हमें कौन-सा संदेश मिलता है, वह कबीर के ही शब्दों में अर्थ सहित नीचे दिया गया है। आज वह युग आ गया है जब राजनीति को धर्म से सर्वथा पृथक् करना और रखना आवश्यक है। अन्यथा लोकराज और प्रजाराज का पुनः सामंती या एकतंत्री फासीवाद की ओर झुक जाना सहज संभव है। हमें धर्म और संस्कृति इन दो शब्दों में आज मुगालता नहीं करना है। नहीं तो हम सभी प्राचीन संस्था और रूढ़ियों को सनातनियों की भाँति हृदय से चिपटाये रह जायेंगे। इससे बढ़कर अनर्थ नहीं हो सकता। अतः हम धर्म के असली रूप को पहचानें। धर्म की टट्टी की ओट शिकार करने वाले आज कई अधर्मी पैदा हो गये हैं।

कबीर कहते हैं :

नगन फिरत जौ पाइए जोगु।
बन का मिरगु मुकति सबु होगु॥
किया नागे किया बाधे चाम।
जब नहिं चीनसि आतमराम॥
मुण्ड मुड़ाए जो सिधि पाई।
मुकती भेड न गईआ काई॥

'नंगे फिरने से जो योग मिलता तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते। नंगे रहने या मृगछाला आदि बाँधने से क्या होता है—जब तक आत्माराम नहीं

चीन्हा, तब तक इससे क्या ? मूँड मुँड़ाकर ही जो सिद्धि पा जाते तो इतनी भेड़ें क्यों न मुक्ति की ओर चली गईं ?'

कबीर ने इस पद मे भेड़ियेधसान की, ढोंग-धतूरे की, धर्म के कर्मकांडित्व की निन्दा की है। 'संधिआ प्रात इस्नानु कराही, जिस भए दादुर पानी माही'—'जो प्रातः संध्या स्नान करने से राम की प्राप्ति सहज समझते हैं, तो वे पानी के मेंढक के समान हो गये हैं।'

कबीर अछूतों की ओर से सम्पूर्ण आत्मविश्वास और दृढ़ता से पूछता है :

गरभवास नहिं कुल नहिं जाती।
ब्रह्म बिंदु ते सभु उतपाती॥
कहु रे पंडित बामन कब के होए।
बामन कहि कहि जनमु मत खोए॥
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद।
हम कत लोहू तुम कत दूध॥

'गर्भवास में न तो कुल होता है, न जाति। सभी उत्पत्ति ब्रह्म-बिंदु से है। कह रे पंडित, तू ब्राह्मण कब से हुआ ? ब्राह्मण कह-कहकर अपना जन्म मत खो। तुम कहाँ के ब्राह्मण और हम कहाँ के शूद्र हैं ? हम क्या लोहू से बने और तुम क्या दूध से ?'

नाजियों ने जब यहूदी वैज्ञानिकों को अपने झूठे आर्यत्व के अभिमान में जर्मनी से देश-निकाला दे दिया, तब उन्होंने जर्मन शुद्ध आर्य-रक्त और यहूदी-रक्त की रासायनिक परीक्षा कर यह सिद्ध कर दिया कि यह शुद्ध रक्तवाली बात सबसे बड़ा झूठ है। मानवजाति का रक्त एक-सा है—हाँ, बीमारों का रक्त खराब हो सकता है, लेकिन बीमार तो सभी जातियों में होते हैं। यह कहना कि हम शुद्ध संदीपन ऋषि के वंशज हैं, या हम उच्च भार्गव कुल के हैं; और अमुक व्यक्ति तो कोरी या बलई या अहीर या मेहतर या बसोर है, अतः उसका रक्त नीच कोटि का है—एक घोर अवैज्ञानिक बात है। यह पुरोहित-शाही कायम रखने की सदियों की साजिश थी, जिसका भंडाफोड़ कबीर और वारकरी संत और गांधी ने किया।

कबीर जैसा 'रैशनॅलिस्ट' (विवेकवादी) मिलना मुश्किल है। उसने स्मृतियों पर बहुत अधिक ध्यान देनेवाले हठवादियों से कहा—'भाई, स्मृति तो वेद की पुत्री ही है। लेकिन यही हमें और तुम्हें बाँधने के लिए साँकल और

रस्सी ले आई है। इस तरह अपना नगर तूने खुद बाँध रखा है। यह स्मृति का बन्धन काटे नहीं कटता; टूट तो सकता ही नहीं। उसने सर्पिणी बनकर इस संसार को खा डाला, उसने हमारे देखते सारे जग को लूट लिया।'

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने भी हमारी चेतना देश-काल की परिमा (कैटेगरी) से कैसे आबद्ध है, यह सिद्ध किया था। जब तक 'स्मृति' (कांशसनेस) है, तब तक यह तन्मात्राएँ—अहं, बुद्धि आदि विकारों से छुटकारा कैसा? इसी से कबीर कहते हैं—'न इस मन का कोई रूप है, न कोई रेखा है। इसी से यह मन बड़ा है या वह जिसमें मन अनुरक्त है?'

कबीर को ऐसे ढोंगी धर्म से नफरत है, जिसमें 'जीवत पितर न मानै कोऊ मूएं सराध कराही' और 'माटी करि देवी देवा तिनु आगे जीउ देही!' इस प्रकार रूढ़ धर्म पर सीधी चोट करने से कबीर को निन्दा का भाजन बनना पड़ा। सभी संतों को, कम-अधिक मात्रा में, इस प्रकार की टीका-टिप्पणी सहनी पड़ी है। 'निंदक बाबा बीर हमारा'—नामदेव ने कहा; तुकाराम ने—'निंदकाचे घर असावे शेजारी'; और मीरा ने—'बदनामी लागै म्हने घणी मीठी री!' इमर्सन ने इसीलिए कहा था कि 'टु बी ग्रेट इज टु बी मिसअंडरस्टुड'—महत्ता के साथ-साथ गलत समझे जाना भी स्वाभाविक है। 'महात्मा' के प्रति आज कितनी गलतफहमियाँ अपने ही लोगों में फैली हुई हैं, विदेशियों की कौन कहे? सो कबीर कहते हैं—'निन्दा करै सु हमरा मीतु।'

बनारस के बारे में कबीर के पद बहुत व्यंग्यात्मक हैं। कहीं-कहीं काशी की स्तुति भी है। कहते हैं—'अब कहु राम कौन गति मोरी, तजि लै बनारस मति भई थोरी।' और 'आस-पास घन तुरसी का बिरुआ माझि बनारस गाऊँ रे। उहा का सरूपु देखि मोहि गुवारनि;' परन्तु काशी के ढोंगियों का भंडाफोड़ भी देखिये, और एल्डस हक्स्ले की भारत-यात्रा में कही हुई बात फिर मन में दुहरा लीजिये कि 'दि होलियर दि प्लेस, दि डर्टियर इट इज' (जितना ही अधिक पवित्र स्थान, उतनी ही अधिक गन्दगी!)

कबीर कहते हैं:

गज साढ़े तै तै धोतिआ तिहरे पाइनि तग।
गलो जिन्हा जप मालिआ लोटे हाथ निबग।
ओइ हरी के सन्त न आखि अहि बनारसि के ठग।
ऐसे सन्तन मो कउ भावहि।
डाला सिव पेड़ा गटकावहि॥

'साढ़े तीन-तीन गज की धोतियाँ और तिहरे तागे पैरों तक पहने हुए, गले

में जयमाला, हाथ में लोटा—इन्हें सन्तान कह कर बनारस के ठग कहना चाहिए। मुझे ऐसे सन्त अच्छे नहीं लगते जो टोकनी भर-भर कर पेड़े गटक जाते हैं। ये सन्त बरतन माँज कर खाना खाते हैं; लकड़ी धोकर जलाते हैं। पाप करते समय यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं, ताक-झाँक करते हैं और वैसे पवित्र इतने बनते हैं कि मुख देखते ही वे छूत मान लेते हैं!'

कबीर का सबसे बड़ा सन्देश था हिन्दू-मुस्लिम एके का। वे पूछते हैं कि :

हिन्दू तुरक कहा के आये, किनि एह राह चलाई?
दिल माहि सोच-बिचारि कयादे भिस्त दोजक किनि पाई?
काजी तै कवेन कतेब बखानी।
पढ़त गुनत ऐसे संभारे किनहूँ खबरि न जानी।

'हिन्दू-मुसलमान अलग-अलग कहाँ से आये? और किसने यह पंथ चलाया? ऐ मूर्ख, अपने हृदय में विचार कर कि बहिश्त और दोजख किसने पाया? ऐ काजी, तूने किस कुरआन का उपदेश दिया है? तूने पढ़ते-गुनते हुए लोगों को ऐसा भरमा दिया कि उन्हें अपने विनाश का पता ही न चल पाया।'

'और वह बिल्कुल 'कामनसेन्स'—सर्वसामान्य बुद्धि से पूछ बैठता है—'सुन्नत किये तुर्क जे होइगा औरत का क्या करिये?'

लखनऊ निवासियों को कबीर का यह पद ऐसे जान पड़ेगा जैसे कोई शान्ति-सभा में व्याख्यान दे रहा हो—हज्ज हमारी गोमती तीर—'हमारी हज तो गोमती के किनारे है, फिर हिजरत करने से क्या फायदा?'

जो हिन्दुत्वाभिमानी बिहार की टेक्स्ट बुकों में बेगम सीता और पीर वसिष्ठ पर सख्त नराज थे, वे जरा कबीर की इस बानी को गौर से पढ़ें और स्व० अब्दुलबारी के शिक्षा-क्रम को कोसनेवाले हिन्दी भाषा के गौरव कबीर के अमर आसन को डिगाने की कोशिश कर देखें! कबीर कहते हैं—'जहाँ बसहि पीतंबर पीर'''नारद सारद करहिं खवासी, पास बैठि बीबी कवलादासी···हिन्दू तुरक दोऊ समनावऊ कहत कबीर रामगुन गावहु!'

ऐसा जान पड़ता है कि कबीरचौरे के अपने मठ में बैठा हुआ यह महात्मा कोई प्रार्थना-सभावाला भाषण दे रहा हो। फर्क इतना ही है कि कबीर जब बोलता था, तब देश में मुस्लिम राज था, आज वह कट कर अलग राष्ट्र बन चुका है। फिर भी कबीर ने काजी को मुखातिब कर ऐसी खरी-खरी सुनाई है, जैसे कोई इस समय का बुद्धिवादी धर्म-सुधारक कह रहा हो—

'ऐ काजी, तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बनता। हम तो ईश्वर के सेवक हैं (ईश्वर से तात्पर्य जनता) और तुम्हारे मन को राजसी बातें भाती हैं। धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी। तू रोजा रखता है, नमाज पढ़ता है, मगर सिर्फ कलमा पढ़ने से स्वर्ग (जन-जन की मुक्ति) की प्राप्ति नहीं होती ? नमाज का अर्थ है न्याय-विचार और कलमा का अर्थ है अबल को जानना...मारने का अहंकार जरा कम कर। मिट्टी एक ही है, उसी ने अलग-अलग रूप ले रखे हैं। तूने स्वर्ग छोड़ कर नरक (फाशीवाद) से अपने मन को सन्तोष दिया है।'

और एक पद में—'तू रोजा रखता है, अल्लाह को मानता है, फिर भी अपने मतलब के लिए जीवों का नाश करता है। तू केवल अपना स्वार्थ देखता है, किसी दूसरे के हित को नहीं। इस तरह फिजूल तू क्यों झख मारता है ? ऐ काजी, 'साहब' तो एक है, वह तेरा है और तुझी में है।'

कबीर पुकार कर कहता है—'हिन्दू और मुसलमान दोनों में वह एक ही है।' उसने एक पद में यहाँ तक कहा है—'हे भाई, वेद और कुरान सब झूठे हैं। इनसे हृदय की चिन्ता नहीं जाती।' और एक भजन में 'मन को मक्का कर और शरीर को किबला...हिन्दू और मुसलमान का स्वामी एक ही है, उसके लिए मुल्ला क्या करे और शेख क्या करे ?' 'जिसके दिल में खलल हो जाता है, वह कुरान छोड़कर शैतान के वश में होकर कार्य करने लगता है।' 'यदि अल्लाह एक मसजिद में ही निवास करता है तो शेष मुल्क पर किसका राज है ?'... कहा जाता है, दक्षिण में (हिन्द यूनियन में) हरि का निवास है, और पश्चिम में (सिन्ध सरहंद आदि में) अल्लाह का स्थान है; किंतु अपने हृदय में खोज, प्रत्येक हृदय में खोज, तुझे हर स्थान पर उसका निवास मिलेगा।'

'उसका' से हम तात्पर्य 'शोषित जनता' से लें, क्यों कि परमात्मा भी वहीं बसता है, जहाँ सर्वाधिक दुख हो। इन नारकीय अत्याचार करनेवाले झूठे मुसलमानों से कबीर कहता है—'वजू करके तुमने क्या निज को पवित्र किया ? और क्या मुँह धोया और क्या मसजिद में सिर नवाया है ? जब तुम्हारे हृदय में कपट है तो तुमने क्या नमाज पढ़ी और क्या तुम हज के लिए काबा गये ? तू बिल्कुल अपवित्र है, क्योंकि तुझे परम-पवित्र (मानव-मानव में परिव्याप्त तत्त्व) नहीं दिखाई दे रहा है !' अतः

बुत पूजि-पूजि हिन्दू मुए, तुरक मुए सिरु नाई।
ओई ले जारे, ओई ले गाड़े, तेरी गति दुहू ने पाई॥

झूठे नेताओं पर और सुधारकों पर कबीर ने जो मुण्डियों के प्रति वचन कहे हैं, वे कैसे चस्पा होते हैं, देखिए—'लड़की और लड़कों के खाने के लिए कुछ भी नहीं है। हाँ, ये मुण्डिया जरूर प्रतिदिन सन्तुष्ट किये जाते हैं। हम लोग तो जमीन पर विस्तर डालकर सोते हैं और इन लोगों के लिए खाट का प्रबन्ध हो जाता है। ये लोग सिर धोकर कमर में पोथी बाँध लेते हैं, बस, इसी बात पर तो ये लोग मेरे घर में रोटी खाते हैं और हमें चबेना ही मिलता है। इन मुण्डियों ने हमें डुबोने की ठानी है।'

आज के दुखों का निदान भी कबीर के शब्दों में हम पा सकते हैं—'ऐ पागल, तूने दीन-दुखियों को भुला दिया, तू अपना पेट भरता रहा और पशु की भांति सोया।' 'निर्धन को कोई आदर नहीं देता। वह लाख यत्न करे, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। यदि निर्धन धनवान के पास जाता है तो निर्धन को आगे बैठा देख कर धनवान पीठ फेर कर बैठ जाता है।' 'इस शरीर-रूपी गाँव में आत्मा महतो हैं। इस गाँव में पाँच किसान हैं। यह सब महतो को नहीं मानते। चेतू नाम का कायस्थ (पटवारी) मुझसे क्षण-क्षण का लेखा माँगता है। जब धर्मराज मेरा हिसाब माँगता है, तो काफी बकाया निकालता ही रहता है। पाँच किसान तो भाग गये। यह बेचारा बाँध कर दरबार में ले जाया जाता है। दरबार भी उसी धर्मराज साहूकार का है। ऐसे तो खेत ही से मुझे अलग कर दो।'

और यह उक्ति किसी देशी राजा पर लगाकर देखिए—'तुम टेढ़ी पाग बाँध कर टेढ़े चले और पान के बीड़े खाने लगे! भक्ति-भाव (जन-सेवा) से (पीछे होके) कुछ भी सरोकार न रख कर कहने लगे कि काम ही मेरा दीवान है। स्वर्ग और महासुन्दरी स्त्री को देख-देखकर तुम सुख मानने लगे? लालच, झूठ और विकारों के महामद में तुम्हारी पूरी जिन्दगी ही व्यतीत हो गई!'

इसके बाद कबीर कहता है, 'अब तुम्हारे मनमानेपन का अन्त आ गया!'

इस प्रकार कबीर का नये सिरे से, प्रगतिशील दृष्टिकोण से, अध्ययन और अर्थ जानना आवश्यक है।

: ७ :

विद्यापति

विद्यापति हिन्दी के प्रसिद्ध शृङ्गारी भक्त-कवि हो गये हैं। उनकी कोमल-कांत पदावली के कारण उन्हें मैथिल-कोकिल भी कहा जाता है। उनकी पदावली में सखी, दूती, माधव और राधा शीर्षक से पद बंटे हैं। करीब ६०० पूरे पद उनके मिलते हैं। इस लेख में उनके 'सखी से सखी' नामक पदों की ही विशेषताओं की चर्चा करना चाहता हूँ। यह सखी राधा की सखी जान पड़ती है, कहीं यह बड़ी चतुर है और कहीं बहुत भोली। बहुतेरी बातें राधा या माधव के मुख से विद्यापति नहीं कहलाना चाहते थे, उन्होंने सखी के मुँह से कहलाई हैं।

२४वाँ और २५वाँ पद सखी से सखी का है, उसमें केवल सौंदर्य वर्णन है, यथा :

'धनि मुखमण्डल चाँद विराजित, लोचन खंजन भाँति।
मदन चाप जिनि भौंह लग, युग ठोरहि मोतिम पाँति॥

या

हस्ती गमन जकाँ चलइछि सजनि गे देखइत राजकुमारी।
जनिकर एहनि सोहागिनि सजनि गे पाओल पदारथ चारि॥

४०वें पद में राधा नहाकर लौट रही थी और राह में 'वो कान्ह' मिल गये। अब गुरुजन साथ थे और वह देखे कैसे? परन्तु गोरी भी अपूर्व चातुरी थी, अपना हार वहीं तोड़ कर फेंक दिया और मणि चुनने के मिस से कान्ह के मुख-चन्द्र के नयन-चकोरों के भी पूरे दर्शन कर लिए। ५८वें गीत में सखी सखी से कहती हैं—'आज कन्हाई इस बाट से आ गया। वेला बूझ न पड़ी—अचानक सोचते-सोचते नव कलेवर अपनी पराजय से स्तम्भित हो

गया। दर्शन और आनन्द-लीला के लोभी को लज्जा ने ग्रस लिया। जिस तरह बिजली की रेखा जलधर में गड़ जाती है, वैसे मन्दिर के बाहर सुन्दरी की स्थिति हुई।'

७५वें गीत 'चेतन चेतनगुपुति पिरीति पर कहहु न जाई' का वर्णन है तो अगले गीत में 'वह ही के पास आते ही मदन उसे छू गया, वह कैसे बांधने के मिस रुक गई। रमण भवन के पास फिर लौटकर देखने लगी, दृष्टि आई और सन्देश दे गई।' ७७वें गीत में फिर युवती के चरित्र की बड़ी विपरीतता है, 'उसका पार कहाँ तक पाया जाय? जो गुण निकेतन चेतन हो गया वह तो समझ जायगा, गंवार झूठ में ही पड़ा रहेगा। मुख पलटकर बाँकी चितवन से देखती है, कपट से मन्द चलती है।' 'दुइ मन मिलल ठाम अकुला प्रेम तरुआ कान्ह।' (जहाँ दो मन मिल गये वहाँ निश्चित प्रेम अंकुरित हो जाता है) आगे तो ७६वें गीत में यह शिकायत सखी सखी से करती है कि 'सपनेहु न पुरुस मनक साधे!' (सपने में भी मन की साध पूरी न हुई।)

११४वाँ गीत पुनः नाट्य गीतात्मक सम्वादात्मक है। ऐसे कुञ्ज में सब नगर मिले कि जहाँ सखिगण पहले से ही छिपी थीं, अतः 'दुहु दुहु वदन हेरि दुहु आकुल विद्यापति कवि गाई'—(दोनों के मुँह देखकर दोनों आकुल होते रहे, विद्यापति गाते हैं।)

१५०वें गीत में राय सिवसिंह (विद्यापति के आश्रयदाता) और लखिमादेवी के रमण का स्पष्ट उल्लेख है, अतः उसे चाहे तो छोड़ दें। १५१ में प्रश्न मिलन के संकोच का वर्णन है—'सूति रहिलि धनि सेजक ओर' (सखी जो कि एक ओर सोती रही!) वही प्रश्न 'मिलन' अगले पद में और स्पष्ट कर दिया है। उन्हीं के शब्दों में—

> छूइते पासि मलिन भइ गेलि। बिधु कोरे कुमुदिनि मलिन भेलि॥
> नहि नहि करु नयन झर नोर। शुति रहल राइ शयनक ओर॥
> आचर लइ बदन पर झाँपे। थिर नहिं होयत थर-थर काँपे॥

विद्यापति में बॉयरन की भाँति कविता में सजीवता रक्त-तत्व (ब्लड एलिमेंट) बहुत थोड़े शब्दों में चित्र खड़ा कर देने की क्षमता है। आज जीवन इतना कृत्रिम हो गया है, कि कविता भी रक्त-हीन (ऐनिमिक) होती जा रही है। परन्तु वैष्णव कवियों की धार्मिकता से चाहे हमारा मतभेद हो, उनकी काव्यकला के गुणों का हमें उचित आदर और प्रशंसा करनी ही चाहिए।

४७५ पृष्ठों की बड़े आकार की नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संकलित एवं संपादित १९१० में इंडियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित विद्यापति ठाकुर की पदावली में

'सखी से सखी के' यह दस-बारह गीत हैं। परन्तु इन गीतों में एक ओर जहाँ रूढ़ सखी कार्य का वर्णन है, वहाँ विद्यापति के पास की सामन्ती समाज व्यवस्था में इन बांदियों या सखियों का अपने स्वामी या स्वामिनियों के प्रेम-रस वर्णन के अतिरिक्त और कोई विषय या सुखदायक संलाप न था, यह भी व्यक्त होता है। नारी सुलभ संकोच भी वे अपनी चर्चाओं में नहीं रखतीं। जान पड़ता है कि विद्यापति इस प्रकार के संवाद गीतों द्वारा राधा और माधव की शृंगार-चेष्टाओं को, जो अपशिष्ट और अवर्णित वाह्य अंग थे, उन्हें आधुनिक यथार्थवादी लेखकों की भाँति वर्णित करना चाहते हैं। इसीसे मूर्च्छादि गाम्भीर्य, मादकता आदि बातों का, संचारी भावों का विशद वर्णन उन्होंने किया है।

विद्यापति का अध्ययन केवल कोमल कान्त पदावली या शृङ्गारी कवि की ही दृष्टि से नहीं परन्तु एक मनोवैज्ञानिक के नाते आवश्यक है। माना कि उनमें पुनरुक्तियाँ बहुत अधिक हैं, फिर भी उनकी मधुरता 'खणे खणे' बढ़ते जाने वाली है। या उन्हीं के शब्दों में :

सखी की पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरिती अनुराग बखानइत, तिले तिले नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारिल, नयन न तिरिपित भेल।
सेहो मधुर बोल श्रवण ही सुनल, श्रुतिपथ परश न गेल।

विद्यापति की कविता का एक और मौलिक अंश है विरह-वर्णन। विद्यापति की नायिकाओं का विरह कृष्ण उनको सोती छोड़ जाने से आरम्भ होता है। विद्यापति ने कृष्ण का मथुरा जाना तो स्वीकार किया है, और कुब्जा के प्रणय का भी संकेत किया है—किन्तु परम्परागत कथा की तरह उनका विरह आरम्भ नहीं होता। कृष्ण और राधा अथवा कृष्ण और गोपिकाओं का स्वरूप उनके सम्मुख बहुत स्थूल है। सम्भवतः 'राजा शिवसिंह रूपनारायन और लखिमादेवी' अथवा शिवसिंह और अन्य रानियों के व्यक्तित्व से अधिक विकसित व्यक्तित्व उनके कृष्ण और राधा का नहीं है। विरह के अतिरिक्त अन्य प्रकरणों में वर्णित उनकी राधा अथवा गोपिकाएँ संस्कृत कवियों की परम्परागत नायिकाओं के रूप में व्यक्त हुई हैं। कोई विप्रलब्धा है, कोई विरहोत्कंठिता, कोई कलहान्तरिता है और कोई खंडिता। दूतियाँ भी अनेकों हैं—और सखियाँ भी। विद्यापति ने सर्वत्र प्रेम को लौकिक आचरण और मानवी आवरण प्रदान किया है—उनका प्रेम शरीर की स्वस्थ मांसल आवश्यकता मात्र है।

कृष्ण नायिका को सोती छोड़ गये हैं—उसका नायिका को परिताप है। वह अपनी सखी से इसी दुख की बात कहती है :

एक सयन सखि सूतल रे,
आछल बालम निसि भोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे,
बिछुरल चकेवा जोर ॥

या

सूतल छलहुँ अपन गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाइ।
करसों छुटल परसमनि रे
कोन गेल अपनाइ ॥

तथा

सपनहु संगम पाओल,
रंग बढ़ाओल रे।
मीरा बिहि बिछटाओल,
निन्दओ हेराएल रे ॥

विरह में शरीर और प्राण दोनों अवसन्न हो जाते हैं। भूमि के समस्त उपकरण अपने साधारण धर्मों का कोई अर्थ-प्रभाव नहीं रखते, प्रतीत नहीं होते। प्राणों में केवल एक पीड़ा का संचार रहता है और उस पीड़ा का कारण होता है एक निश्चित अभाव। प्रिय एक मात्र लक्ष्य होता है। उसकी प्राप्ति के उपरान्त ही समस्त सुखों या सुख के उपकरणों का मूल्य है और मान है। अन्यथा, चन्द्रमा की शीतलता, चन्दन का अंगलेप, मृगमद का सौरभ, सब व्यर्थ हैं। उनसे कष्ट की वृद्धि ही होती है। विद्यापति की नायिका को भी वे कितना संताप दे रहे हैं :

मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के बोल सीतल चन्दा।
पिया बिसलेख अनल जों बसिये,
विपति चिन्हिए भल मन्दा ॥

प्रिय को पाने अथवा उसके दर्शन की उत्कट आकांक्षा रहती है। काग को भी निमन्त्रण और प्रलोभन दिये जाते हैं। साधारण विवेक बुद्धि भी उस काक-वार्त्ता का उपहास करेगी, किन्तु दग्ध नायिका कितने प्रेमाकुल और आश्वासन के स्वर से काग से कह रही है :

काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा।
खीर खाँड भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा॥

विद्यापति का विरह दो प्रकार से निरूपित हुआ है। या तो उनकी नायिकाएँ अपनी वेदना स्वयं व्यक्त करती हैं, अथवा उनकी सखी या कवि उनकी वेदना का वर्णन करता है। उनमें जहाँ नायिकाओं ने अपनी वेदना को स्वयं व्यक्त किया है, वहाँ उनकी प्रेम विकलता, प्रेम विह्वलता, हृदय का घना हाहाकार, प्राणों की उलझन, प्रणय-तत्परता और अश्रुओं की लाचारी सर्वथा तीव्र आवेग में मिलते हैं। लक्षणा और व्यंजना से वे अपने दुख के कारण को प्रकट करती हैं—किञ्चित रोष कुब्जा के प्रति भी उनका होता है, और नायक कृष्ण को उपालम्भ भी मिलते हैं—कृष्ण की कठोरता पर नायिका क्षुब्ध भी होती है और जब वह यों कह कर अपनी प्रेम की दृढ़ता का परिचय देती है :

नखर खोआओलँ, दिवस लिखि लिखि
नयन अँधाओलुँ पिया पथ देखि।

अथवा

केतक जतन सौं मेटिए सजनी
मेटए न रेख पखान।
जे दुरजन कटु भाखए सजनी
मोर मन न होय विराम।

तो उनकी प्रेम-पूर्णता पर सहज आस्था हो जाती है—श्रद्धा से हृदय आप्लावित हो जाता है।

प्रेम के साथ यौवन का मूल्य भी वे जानती हैं। यौवन के उपकरण आत्म-भोग के लिए नहीं, किन्तु प्रिय के उपभोग के लिए उन्हें प्रिय हैं—उन्हें वे सहेज कर रखना चाहती हैं। प्रिय का सत्कार उन्हें उन्हीं से करना है और यौवन तो अस्थिर है, सौन्दर्य प्रतिक्षण निस्तेज होता जाता है। कृष्ण की प्रेयसी को उसकी चिन्ता है। वह बार-बार इसी व्यग्रता में कहती है :

अंकुर तपन ताप जदि जारब,
कि करब बारिद मेहे।
इव नव जौवन विरह गमाओव
कि करब से पिया गेहे॥

वह प्रिय के लौटने की आशा में है, अन्यथा प्रिय के बिना उन्हें यौवन सर्वथा कष्टदायी है। अपने यौवन की असार्थकता का कितना सुन्दर कथन उन्होंने दिया है :

सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन
की जौवन प्रिय दूरे॥

शृङ्गारिक उद्दीपन विरह में प्राणद्रोही हो जाते हैं। पावस ऋतु में दूसरों के पति और प्रेमी अपने-अपने घर आ गये हैं—और नायिका का प्रेमी अभी नहीं लौटा, इस पर उसे कितना क्षोभ है—'सखि मोर पिया, अबहुँ न आओल कुलिस हिंया।'—उस पर भी सूने मन्दिर पर अनंग और इन्द्र के तीक्ष्ण शर। नायिका कितनी विह्वल होकर कह रही है :

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
ईभर बादर माह भादर,
सून मन्दिर मोर॥
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन,
सघन खर सर हंतिया॥

दूसरे प्रकार के विरह-वर्णन में, जिसमें कवि ने स्वयं अथवा सखियों के द्वारा नायिकाओं और राधा की विरह-दशा का वर्णन किया है। कवि की व्यंजना अधिक क्रमबद्ध और वेदना का संभार अधिक ऊर्जस्वित प्रतीत होते हैं।' इस अवस्था में वियोगिनी संसार से उदासीन केवल कृष्ण को—अपने प्रिय का नाम स्मरण ही करती रहती है। वह उनका गुण स्मरण नहीं करती। क्योंकि विद्यापति कथा-गायक नहीं हैं :

अधर न हास विलास सखी संग,
अहो नित जप तुम नामें।
जनि जलि-हीन मीन जक फिर इह.
अहो निति रहइह जागी॥

और

लोचन नीर तटनि निरमाने।
करए कलामुखि तथिहि सनाने।

सरस मृनाल करइ जप माली,
अहोनिसि जप हरिनाम तोहारी ॥
जिय कर समिध समर कर आगी।
करति होम यघ होए यह भागी ॥
चिकुर बरहि रे समरि करि लेथई।
फल उपहार पयोधर दे अई ॥

और प्रो० रामरघुवीरप्रसाद सिंह के शब्दों में : 'विद्यापति के गीत लोक-गीतों के रंग लिये हुए हैं। यद्यपि उनमें पूरी साहित्यिक साज-बाज और सुरुचि वर्तमान हैं, लेकिन चित्र जो अंकित किये गए हैं, उनमें अधिकाँश में लोक-जीवन के चित्र ही हैं। दरबार की सजी-धजी नायिका या रंगमहल में क्रीड़ा करती हुई काम की पुतली कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी। बिहारी की कला में संयम तो है, लेकिन काम जरी का है; दरबार का ऐश्वर्य जगह-जगह रंग पकड़ने लगता है।'

जरी कोर गोरैं बदन बढ़ी खरी छवि, देखु।
लसति मनौ बिज्जुरी किए सारद-ससि-परिवेपु ॥

विद्यापति की नायिका ग्रामीणा है, सरला है, मगर सुरुचि से सँवरी हुई है। भारतीय कुल-वधू का सरस सुहावना रूप विद्यापति की नायिकाओं में ही विशेष-कर देखने को मिलता है। नायक के रूप में प्रतिष्ठित कृष्ण तो भक्तों के काव्य में भी छैला बने हुए हैं, तो बेचारे विद्यापति को ही इसके लिये क्यों दोष दिया जाय। तभी तो कृष्ण के 'छयलपन' पर विद्यापति के नायिका की प्रेम भरी खीझ इस प्रकार व्यक्त हो उठी है :

एक दिन हेरि हेरि हँसि हँसि जाय।
अरु दिन नाम धए मुरलि बजाय ॥
आजु अति निअरे करल परिहास।
न जानिए गोकुल ककर बिलास ॥
साजनि ओ नागर सामराज।
मूल बिनु पर धन माँग बेयाज ॥
परिचय नहि देखि आनक काज।
न करए संभ्रम न करए लाज ॥
अपन निहारि निहारि तनु मोर।
देह अलिंगन भए विभोर ॥

समर्थ कवि की कला-कुशलता भी है। अभिव्यंजना कौशल और अलंकारों पर कवि का पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। यद्यपि अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है, लेकिन उनकी योजना विषयवस्तु का स्पष्ट बोध कराने के निमित्त ही हुई है। उदाहरण के लिए आँख से सम्बन्धित उत्प्रेक्षाओं को लीजिए और देखिए कि आँखों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सौन्दर्य को किस तरह से उभार कर रख दिया गया है:

नयन नलिनि दुओ अंजन रंजइ
भौंह विभंग विलासा।
चकित चकोर जोर विधि बाँधल
केवल काजर पासा॥
चंचल लोचन बाँक निहारत
अंजन शोभा पाय।
ज न इंदीवर पवन पेलल
अलि भरे उलटाय॥
नीर निरंजन लोचन राता
सिंदुर मंडित जनु पंकजपाता
सहजहि सुन्दर आनन रे
भौंह सुरेखलि आंखि।

विद्यापति ने केवल मैथिली में ही रचना नहीं की। उनकी अन्य भाषाओं की रचना पर शशिनाथ झा ने लिखा है:

संस्कृत-रचनाएं

विद्यापति संस्कृत के विद्वान थे तथा उनके बनाये नाना-विषयक ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में सौभाग्यवश आज भी समुपलब्ध हैं। दिग्दर्शनमात्र के लिए एक गङ्गास्तव यहाँ उद्धृत करते हैं:

जय गङ्गे जय गङ्गे, शरणागत भुज भङ्गे॥
ब्रह्म-कमण्डलु-वाससुवासिनि सागर-नागर-गृह-बाले।
पातक-महिष-विदारणकारण-धृतकरवाल - वीचि-माले॥
सुर-मुनि-मनुज-रचित-पूजोचित-कुसुम-विचित्रित-तीरे।
त्रिनयन-मौलि जटाचय-चुम्बन-भूति-विभूषित-सितनीरे॥
हरि-पद - कमलगलित-मधुसोदर - पुण्यपूत - सुरलोके।
प्रविलसदमरपुरीपद - दान-विधान - विनाशित-शोके॥

सहजदयानुगता पातकि-जन-नरक-विनाशिनि पुण्ये ।
रुद्रसिंह-नरपति-वरदायिनि विद्यापति-कविवर्णित-गुणे ॥

भावार्थ—शिव के जटाजूट में वधू के समान (छिप कर) रहने वाली; सुन्दर समुद्र में पद-नलिका के समान (चंचला); पाप-रूपी मत्तकुंजर के विनाशार्थ सिंह (रूप) की तलवार धारण करने वाली; देवता, मुनि तथा मनुष्य के द्वारा अर्पित किये हुए पूजा के योग्य फूलों से मिश्रित तीरोंवाली; शिवजी के स्नानागार में रहने के कारण शुभ्र भस्म से धवल जलवाली; विष्णु के चरणकमल के मकरन्द की महिमा तथा अपने पुण्य से स्वर्गलोक को पवित्र करने वाली; (स्नान-पानादि द्वारा) विनाश करने वालों को स्वर्ग भेज कर उनके शोक का नाश करने वाली; स्वाभाविक दयालुता से पापियों के नरक का नाश करने वाली; पुण्यशालिनी; राजा रुद्रसिंह को वरदान देनेवाली; कवि विद्यापति द्वारा वर्णित गुणोंवाली; शरणागत के भय को नष्ट करने वाली गंगा की जय हो! जय हो!!

उर्दू-भाषा की रचना

उर्दू-साहित्य में उनकी कोई उल्लेखनीय कृति तो मिलती नहीं; पर दो-चार फुटकर कविताएँ अवश्य मिलती हैं। जान पड़ता है, प्रायः समय-समय पर आवश्यकतावश उन्होंने उनका निर्माण किया था। जो हो, इससे उनकी बहु-भाषाभिज्ञता अवश्य प्रकट होती है। जब महाराज शिवसिंह दिल्ली के कारागार में कैद थे और उन्हें छुड़ाने के लिए शाही दरबार में विद्यापति उपस्थित हुए, तब वहाँ ओमराज (गुदराज, नवनराज अथवा तन्नामक कविविशेष) ने उनसे कवित्त सुनाने का आग्रह किया।

कहे ओमराज यानी सुपर बहुत नगर कवि दुलमल्यो।
सप्प-सप्प तुम छोड़ि देह बदन निहारो आपनो ॥

इसके उत्तर में विद्यापति ने तुरन्त एक कविता सुनाई, जो उर्दू-फारसी-मिश्रित भाषा में थी; पर अब वह शुद्ध रूप में नहीं मिलती, अज्ञजनों के हाथ में पड़कर बहुत विकृत हो गई है, जिसके कारण उसका अर्थ ठीक नहीं लगता।

शेर फरक शमशीर फरक हाँजि दरियाओ अस्त
फेन फरक आफताब फरक आसमान जा अस्त
हींग फरक काफूर फरक खिसियार खिसी अस्त
फरस्ता जरे बादशाही उमे सर अस्त

बदकस जादा दे सिलाब दफ्तर चूमी सिबाय
जोवराज सोभे दिगर मुलुक पयांस दे कुर्नी

उसे सुन कर सब-के-सब दंग रह गये। बादशाह ने कवि के आतिथ्य ग्रहण करने का आग्रह किया। वे बादशाह के अतिथि होकर रहे और अपने काव्य-कौशल से प्रसन्न कर अपने आश्रयदाता (शिवसिंह) का उद्धार किया।

अवहट्ट-भाषा की रचनाएँ

'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नामक, उनकी लिखी हुई वीररस की दो पुस्तकें अवहट्ठ-भाषा में हैं। 'अवहट्ट' (अपभ्रंश) भाषा प्रायः उस समय तक भारत की सर्वप्रिय राष्ट्रभाषा के रूप में विद्यमान थी। इसीलिए 'कीर्तिलता' के प्रारम्भ में वे लिखते हैं—'देसिल बयना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा।' इस पद के पूर्वार्ध से उपर्युक्त मत का परिपुष्टि हो जाती है। जायसी आदि की भाषा भी तो प्रायः इससे मिलती-जुलती ही है, जो अर्धमागधी का अन्तिम रूप मानी जाती है तथा जो अपभ्रंश-साहित्य का अवसान रूप है। मेरे अनुमान से तो 'अवहट्ट' कोई भाषा नहीं; किन्तु जिस प्रकार मिष्ट का अपभ्रंश-रूप 'मिट्ठा' है उसी प्रकार 'हृष्ट' का भी अपभ्रंश-रूप 'हट्ट' है। प्रायः कवि का अभिप्राय है कि मैं हृष्ट होकर यानी खुशी-खुशी देशी भाषा में साहित्य का निर्माण कर रहा हूँ। 'अवहट्ठ' में 'अव' संस्कृत-उपसर्ग 'अव' का रूप हो सकता है। जो हो, कवि की दोनों उपर्युक्त पुस्तकें ऐतिहासिक-दृष्टि से परम उपादेय हैं। उनमें उस समय के आचार-व्यवहार का स्पष्ट निदर्शन है। पर अभाग्यवश 'कीर्तिपताका' समुपलब्ध नहीं। सुनते हैं, स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में उसकी एक प्रति देखने को मिली थी। 'कीर्तिलता' तो सुलभ है। उसमें महाराज कीर्तिसिंह का, 'असलान' के के साथ हुए युद्ध का वर्णन है। भाषा-साहित्य में वीररस का यह परम-प्राचीन चम्पू है। इसके एक-एक पद से भारतीयता चुई-सी पड़ती मालूम होती है। देखिए, जब असलान सन्धि-प्रस्तावना उपस्थित करता है तथा राज्य वापस कर देने का आश्वासन देता है, तब कीर्तिसिंह क्या कहते हैं :

मान-विहूना भोअना, सत्तुक देअल राज।
सरन पइट्ठे जीअना, तीनू काअर-काज॥

महाराज कीर्तिसिंह ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया तथा ईंट का जवाब पत्थर से देने का निश्चय कर, जौनपुर के नवाब इब्राहीम शाह की सहायता से, लोहा

१८५७ के गीत..........

१८५७ के ग़दर को स्वतन्त्रता-संग्राम का [illegible] है। उस समय की सारी उथल-पुथल को कई लोकगीतों में [illegible] है। कुछ गीत विलियम क्रुक नाम के एक [illegible] ने 'इंडियन एंटिक्वेरी' के [illegible] सन् [illegible] के [illegible] प्रका-शित किये हैं। उनकी भूमिका में उन्होंने लिखा है :

'यह गीत कुछ वर्ष पहले मुख्यतः रामगरीब चौबे ने [illegible]। इस चौबे ने अपनी राय यों लिख रखी है कि ग़दर का प्रभाव जिस अंश तक लोगों पर पड़ा, वहाँ उनके मन में अंग्रेजों की प्रबल शक्ति के [illegible] भाव अवश्य पैदा हुआ। ऊपर के वर्ग ने वह भाव छिपा रखा, मगर नीचे के वर्ग के लोगों ने ब्रिटिशों के विजय के सम्मान में निःसंकोच रूप से गीत रचे और गाये। ऐसे गीत उत्तरप्रदेश की जनता के होठों पर अभी भी नाच रहे हैं। रामगरीब चौबे ने ऐसा भी कहा है कि इन्हीं कारणों से ग़दर के पचास बरस बाद भी ये गीत जमा करके रखना जरूरी है। इनसे जनता की सच्ची भावनाओं का पता लगता है। अनेक देशी सम्पादक और प्रकाशक इन गीतों को जमा कर रहे हैं और छाप रहे हैं।'

क्रुक की इस पक्षपातपूर्ण एकांगी भूमिका के अलावा एंटिक्वेरी के सम्पादक ने एक और छोटी टिप्पणी जोड़ी है, जिसमें यह कहा गया है कि इन लोकगीतों में भारतीय लोकगीतों के सभी साधारण गुण हैं। इतिहास का संदर्भ केवल संदिग्ध या अस्पष्ट है और केवल स्थानिक महत्त्व के वृत्तान्त ही उसमें दिये गये हैं। भाषा घरेलू है और विषयानुसार शब्दयोजना है।

ये गीत इस प्रकार से हैं :

१. मेरठ की लूट

सहारनपुर की गूजर स्त्रियों का यह गाना है :

लोगों ने लूटे शाल-दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल ॥१॥
मेरठ का सदर बजार है, मेरे सानियाँ लूटे न जाने ॥टेक॥
लोगों ने लूटे थाली-कटोरे, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल ॥२॥
लोगों ने लूटे गोले-छुहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम ॥३॥
लोगों ने लूटे मुहर-अशरफी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम ॥४॥

२. ग़दर के दिनों में फैजाबाद

अहमद उल्ला 'फैजाबाद का मौलवी' नामसे प्रसिद्ध था। फैजाबाद जिले के उनही के किसी बंदा अली सैयद से यह गाना रामग़रीब चौबे को मिला। गाना यों है :

राणा बहादुर सिपाही अवध में धूम मचाई मोरे राम् रे ॥
लिख लिख चिट्ठियाँ लाट ने भेजा : 'आन मिलो राणा भाई रे ॥
जंगी खिलात लंदन से मंगा दूँ, अवध में सूबा बनाई रे ॥ १ ॥
जवाब-सवाल लिखा राणा ने : 'हम से न करो चतुराई रे ॥
जबतक रहे प्रान तन भीतर, तुमको खोद बहाई रे' ॥ २ ॥
जमींदार सब मिल गये मुल्कान, मिल मिल के कपाई रे ॥
एक तो बिन सब कट - कट जाई, दूसरी गढ़ी खोदवाई रे ॥ ३ ॥

३. बरवा बटेला में गुलाबसिंह का पराक्रम

अवध में हरदोई जिले के संडीला तहसील में बरवा बटेला गाँव है। गुलाबसिंह वहाँ का ठाकुर था। यह अविवाहित था, पर वारिस के तौर पर उसने अपने भान्जे को गोद लिया था। उसकी बहिन बड़ी बहादुर थी। यह गीत रामगरीब चौबे ने किसी कमरुद्दीन से सुना था :

'राजा गुलाबसिंह रहिया तोरी हेरूँ
एक बार दरस दिखावा रे!' (टेक)
अपनी गद्दी से यह बोले गुलाबसिंग :
'सुन रे साहब मेरी बात रे।
पैदल भी मारे, सवार भी मारे,
मारी फौज बेहिसाब रे ॥'
'बाँके गुलाबसिंग रहिया तोरी हेरूँ,
एक बार दरस दिखावा रे।'

'पहली लड़ाई लखनऊगढ़ जीते,
दूसरी लड़ाई रहमाबाद
तीसरी लड़ाई संडीला में जीते
जामूं में कीन्हा मुकाम रे ॥'
'राजा गुलाबसिंह रहिया तोरी हमें,
एक बार दरस दिखाओ रे ॥'

४. बहादुरशाह की बेगमों का विलाप

यह गीत इटावा जिले में अमरपुर के शालिग्राम ब्राह्मण ने गाया और अमरपुर शाला के एक अध्यापक ललिताप्रसाद ने लिखा। बहादुरशाह पर मुकदमा चलाया गया और उसे देश-निकाला देकर बर्मा में भेज दिया गया। तब बेगमों ने इस तरह से विलाप किया :

अब कैसी करी हो निमकहरामी देसवा बेगानी कर दी रे ?
गलियाँ गलियाँ रैयत रोवाई, हटियों बनिया बजाज रे।
महल में बैठे बेगम रोवैं, देहरी पर रोवै खवास रे।
मोतीमहल की बैठक छूटी, छूटी है मीना बाज़ार रे।
बाग़ जमनियाँ की सैरें छूटी, छूटो है मुल्क हमार रे।
जो मैं ऐसा जानती, मिलती लाट से जाया रे।
हा-हा करती पैयां परती, लेती देसवा छोराना रे।

५. अवध के जिले का इन्तजाम

लार्ड डलहौसी ने १८५६ ईस्वी में अवध का सूबा अंगरेजी सल्तनत में मिला लिया। वहाँ के नवाब वाजिद अली शाह को कलकत्ते के कारावास में डाल दिया। तब का यह गीत है। उसमें जो तिरसठ, पैंसठ, छियासठ के जिक्र हैं, वे हिजरी की तेरहवीं सदी के हैं। फिर भी वे ग़लत हैं। यह गीत आगरा जिले के चन्द्रापुर में गिरधारीदास चौबे से रामगरीब ने सुना था :

जिस वक्त साहबां शहर लखनौ लिया।
वाजिद अली जो शाह था कलकत्ता चल दिया।
शाहजादगां बेगम हमराह कर लिया है।
मलिक्ह मुअजम ने तनख्वाह कर दिया है। १
अकबाल से फिरंगी मुल्क अवध ले लिया।
सब राजगान खौफ़ से हताअत कबुल किया।
बेइन्तिज़ामी ऐसी थी बादशाह पर,

बिरात मुल्क होता था रखते नहीं खबर।
अँग्रेजों ने जब देखा, ऐसा मचा है ग़दर।
नायब शहरयार ने दखल कर लिया शहर,
अकबाल से फिरंगी मुल्क अवध ले लिया,
सब राजगान खौफ़ से हथिआर धर दिया। २
फैला अमला फिरंगी का तिरसठ के साल में।
बलवा हुआ है मुल्क में पैंसठ के साल में।
अंग्रेज़ फिर दखल किया छियासठ के साल में।
बिरजिसकदर बेगम नैपाल राज में।
अकबाल से फिरंगी मुल्क अवध ले लिया।
सब राजगान खौफ़ से हथियार धर दिया। ३
जिस वक्त बेली गारद में साहबाँ थे,
कोई रसद न चलती थी, महताज खुदा थे।
और गोरहय लेकर मुस्तहद जंग थे।
भूकों-पियासों मरते थे, पर भागते न थे।
अकबाल से फिरंगी मुल्क अवध ले लिया।
सब राजगान खौफ़ से हथियार धर दिया। ४
जब साहबां धावा करते थे फौज पर।
बदमाश मुल्की बत्ती देते थे तोप पर
उनके मुकाबिले से छिपाते थे दर-ब-दर।
सर काट लेते गोरा उन्हें खोज-खोज कर। ५
तलवार और गोली और संगीन चलती थीं।
सदा रूर्ब के ऊपर जब बत्ती बलती थी।
आवाज़ उस तरफ से ज़मीन थरथराती थी।
उस वक्त जन शिकमसे हमल डाल देती थी। ६
यह बिरजिसकदर बेगम की कही गई बहादुरी?
दुनियां में नाम रह गया शाही से आखिरी
अब कौन कर सकेगा ऐसी बहादुरी?
बेगम निकलते वक्त खुद जंग क्या करी? ७
जिस वक्त राणासाहब गोरों से जंग किये।
बदमाश भाग भाग के उत्तर की राह लिये।

जगराजसिंह पीछा गोरों का किया खूब।
एक-एक को मारकर नाली में दिया डूब। ८
यह राणा वेणीमाधव जवांमर्द है वड़ा।
खुद जंग माँगता है, मुस्तहद है खरा,
यह लोह वैसवारे का वैसों का है कड़ा।
अब तो मुकाबला अंग्रेजों से आ पड़ा। ९
तब साहवाँ आपस में मसहलत किया।
"राणाको लेव मिलव मुलक अवध ले लिया।
और राजगान सारे मुल्क अवध वेवफा।
यह लोग हाजिर जब खौफ वर मला।" १०
जब राजा मानसिंह फिरंगी में आ मिला।
उस वक्त लाल माधो पर खौफ़ चल मिला।
"बदमाश भाग भाग लुके जाके करबला।"
जब साहवाँ जाके घर लिया बर मला। ११

तब राणा ने दिल में सोचा :

अब आबरू के साथ निकल चलना खूब है।
अफवाज अपनी ले के उत्तर की राह ली।
सब राज अपनी छोड़ के बेगम की साथ दी। १२
आखिरको बदहवास हुए राजगान सब।
किसान नमकहरामी अवध शाह घर है जब।
"अंग्रेज वेवफाई करेंगे करो यह कब?"
बरखौफ हाजिर आये यह राजगान सब। १३
पहला ही इन्तिजाम बन्दोबस्त सरसरी;
बारह जिला किया है औ अर्वा कमीश्नरी
सुबह अवध में एक है जुडिशल कमीश्नरी।
निसबत अपील के यह दर्जा है आखिरी। १४
फेर याद्को मौज़े मौज़े का हद बस्त कर लिया;
दन्दे और मेन्दे का सब झगड़ा उठा दिया।
आईनी जंज़ीर पैमाइश शुरु किये;
मुमकिन और गैरमुमकिन सब जुदा किये। १५
जब कागज़ात बिल्कुल तरतीब कर लिया।
तब इन्तज़ाम साली बन्दोबस्त कर लिया।

हर एक के नाजारी हुक्मनामा कर दिया।
और इस तरह दावेदारी का दे दिया। १६
बारह बरस की मयाद मुकर्रर जो की गई।
तिरसठ के जगह साल इक्कावन लिखी गई।
अन्दर मियाद कब्ज़ा डिग्री दी गई।
कबजादे न सुद, अर्जी खारिज कर दी गई। १७
हर एक जिला में चार मुहकमा खड़ा किया:
जिला, कलकटरी, दिवानी, अयाँ किया।
फौजदारी बाद, बन्दोबस्त रो दिया।
यह हाल कह गई, गोया कलम बन्द कर दिया। १८

से आये हुए शब्द तो हैं ही, परन्तु एक नये प्रकार की जन-सम्मत ग्रेपणीयता भी है, जो शिष्ट-सम्मत चाहे न भी हो। प्रभाकर और सगन की रचनाओं में कहीं-कहीं नग्न शृङ्गार भी है।

इस प्रकार लावणी के विषय आध्यात्मिक नहीं, लौकिक हैं। उसके रूप-वर्णन जीते-जागते मानवों के हैं। लावणियाँ साधारण जन-समूह के सामने पढ़ी जाने के लिए थीं, उनमें आधुनिक कवियों की-सी दीक्षा-गम्य प्रतीक-सज्जा नहीं थी। लावणीकारों में आपस में बड़ी स्पर्धा चलती थी, और हर कवि रचना के अन्त में अपनी प्रशंसा करता था। कविताएं आठ मात्रा के धुमाली ताल में होती थीं; यह ताल अनन्तर लावणी ताल कहलाने लगा। इन कविताओं में यमकों की झड़ी-सी लग जाती थी। पेशवाई के उत्तरकाल में यमकों की यह बाढ़ हिन्दी में पद्माकर आदि रीतिकवियों के शब्द-शिल्प की याद दिलाती है। साहित्य में प्राणों की अल्पता के साथ-साथ अश्लीलता और शब्दालंकरण की वृद्धि होने लगती है, यह सहज क्रम है।

व्युत्पत्ति

लावणी शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से सिद्ध की जाती है:

(१) मराठी में 'लावणें' का अर्थ है लगाना। खेती में बुवाई या पौध की रोपनी को भी लावणी कहते हैं। ऐसे समय जो गीत गाये जाते हैं, वे लावणी कहलाये। यह एक सीधी व्युत्पत्ति है, किन्तु इसमें सार नहीं है, क्योंकि लावणी न तो ऐसे अवसरों पर गायी जाती है, न उसका रोपने की क्रिया से कोई सम्बन्ध है।

(२) संस्कृत 'लू' धातु का अर्थ है काटना, अर्थात् लावणी रोपने के समय नहीं बल्कि कटनी के समय गाया जाने वाला गीत है। यह भी उपर्युक्त कारणों से अग्राह्य है।

(३) 'मधुर' से 'माधुर्य' और 'माधुरी' की भाँति, 'लवण' से 'लावण्य' और 'लावणी' दोनों रूप सिद्ध होते हैं, ऐसा गो० कृ० मोडक का सुझाव है। शब्द-सिद्धि की दृष्टि से यह युक्ति निर्दोष है, पर हमारी भाषाओं में सौंदर्य के लिए जैसे लावण्य का प्रयोग होता है, लावणी का कहीं नहीं होता।

(४) व्युत्पत्तिकोशकार ने 'लापनिका' व्युत्पत्ति दी है। जैसे अन्तर्लापिका—बहिर्लापिका आदि संस्कृत गूढ़प्रश्नात्मक काव्य हैं, वैसे ही संस्कृत में 'लापनिका' रही होगी। इस शब्द का उल्लेख 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' नामक जैन-ग्रन्थ में आया है। पर उसका अर्थ है बोलना, सम्भाषण। प्राचीन मराठी में भी

'लपनिका' शब्द बकवाद, गपशप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शब्द-सिद्धि की दृष्टि से 'लप्' बोलना से 'लापयति' बनता है और 'ली' चिपकना से भी 'लापयति' प्रयोजक रूप बनता है। इस प्रकार ली—लापयति—लापनिका—लावणी, शब्द-संगति तो हो जाती है, पर इसमें 'लापनिका' शब्द कच्चा तन्तु है। संस्कृत में कहीं इसका प्रयोग नहीं; और मराठी (या हिन्दी) लावणी का संस्कृत काव्य-प्रकारों से कोई साम्य नहीं।

(५) म० वा० धोरड का सुझाव है कि 'ली' 'लग' धातु के प्रयोग मराठी 'लागणें' लगाना का प्रयोजक 'लावणें' बना। इसका अर्थ जमाना, सजाना, रचना, यह भी होता है। राजवाड़े ने अपने 'मराठी छन्द' में 'ओंवी' छन्द नाम की व्युत्पत्ति में बताया है कि ओंवणें (गूँथना)—ओंवणी—ओंवी से महानुभावीय कवियों ने 'दर्शन-प्रकाश' में 'ओवनिका' का प्रयोग किया। लावणें—जोड़ना, बजाना से 'लावन' रूप मराठी के 'ग्रन्थ-लापन', 'श्लोक-लापन' आदि पदों में पाया जाता है।

'लावणी' का अर्थ जोड़ना या मिलाना, रचना या सज्जा के अभिप्राय से, मराठी के प्राचीन कवियों में भी मिलता है। ज्ञानेश्वर लिखते हैं :

"तया निरूपणाचेंचि नांवें। अध्यायपद सोयें, लावणी पाहतां जाणावें। मागिलापरी।" ज्ञानेश्वरी, १६, ६२

यहाँ लावणी का अर्थ विषय का व्यवस्थित निरूपण है।

शिवाजी के समय का शाहीर (कवि) अज्ञानदास, 'अफजल खाँ-वध' के पोवाड़े में 'तिसज्या सदरेची माण्डणी' के वर्णन में लिखता है :

'चाँदवा जडिताचा बान्धोनी। घोंस मोतियांचे वर टिकली नाना परीची। अवघी जडिताची लावणी। हिरे जोडिले खणोखणी।'

यहाँ छत के वर्णन में हीरकखचित या जटित के अर्थ में 'लावणी' का प्रयोग हुआ है।

सुभग-रचना के अर्थ में 'लावणी' का प्रयोग होता रहा होगा। कर्णाटक में अभी भी वीर-रस के आख्यान-काव्य और शृङ्गार-गीत दोनों 'लावणी' कहलाते हैं। लावणी की रचना में महाराष्ट्र में भी बहुत विकास और अन्तर होता गया। आरम्भ में वाक्प्रतियोगिता का जो रूप होता था, उसमें क्रमशः कूट-वर्णन, नख-शिख आदि का सन्निवेश हुआ, गाने की तर्जें भी बदलीं। रचना रागदारी में, पर गायन लावणी-गायकी के ढँग पर होने लगा। तमाशों की घुमन्तू बेटिनें कोठियों की कलावन्तिनें बन गयीं; लावणी शुद्ध शृङ्गार गीत हो गयी।

मराठी लावणी का छन्द रूप निश्चित नहीं है; परन्तु भारतेन्दु की लावनियाँ मराठी शैली से भिन्न हैं। कुछ मराठी के 'भूपतिवैभव' 'केशवकरणी' आदि छन्दों से मिलती हैं, तो कुछ गजल की बहरों पर रची जान पड़ती हैं। भाषा भी कुछ में व्रज की पुट लिये खड़ी बोली है तो कुछ में उर्दू, एक लावनी संस्कृत में भी है।

भारतेन्दु-ग्रन्थावली में जो सोलह लावनियाँ उद्धृत हैं, उनका ब्यौरा इस प्रकार है :

(क) उर्दू भाषा, उर्दू पद्धति के छन्द :

प्रथम पंक्ति	विषय
१—बिना उसके जल्वा के	सूफियाना सर्वव्यापी का परम-प्रेम
२—चाहे जो हो जाय उम्र भर	एकांगी प्रेम
३—बाल य दिल के बवाल	प्रेम का केश-वर्णन (उत्प्रेक्षाएँ)
४—आँखों में लाल डोरे	प्रेमी की बेरुखी का वर्णन

(ख) व्रज की पुट लिए खड़ी बोली :

छन्द मात्रिक :

५—करे निठुर शाम सों	कृष्ण के विरह में राधा के मनोभाव
६—तुम सुनो सहेली संग की	कृष्ण के काम-कौतुक का गोपी द्वारा वर्णन
७—दुख किसे कहूँ	विरहिणी का विप्रलम्भ शृङ्गार

(ग) खड़ी बोली, मिश्रित या अनियमित छन्द :

८—वहो तुम्हें जाने प्यारे	सूफी परम-प्रेम का वर्णन
९—जब तक फँसे थे इसमें	दुनिया की असारता
१०—सखि चलो साँवला दूलह	कृष्ण का दूलहा-वर्णन
११—बीत चली सब रात न आये	वर्षा में विरहिणी
१२—बरसा रितु सखि सिर पर आयी	वर्षा में विरहिणी

(घ) व्रजभाषा, मात्रिक छन्द :

१३—मोहिं छोड़ि प्रान-प्रिय	विप्रलंभ शृङ्गार
१४—प्राननाथ मनमोहन	कृष्ण-विनय
१५—तुम बिन व्याकुल बिलपत	गोपी-विरह वर्णन

(च) संस्कृत, मात्रिक :

१६—कुञ्ज कुञ्ज सखि सत्वरं	गोपी का आग्रह

(संख्या १० और १५ संवत् १९३४ में रचित 'प्रेम-प्रलाप' से, संख्या ११-१२ संवत् १९३७ में रचित 'वर्षा-विनोद' से हैं। संख्या १६ संवत् १९३१ में रची गयी थी।)

संवत् १९३१-१९३७ के कालखण्ड में रचित, 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र-चन्द्रिका' और 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित ये सोलह लावनियाँ भारतेन्दु के काव्यगुणों का मुकुर हैं। वह कैसे भक्त और फक्कड़, रसीले और उत्कट भावुकता-सम्पन्न सौंदर्यप्रेमी थे, इसकी छाप उनकी रचनाओं में भी स्पष्ट है। इतना ही नहीं, उस काल की संक्रमणशील काव्यशैलियों का भी अनुमान इन रचनाओं से हो जाता है। संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली, ब्रज की अतिशय आलंकारिकता, उर्दू की मुहावरेदानी और उक्ति-चमत्कार तथा लोक-गीतों का सहज सीधापन—सब का परिपाक इन गीतों में है। विषयों का कोई बन्धन यहाँ नहीं है। कृष्ण-गाथा हैं, कुञ्जवन हैं, यार की जुल्फें हैं, आँखों के लाल डोरे हैं; तो संसार की असारता भी है, और 'खँडहर पै ओरि टनकारैं' जैसा भयद वर्षा वर्णन भी है। प्रायः सभी उत्कट और गाढ़ रसों के रंग इन सरस पदों में मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट करेंगे। निम्न पदों में शैली की और रस-दशाओं की भी विभिन्नता लक्षणीय है।

वही मेरा माशूक झलक इन बुतों में भी दिखलाता है।
वही इश्क में आशिकों को हर तरह फँसाता है॥
कहीं मेहरबाँ बनता है और कहीं जुल्म फैलाता है।
गरज कि हर जा मुझे वो यार ही नजर आता है॥
'हरीचन्द' जो और देखते वो आशक भरपूर नहीं।
सिवा यार के दूसरे का इस दुनिया में नूर नहीं॥

इस लावनी को पढ़ कर जान पड़ेगा कि हम किसी सूफी कवि की पदावली सुन रहे हैं। अथवा कोई मध्ययुगीन सन्त दादू-कबीर की-सी सिधाई से 'घट-घट-व्यापी रमया' की बात कह रहा है। यह एक नमूना है। दूसरा अत्याधुनिक कवि की टक्कर का मिश्रित रसों का वर्षा-वर्णन देखिए :

खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा पानी॥
अँधेरी छाय रही भारी।
सूझत कहूँ न पन्थ सोच करै मन मन में नारी॥
न कोई समझावनहारी।
चौंकि चौंकि के उझकि झरोखा झाँकि रही प्यारी॥

विरह से व्याकुल अकुलानी।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा पानी ॥
सूझै पन्थ न कहीं हाथ से हाथ न दिखलाता ॥
एक रंग धरती अकास का कहा नहीं जाता ॥
किसी का बोल नहीं सुनाता।
बूँद बजैं टपटप मारग कोई नहिं आता जाता ॥
सोये घर घर सब पट तानी।
सन सन करके रात सनकती झींगुर झनकारैं ॥
कभी कभी दादुर रट कर जिय व्याकुल करि डारैं ॥
साँप खँडहर पर ठनकारैं।
गिरे करारे टूट टूट के नदी छलक मारै ॥
पिया बिन सब ही दुखदानी।
ठण्डी पवन झकोरे आँचल उड़ उड़ फहरावै ॥
बिरहिन इतसों उत डोले कोई नहीं जो समुझावै ॥
पिय बिन को जो गर लावै।
'हरीचन्द' बिनु बरसा में को कसक मिटावै ॥
कहाँ बिलमे, को मनमानी।
खड़ी अकेली राह देखती, बरस रहा पानी ॥

खड़ी बोली की कविता में रोमाण्टिक अथवा स्वच्छन्दतावादी धारा का सूत्रपात प्रसाद या पन्त से भले ही माना जाय, वस्तुतः भारतेन्दु ने ही कल्पना की सैर-यात्रा और सूक्ष्म संकेतों की योजना द्वारा भाव-चित्रों का निर्माण आरम्भ कर दिया था। इस भाव-गीत में एक ओर 'चौंकि चौंकि के उझकि झरोखा झाँकि' में घनानन्द के ऋतु-वर्णन की छाया मिलती है, तो दूसरी ओर 'नेचर फॉर इट्स ओन सेक' का-सा सुन्दर स्वतःसम्पूर्ण चित्र भी मिलता है—'साँप खँडहर पै ठनकारैं। गिरैं करारे टूट-टूट के नदी छलक मारै।' इस वाह्यतः [illegible] गीत में शैलियों के सारल्य में मानों दो युग आकर मिल गये हैं। इस गीत में उर्दू के मुहावरेबाज़ी से मँजी लोकभाषा का ऐसा प्रांजल रूप है—'सूझै पन्थ न कहीं हाथ से हाथ न दिखलाता। एक रंग धरती-अकास का कहा नहीं जाता।' 'सन सन करके रात सनकती' में मानवीकरण अथवा [illegible] अप्रस्तुत का [illegible]-विधान भी है।

[illegible] रमा हुआ नहीं है। फिर भी उसमें प्रकृति-वर्णन की

दृश्य देखिए :

जुगनूँ चमकैं चार दिशा में भई बड़ी सोभा।
हरी भूमि पर बीरबहूटी देखत मन लोभा॥
नये-नये बिरछन के गोभा।
देख-देख के कामदेव मेरे जिय मारै चोभा
हुई जोबन-मद से माती।
पिया बिना मैं व्याकुल तड़पूँ नींद नहीं आती॥
बरसा रितु में पीतम के सँग फिरैं सभी नारी।
झूलैं बागों जाय हिंडोरा गावैं दे तारी॥
पहिन के रंग-रंग की सारी॥
मैं किसके सँग सोऊँ सखी री बिपति बड़ी भारी॥

आधुनिक कवि कदाचित् अन्तिम पंक्ति लिखते हिचकिचाता—जिसमें जन-भावना से उसके दूर जा पड़ने का स्पष्ट संकेत मिलता है। वह क्यों नहीं भारतेन्दु की-सी प्रांजल, प्रवाहमयी, प्रेषणीय शैली में लिख पाता? कहीं कोई गाँठ उसके मनोलोक में ऐसी पड़ गयी है कि दुरूहता उसका स्वभाव-दोष बन गया है।

अन्य लावनियों में रूप-वर्णन है और भाव-निरूपण भी। रूप-वर्णन कुछ उर्दू कविता का असर लिये हुए हैं, जैसे :

आँखों में लाल डोरे शराब के बदले।
है जुरफ छुटी रुख पै निकाब के बदले॥
नित नया जुल्म करना सवाब के बदले।
झिड़की देना हरदम जवाब के बदले॥
प्यारी में बल बालों के ताब के बदले।
खून में रँगना कपड़े शहाब के बदले॥

संस्कृत लावनी की शैली इससे बिल्कुल उल्टी है। महान कलाकार अपनी कलावस्तु के अनुरूप उस कला की अभिव्यंजना को भी अपनी अनुभूति की तीव्रता से साँचे में ढाल लेता है।

'सखी चलो साँवला दूलह देखन जावैं' लावनी में लोकगीतों की-सी सरलता और वैभव के वर्णाढ्य विवरण की झलक है :

नीली घोड़ी चढ़ि बना मेरा मन भाया।
भोले मुख मरवट सुन्दर लगत सुहाया॥

जामा चीरा जरकसी चमक मन भाया।
सूहा पटुका कटि कसे भला छवि छाया॥
हाथों मेंहदी मन हाथों हाथ चुरावैं।
मधुरी मूरत लखि अँखियाँ आज सिरावैं॥

कई लावनियों में सूफ़ी ढंग की आध्यात्मिक छटा है 'वही मेरा माशूक़ झलक इन बुतों में भी दिखलाता है,' इत्यादि।

कहीं वैराग्य की निर्वेद-भावना है, यथा 'मतलब की दुनिया है, कोई काम नहीं कुछ आता है। अपने हित की मुहब्बत सब से सब बढ़ाता है।'

संक्षेप में भारतेन्दु की लावनियाँ अधिकांशतः शृङ्गारपरक हैं, पर कहीं अन्य रसों की भी और विशेषतः भक्ति, करुण और शान्त रसों की भी उद्भावना है।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' से भाषा को लेकर चाहे जितनी झपट हुई हो, कवि-कर्म में 'भारतेन्दु' ने अपनी रचनाओं की मधुरता बढ़ाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने व्रज भाषा से, चलती लोक-भाषा से, संस्कृत से, उर्दू-फ़ारसी से, 'गरज़ कि' (यह उनकी लावनियों में बार-बार आया है) किसी भी भाषा-शैली से शब्द लेने में आनाकानी नहीं की, उदाहरणतया :

विदेशी : जलवा, खूबरू, खुशगलू, मखमूर; उसी सीगे में उसको गरदानो; शीशएदिल, मह; मुअम्मा तेरा कोई हल कर जो ले; रहे गलताँ-पेचाँ; नीम-बिस्मिल का; पेचदार खम खाये; मुश्क से खुशबू में रेशम से चमक में ये चौकाले हैं, उक्दा, रूपोशी, ज़र्द्दफ़ी इत्यादि।

देशज : उन पहले आकर हमसे आँख लगायी, पर उन नहीं मानी सो तिनका सी तोड़ी; इक हाथ लगी मेरे जग बीच हँसायी; पलंगों पै इकली; कस्यों मेरे भुजसों भुज; मैं औचक रह गयी कियौ जोई मनमानी; रहे सदा हाथ पर लिये मुझे दिलजानी, भई जोगन दे गल सेली; चिकलदार चुनकारे गिंडुरी से हो कर रह जाते हैं; चमकाले; झबिया; अलबल बैन उचारे, इत्यादि।

इस प्रकार 'भारतेन्दु' की इन लावनियों के शब्द और मुहावरों के चयन में एक प्रकार की सर्वग्राहकता और उदारता मिलती है, स्वयं सामन्ती संस्कारों के कवि होने पर भी हरिश्चन्द्र की जनवादिता बहुत दूर तक पहुँचनेवाली थी। उनकी कविता में एक सच्ची वर्गहीनता मिलती है, जो आज भी अनुकरणीय गुण है।

नाट्यात्मक भाव-गीत

भारतेन्दु की प्रतिभा में काव्य अधिक था, अथवा नाट्यात्मकता, यह निर्णय करना कठिन है। ब्राउनिंग ने जिस प्रकार के नाट्यात्मक भावगीतों की सृष्टि की थी, उस प्रकार के संवादात्मक गीतों में वस्तुनिष्ठता अत्यन्त आवश्यक होती है। रीतिकालीन काव्य में यह गुण था। खड़ी बोली की आरम्भिक कविता में भी यह गुण रहा। भारतेन्दु की लावनी से यह उदाहरण लीजिए :

एक दिन कुञ्जों में साथ दूसरी नारी।
अपने सुख बैठे थे मिलकर गिरधारी॥
मैं गयी तो सकुचे झट यह बुद्धि विचारी।
बोले यह आयी तुमहिं मिलावन प्यारी॥
तुम घर भेजन को बिनती करी रहि आनी।
पिय प्यारे की मैं कहँ जौं कहौं कहानी॥

और इसी बीच-बीच में समुच्छ्वसित वाणी में वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति भी होती रही है :

वह बन-बन बिहरन कुञ्ज कुञ्ज तरु पातैं।
वह गलभुज डारन प्रीत-रीत की घातैं॥
वह चन्द चाँदनी और निराली रातैं।
एक-एक की सौ-सौ जी में खटकती बातैं।

इसी नाट्यात्मकता के कारण कुछ लावनियों में स्वगत-भाषण की शैली आ गयी है।

चाहे कुछ हो जाय उम्र भर तुझी को प्यारे चाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥
तेरी नजर की तरह फिरैगी कभी न मेरी यार नज़र।
अब तो यों ही निभैगी यों ही जिन्दगी होगी बसर॥
लाख उठाओ कौन उठे है, अब न छुटेगा तेरा दर।
जो गुजरैगी, सहेंगे, करैंगे यों ही यार गुजर॥
करोगे जो जो जुल्म न उनको दिलबर कभी उलाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥

भारतेन्दु की लावनियाँ आधुनिक हिन्दी पाठक के लिए ही नहीं, आधुनिक हिन्दी कवि के लिए भी माननीय और उपयोगी हो सकती हैं।

मत संदेह करना कि मैं राजा वा वैद्य वा गुरू इनमें कौन हूँ, क्योंकि मेरे तो तुम्हीं राजा और तुम्हीं वैद्य और तुम्ही गुरू हो।

१४ सितम्बर १८८२ ॥१६३६॥ — केवल तुम्हारा हरिश्चन्द्र"

प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की भूमिका का यह समर्पण क्या ही छलछलाता हुआ है :

'डेडीकेशन'

"प्यारे !

मैं तुम्हें क्या तमाशा दिखाऊँगा, हाँ धन्यवाद करूँगा, क्योंकि, निस्सन्देह, तुमने ऐसा तमाशा दिखाया कि सब कुछ भूल गया। अहा ! स्त्री-पुरुष, पण्डित मूर्ख, अपना-बिगाना और छोटे-बड़े सब का तमाशा देखा पर वाह ! क्या ही तमाशा है—तमाशा तो है पर देखने वाले थोड़े हैं, न हो तुम देखो मैं देखूँ, उन्हीं तमाशाओं में से यह भी एक तमाशा है, देखो :

चश्म मन् बर चश्म तू चश्मात् तू जाए दिगर।
मन तमाशाए तू बीनम् तू तमाशाए दिगर ॥

श्रावण शुक्ला ११ सोम० सं० १६३० — तुम्हारा हरिश्चन्द्र"

कभी-कभी इन समर्पणों के द्वारा वे समाज के दम्भ का विस्फोट बहुत मजे से करते जाते हैं। वे अपने युग के इन सब ढोंगों को खूब जानते थे। इसी से उन्होंने उनका मधुर और कड़ुई दोनों प्रकार की भाषा से धिक्कार किया। और समाज-सुधार की ओर स्पष्ट इंगित किया है :

'पाखण्ड विडम्बन' का समर्पण देखिए :

"मेरे प्यारे !

भला इससे पाखण्ड का विडम्बन क्या होना है ? यहाँ तो तुम्हारे सिवाय सभी पाखण्ड है, क्या हिन्दू क्या जैन ?

फाल्गुन सुदी १४ सं० १६२६] — तुम्हारा हरिश्चन्द्र"

कहीं-कहीं इन भूमिकाओं का कार्य कोई एक दोहा या श्लोक अथवा उद्धरण से हो जाता है। 'दुर्लभ बन्धु' 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। उसकी भूमिका में केवल दो सूक्तियाँ हैं :

दुर्ल्लभा गुणिनो सूराः दातारश्चातिदुर्ल्लभाः।
मित्रार्थेत्यक्तसर्व्वस्वो बन्धुस्सर्व्वैस्सुदुर्ल्लभः ॥

(उर्दू लिपि में):

खुदा मिले तो मिले आशना नहीं मिलता।
किसी का कोई नहीं दोस्त सब कहने हैं॥

यह संस्कृत और उर्दू का आरम्भिक समर्पण विधान कुछ-कुछ आधुनिक सिनेमा के छोटे स्लिपों में लिखे हुए पंक्तियों सा जान पड़ता है।

सं० १९२८ में लिखे 'प्रेममालिका' कीर्तन-संग्रह का समर्पण अंग्रेजी में है :

टु दी सब ग्रीव्ज़ पा. पेंग्ज़ [illegible] अफेक्शनेटली डेडिकेटेड
विद दि गुड विशेज़ आफ हरिश्चन्द्र बनारस

'प्रेम सरोवर' का यह भावात्मक समर्पण देखिए :

'आज ज्येष्ठ-पूर्णिमा है, ऐसे स्नानदान की आज कैसी महिमा है। क्या तुम मुझे फिर भी स्नानदान दोगे? नहीं! वरन् जलांजलि दोगे; देखो मैं कैसा प्यासा हूं और प्यास में भी चातकाभिमानी हूं। हां! जिस चातक ने एक श्याम घन की आशा पर परिपूर्ण समुद्र और नदियों तथा अनेक उत्तम मीठे-मीठे सोते, झील, कूप, तड़ाग, बावली और झरनों को तुच्छ करके छोड़ दिया, उसे पानी बरसना तो दूर रहै, जो मधुर घन की ध्वनि भी न सुन पड़े तो कैसे प्राण बचें!'

और 'प्रेमाश्रु-वर्णन का 'समर्पण' और भी भावात्मक है :

“प्रियतम,

यह प्रेमाश्रु की वर्षा है। इससे नहा के तब मुझे छूओ। क्योंकि बहुत धूर्तता करने से तुम अशुद्ध हो गए हो। क्या कहूँ, बहुत कुछ कहने को जी चाहता है, और लेखनी कहनी-अनकहनी सभी कहना चाहती है, पर क्या करें, अदब का स्थान है, इससे चुप है और चुप रहेगी।
.........यह बखेड़ा जाने दो, आज क्यों नहीं मिले!
.........लो इस वर्षा से जी बहलाओ।
पर प्यारे, तुम भी कभी बरसो।

श्रावन हरियारी अमावस } तुम्हारा चातक
गुरु पुष्य सं० १९३० } हरिश्चन्द्र”

यही नाटकीयता 'जैनकुतूहल' के तीन वाक्य वाले समर्पण में जहां वे अन्त में कहते हैं : 'तुम्हें मेरी सौगन्द, वाह वाह अवश्य कहना।'

वैसे उन्होंने कई ग्रन्थों की भूमिकाएँ ही नहीं लिखीं जैसे 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम-तरंग', उत्तरार्द्ध', 'भक्तमाल', 'सतसई-सिंगार', 'गीत-गोविन्दानन्द'”

निकले। आधुनिक हिन्दी कविता में शायद ही किसी अन्य काव्य-ग्रन्थ को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो।

अतः मुझे फिर से कहने दीजिए कि गुप्तजी आधुनिक हिंदी कविता के युग-उद्गाता ही नहीं, बल्कि युग-निर्माता हैं। बंगला में रवि बाबू के पहले माइकेल मधुसूदनदत्त से भी अधिक नवीनचन्द्र सेन ने जिस भावना का उद्बोधन किया। उसी प्रकार का कविता के अन्तरूप और बहिरूप का आमूल परिवर्तन गुप्तजी ने आधुनिक हिन्दी कविता के विकास के प्रथम-चरण में उपस्थित किया। संक्षेप में :

गुप्त-पूर्व हिन्दी-कविता

१. रीति-कालीन अवशेष।

विषय :

२. धार्मिक अथवा प्रकृति-वर्णनात्मक।

३. राष्ट्रीय कविताएँ आत्म-निरीक्षण की अपेक्षा वाह्य कारणों पर दोषारोपण अधिक करने की प्रवृत्ति।

४. छायावादी कविता और शैशव।

५. द्विवेदी-प्रणीत इतिवृत्तात्मकता।

विन्यास :

१. ब्रजभाषाः कवित्त-सवैये में स्फुट मुक्तक।

२. खड़ी-बोली, वर्ण-वृत्तों में रचना।

३. ठेठ हिंदी के ठाठ में चोखे-चुभते चौपदे।

४. सत्यनारायण, श्रीधर पाठक, रत्नाकरजी की अलंकृत लंबी वर्णन-शैली।

५. अंग्रेजी की छाया में प्रगीत मुक्तक।

गुप्तोत्तर हिन्दी-कविता

विषय :

१. नवीन विषय, अधिक रागात्मक।

२. धर्म और राष्ट्रीयता का सामञ्जस्य।

३. राष्ट्रीय दुर्दशा में आत्म-निरीक्षण की ओर प्रवृत्ति।

४. छायावाद में रहस्यवाद की पुट (झंकार)।

५. प्रबन्ध तथा खण्डकाव्यों का खड़ी बोली में प्रणयन।

विन्यास :

१. बोलियों की अपेक्षा एक भाषा का विकास।

२. वर्णिक वृत्तों की अपेक्षा मात्रिक वृत्तों का आकर्षक लचीलापन।

३. देशज शब्दों की ओर अधिक झुकाव।

४. सरल, सहज, हृदयस्पर्शी कथन।

५. प्रगीत मुक्तकों पर बंगला का प्रभाव, रवीन्द्रनाथ आदि का विशेष।

ऊपर मैंने केवल रेखाओं में, गुप्तजी द्वारा की गई युग-प्रवर्त्तक काव्य-क्रांति की झलक देने का प्रयत्न किया है।

जहाँ गुप्तजी हिन्दी-काव्य को एक आकार दे रहे थे, उनकी स्वयं की कविता भी आकार ग्रहण करती जा रही थी। स्थूल रूप से गुप्तजी की रचनाओं के साकेत-पूर्व तथा साकेतोत्तर ऐसे दो विभाग स्पष्ट दर्शित हैं। साकेत-पूर्व की रचनाओं में कवि में एक पौराणिक विषयों (यथा : जयद्रथ वध, पंचवटी, वनवैभवः चक्रसंहार, सैरन्ध्री) का गहरा आकर्षण है, वैसे ही अतीत इतिहास के उज्ज्वल अंशों की ओर भी बड़ी आसक्ति है। (यथा गुरुकुल, रंग में भंग, पलासी का युद्ध, विकट भट, अनघ आदि), एक तीसरी धारा उन्हें इतिहास से वर्तमान पर खींच लाती है। और भारत-भारती, किसान (फिजी आदि उसमें के अत्यन्त कारुणिक अंश), स्वदेश-संगीत, हिन्दू आदि इसी तीसरी विचार-धारा के प्रमाण हैं। इसी बीच में कवि रुबाइयात उमर खयाम का अनुवाद भी प्रस्तुत करता है। मूल के धार्मिक संस्कार रहस्योन्मुख हो उठते हैं। फलतः झंकार। विशुद्ध कविता की भी सुन्दर छटा साकेत के उर्मिला के विरह-प्रकरण में और यशोधरा के कई गीतों में प्रस्फुटित हो उठती है। यशोधरा तक कवि की प्रतिभा मध्यान्ह-काल तक पहुँचती है।

विपुलच्छाय न्यग्रोध की भांति, स्थविरता का सायान्ह शुरू होता है। 'द्वापर' में इसके चिह्न स्पष्ट हैं। कवि अब सोद्देश्य सतर्क कलाकार (कांशस आर्टिस्ट) बन गया है। कंस के चित्रण में, कुब्जा के चित्रण में सर्वत्र कवि की अन्तर्मनसा पर व्याप्त गांधीवाद के अहिंसा आदि मूल्य स्पष्ट हैं, जिनका विशदीकरण काबा और कर्बला तक और भी होता जाता है। परिणामतः 'कुणाल' एक भव्य और उत्तम विषय होने पर भी प्रासों की यांत्रिक हठाकृष्टता (जो कि अब आदत के कारण स्वाभाविक हो गई है) और सूत्रमयता से निस्सीम प्रेम के कारण प्रगीत खण्ड-काव्य के नाते उतना सफल नहीं उतरता। द्वापर की 'विधृता' तक कवि में कुछ प्रगीत-मुक्तक के लिए आवश्यक भावात्मक उड़ान शेष थी। बाद में जैसे कवि, कवि से अधिक भाष्यकार हो उठा। उसमें का चिंतक प्रधान हो गया, कवि गौण। विकल विश्व—जो कि कवि की गत महायुद्ध में प्रारम्भ

की हुई, परन्तु इस महायुद्ध में समाप्त की हुई रचना है, इसका अच्छा प्रमाण है। परन्तु चूंकि कवि की सभी कृतियाँ एक ही कोटि की कभी नहीं होतीं और हो भी नहीं सकतीं; अतः हम में का आलोचक इतना प्रखर न हो उठे कि कुशल व्रण-संशोधक की भांति केवल गुप्तजी के शब्द प्रयोगों पर वह झुँझला उठे और मक्खी-लक्खी, नक्र-चक्र वाले प्रासों का ही चर्चा करे। कुछ आलोचक शब्दों से आगे बढ़ ही नहीं पाते, यह उनकी बहुत बड़ी कमज़ोरी है। इस लिए गुप्तजी की रचनाओं के उन अंशों की चर्चा नहीं करनी चाहिए, जो इस प्रकार काव्य के गुणों से असम्पन्न हों, अपितु उनकी उन्हीं रचनाओं की ओर हमारा लक्ष्य हो जिन्होंने हिन्दी के नये कवियों में स्फूर्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुप्तजी की प्रतिभा आधुनिक की अपेक्षा प्राचीन विषयों में, वैसे ही वर्णनों की अपेक्षा सूक्तियों में, अतुकांत की अपेक्षा तुकांत में, प्रगीत मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य में अधिक सफल है।

इस स्थल पर मुझे 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा' नामक एक बहु-पदवी-विभूषित विद्वान् लेखक की पुस्तक में पृष्ठ १६७ पर जो गुप्तजी के 'साकेत' के सम्बन्ध में एक वाक्य है, उसका खण्डन आवश्यक जान पड़ता है। वे कहते हैं—'आपने हाल में साकेत, यशोधरा और द्वापर नामक काव्य भी प्रकाशित किये हैं, जिनमें पहला महाकाव्य है और कतिपय स्थल नीरस होने पर भी कवि की रसार्द्र प्रतिभा का परिचय देता है', आगे आप फरमाते हैं, 'आपकी रची छायावाद सम्बन्धी कविताओं का स्वयं उस परिपाटी के कवियों में यथेष्ट आदर है, जो आपकी व्यापक प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व का परिचय देते हुए आपको वर्तमान युग का प्रतिनिधि कवि सिद्ध करता है।' साहित्य के इन इतिहासकार महोदय की 'रस' की व्याख्या अनूठी है, अन्यथा साकेत के कौन से अंश आपको नीरस लगे, पता नहीं ! उसी प्रकार गुप्तजी जी की छायावादी रचनाएँ कौन-सी हैं, तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व का युग के प्रतिनिधि कवि होने में क्या संयोग है—यह सब विचारणीय बातें हैं। रस के मर्मज्ञ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'साकेत' के उन स्थलों के सम्बन्ध में, जो साधारणतः नीरस माने जाते हैं, अभिमत यों है—"दण्डकारण्य से लेकर लंका तक की घटनायें शत्रुघ्न के मुख से माँडवी और भरत के सामने पूरी रसात्मकता के साथ वर्णन कराई गई हैं।" गुप्तजी को छायावादी, तो सिवा रूप-रेखाकार के शायद ही किसी ने कहा हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसके विपरीत, स्पष्ट रूप से कहते हैं कि : "पर

यदि मानस-गोमुखी हमारी निरवधि नहीं झड़ेगी,
तो गर्तों में ही जीवन की धारा पड़ी सड़ेगी।
एक समय जो ग्राह्य, दूसरे समय त्याज्य होता है,
ऊष्मा में हिम के कम्बल का भार कौन ढोता है?
सजल रूपिणी पुरवैया-सी खिड़की से आती है।
और सील-सी लोकालय में रूढ़ि बैठ जाती है।
भिन्नाहार-विहार उचित ही समय समय के सारे,
समय समय की बुद्धि भिन्न है, भिन्न विचार हमारे।
समयाचार विभिन्न, भिन्न हैं युग-धर्मों की धृतियां,
आकृति-प्रकृति विभिन्न समय की भिन्न क्यों न हों कृतियां।
अपने युग को हीन समझना आत्म-हीनता होगी।
सजग रहो, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।
किस युग में हम हुए वही तो अपने लिए बड़ा है;
अहा! हमारे आगे कितना कर्म-क्षेत्र पड़ा है।

यह आशावाद का संदेश, यह नूतन के प्रति समुचित औदार्य, प्रगति का स्वागत और बात कहने की स्पष्टता अन्य साहित्यिकों के सीखने योग्य है।

बलराम यज्ञ-यागादि की व्यर्थता के सम्बन्ध में कहते हैं :

पुरखे यज्ञयाग करते थे, त्याग भाव था जिनमें,
किन्तु आज के यज्ञ देखलो, शेष रहा क्या इनमें?
दारुण हिंसा और दम्भ ही दिखलाई पड़ते हैं;
तृष्णा बुझती नहीं, रुधिर के झरने से झड़ते हैं।

ऐसे कई उद्धरण हैं। वे यदि दिये जायँ तो यह लेख एक ग्रन्थ बन जाय।

मैंने गुप्तजी की काव्यशैली और शब्द-प्रणयन में स्पष्टता, श्रोता तथा वक्ता के बीच एकात्मबोध, तथा सहजता का उल्लेख किया है। इसकी प्रशंसा गुप्तजी के सभी आलोचकों ने की है। प्रो० गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' एम० ए० अपनी 'गुप्तजी की कला' में पृष्ठ ४५ पर गुप्तजी के देशज, ग्रामीण बोलियों से लिये गये निम्न कई शब्दों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं : जताना, लेखना, जता देना, बखाना, धरती, झीमना, बिखेर, बटोर, बिसारेंगे, लहकाना, सुरभी, निराती, ठौर, तिधर, तनिके, सूरत, बरताव आदि। इस ओर कवियों का झुकाव होना आज की एक सबसे बड़ी आवश्यकता है, जबकि आधुनिक कविता की भाषा जनता की भाषा से इतनी दूर कटी हुई-सी, संस्कृत-बहुला हो

यदि मानस-गोमुखी हमारी निरवधि नहीं झड़ेगी,
तो गर्त्तों में ही जीवन की धारा पड़ी सड़ेगी।
एक समय जो ग्राह्य, दूसरे समय त्याज्य होता है,
ऊष्मा में हिम के कम्बल का भार कौन ढोता है?
सजल रूपिणी पुरवैया-सी खिड़की से आती है।
और सील-सी लोकालय में रूढ़ि बैठ जाती है।
भिन्नाहार-विहार उचित ही समय समय के सारे,
समय समय की बुद्धि भिन्न हैं, भिन्न विचार हमारे।
समयाचार विभिन्न, भिन्न हैं युग-धर्मों की धृतियां,
आकृति-प्रकृति विभिन्न समय की भिन्न क्यों न हों कृतियां।
अपने युग को हीन समझना आत्म-हीनता होगी।
सजग रहो, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।
किस युग में हम हुए वही तो अपने लिए बड़ा है;
अहा! हमारे आगे कितना कर्म-क्षेत्र पड़ा है।

यह आशावाद का संदेश, यह नूतन के प्रति समुचित औदार्य, प्रगति का स्वागत और बात कहने की स्पष्टता अन्य साहित्यिकों के सीखने योग्य है।

बलराम यज्ञ-यागादि की व्यर्थता के सम्बन्ध में कहते हैं :

पुरखे यज्ञयाग करते थे, त्याग भाव था जिनमें,
किन्तु आज के यज्ञ देखलो, शेष रहा क्या इनमें?
दारुण हिंसा और दम्भ ही दिखलाई पड़ते हैं;
तृष्णा बुझती नहीं, रुधिर के झरने से झड़ते हैं।

ऐसे कई उद्धरण हैं। वे यदि दिये जायँ तो यह लेख एक ग्रन्थ बन जाय।

मैंने गुप्तजी की काव्यशैली और शब्द-प्रणयन में स्पष्टता, श्रोता तथा वक्ता के बीच एकात्मबोध, तथा सहजता का उल्लेख किया है। इसकी प्रशंसा गुप्तजी के सभी आलोचकों ने की है। प्रो० गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' एम० ए० अपनी 'गुप्तजी की कला' में पृष्ठ ४५ पर गुप्तजी के देशज, ग्रामीण बोलियों से लिये गये निम्न कई शब्दों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं : जताना, लेखना, जता देना, बखाना, धरती, झीमना, बिखेर, बटोर, बिसारेंगे, लहकाना, सुरभी, निराती, ठौर, तिथर, तनिके, सूरत, बरताव आदि। इस ओर कवियों का झुकाव होना आज की एक सबसे बड़ी आवश्यकता है, जबकि आधुनिक कविता की भाषा जनता की भाषा से इतनी दूर कटी हुई-सी, संस्कृत-बहुला हो

पक्ष है, जो उसकी प्रेम-भावना को रहस्यमयता की गोद में छिपा देता है, जहाँ पतन भी उत्थान है, और रूप का आकर्षण भी 'आराध्य' की लीला-रति : 'बिन बिगड़ी सदियों में झाँका तुझे झाँकना पाप हुआ ?' या 'रमा कहूँ या राम कहूँ !' वाली पद्पदियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। 'वन में ? ना सखि, वनमाली में !' गीत भी बहुत लोकप्रिय है।

यों माखनलाल जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक प्रमुख रूप, जो कवि 'एक भारतीय आत्मा' है, उसमें तीन धाराएँ एक साथ संगमवती हैं, प्रकृति, देश-प्रेम और प्रणय के कण-कण में उन्होंने बलि-पंथी की आराध्य के प्रति निरन्तर जलते रहने वाली 'शाश्वत द्रोह' की प्रकाश-रेखा देखी है। इसी कारण से उनकी कविता में कबीर जैसा भाषा का अनसंवरा अटपटापन है, पर मिठास है, दुरुह सांकेतिकता है, परन्तु त्रिगुणात्मक श्लेष भी है।

रखे लज्जा क्यों संत कपास
बेधकर हार-हार जो न हो
अरे हो जाय रुधिर बेस्वाद
लाड़ला मरण-ज्वार जो न हो !

उनके गद्य लेखन पर स्वामी रामतीर्थ का और उनके गुरु माधव राव सप्रे की मारफत कई मराठी लेखकों के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनके गद्य में जहाँ वक्तृत्व की सी ताजगी और दृष्टान्तों की भरमार होती है, वहाँ वक्रोक्ति विनोबा वाली सूत्र-मयता और श्लिष्ट पदावली का अनूठा शब्द-शिल्प मिलता है। 'साहित्य-देवता' के गद्य काव्यात्मक भाव-निबंध, 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक और अभी तक संग्रहाकार न छपी, उनकी बहुत अपने ही ढंग की कहानियाँ (जैसे 'कर्मवीर' में छपी 'रंगरेज के लड़के की कहानी,' या 'विशाल भारत' कहानी अंक में छपी 'जेल की बिल्ली की कहानी' आदि)—उस 'स्टाइलाइज्ड' गद्य के नमूने हैं।

कवि पर 'एक भारतीय आत्मा' और 'साहित्य-देवता' के गद्यकार के अलावा इस प्रतिभा का एक रूप है 'कर्मवीर' ! 'प्रताप' के बाद वे इस पत्र का अपने ढंग से संपादन कर रहे हैं, और कभी-कभी उनके संपादकीय इतनी निर्मम, तीक्ष्ण, असिधार-सी प्रखरता लिये होते हैं कि उनके लिए राजनीति उनके जीवन के श्वासों का ताना-बाना बन जाती है। अपनी कविता में वे पूछते हैं :

सखे, बता दे, कैसे गा दूँ, अमृत मौत का दाम न हो,
जगे एशिया, हिले विश्व औ' राजनीति का नाम न हो ?

इस पत्रकार रूप से भी अधिक निखरा हुआ उनका रूप है वक्ता का।

'एक भारतीय आत्मा' *******

"मत बोलो बेरस की बातें, रस उसका जिसकी तरुणाई।
रस उसका जिसने सिर सौंपा, आगी लगा, भभत रमाई॥"

'प्रतिभा' शब्द हिन्दी की जिस कवित्वमयी विभूति को विशेषित कर स्वयं गौरवान्वित हो, वह हैं पंडित माखनलाल चतुर्वेदी! उनकी प्रतिभा के अनेक रूप हैं। वे प्रकृति के कोमल पक्ष के 'झरने' जैसे गायक हैं—रेवा के तट ने और बैतूल के वनों ने उन्हें प्रेरणा दी है; वे तरुणाई की शिरा-शिराओं में रक्त-संचार करने वाले बलिपंथी राष्ट्रीय जागरण के कवि हैं। तिलक को जेल हुई और इस कर्मवीर ने एक लम्बी कविता लिखी, कृष्णमंदिर में लिखी 'क़ैदी और कोकिला' तो सुविश्रुत ही है, १५ अगस्त '४७ पर लखनऊ से रेडियो पर प्रसारित कविता में लाल किले को उन्होंने विश्व को स्मरण दिलाने उठी हुई उँगली की उपमा दी और 'संगम' में २६ जनवरी पर लिखी ओजस्विनी रचना वह सब बार-बार गूंजकर 'मोमबत्तियों के मरण-त्योहार' की याद दिलाने वाली वे पँक्तियाँ हैं कि—

बलि के कम्पन में जो आती भटकी हुई मिठास,
यौवन के बाजीगर, करता हूँ उस पर विश्वास।

सम्वत् १९४५ में जन्म लेकर भी अभी भी तरुणों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलने वाला यह कवि अपनी वाणी की प्रखरता में एक प्रणय का उन्माद-सा लिये हुए है। सुभद्रा की 'झाँसी की रानी' और 'नवीन' का प्रलय-गीत तो उसी ध्वनि की बाद की प्रतिध्वनियाँ हैं, दिनकर की 'हुंकार' भी उसी परम्परा की प्रतिगूंज है। बलिदान के इस अमर-गायक की कविता का एक और

पक्ष है, जो उसकी प्रेम-भावना को रहस्यमयता की गोद में छिपा देता है, जहाँ पतन भी उत्थान है, और रूप का आकर्षण भी 'आराध्य' की लीला-रति : 'किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका तुझे झाँकना पाप हुआ ?' या 'रमा कहूँ या राम कहूँ ?' वाली षट्पदियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। 'वन में ? ना सखि, वनमाली में !' गीत भी बहुत लोकप्रिय है।

यों माखनलाल जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक प्रमुख रूप, जो कवि 'एक भारतीय आत्मा' है, उसमें तीन धाराएँ एक साथ संगमवती हैं, प्रकृति, देश-प्रेम और प्रणय के कण-कण में उन्होंने बलि-पंथी की आराध्य के प्रति निरन्तर जलते रहने वाली 'शाश्वत टोह' की प्रकाश-रेखा देखी है। इसी कारण से उनकी कविता में कबीर जैसा भाषा का अनसंवरा अटपटापन है, पर मिठास है, दुरूह सांकेतिकता है, परन्तु त्रिगुणात्मक श्लेष भी है।

रखे लज्जा क्यों संत कपास
बेधकर बार-बार जो न हो
अरे हो जाय रुधिर बेस्वाद
लादला मरण-ज्वार जो न हो !

उनके गद्य लेखन पर स्वामी रामतीर्थ का और उनके गुरु माधव राव सप्रे की मारफत कई मराठी लेखकों के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनके गद्य में जहाँ वक्तृत्व की सी ताजगी और दृष्टान्तों की भरमार होती है, वहाँ वक्रोक्ति विनोबा वाली सूत्र-मयता और श्लिष्ट पदावली का अनूठा शब्द-शिल्प मिलता है। 'साहित्य-देवता' के गद्य काव्यात्मक भाव-निबंध, 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक और अभी तक संग्रहाकार न छपी, उनकी बहुत अपने ही ढंग की कहानियाँ (जैसे 'कर्मवीर' में छपी 'रंगरेज के लड़के की कहानी,' या 'विशाल भारत' कहानी अंक में छपी 'जेल की बिल्ली की कहानी' आदि)—उस 'स्टाइलाइज्ड' गद्य के नमूने हैं।

कवि पर 'एक भारतीय आत्मा' और 'साहित्य-देवता' के गद्यकार के अलावा इस प्रतिभा का एक रूप है 'कर्मवीर' ! 'प्रताप' के बाद वे इस पत्र का अपने ढंग से संपादन कर रहे हैं, और कभी-कभी उनके संपादकीय इतनी निर्मम, तीक्ष्ण, असिधार-सी प्रखरता लिये होते हैं कि उनके लिए राजनीति उनके जीवन के श्वासों का ताना-बाना बन जाती है। अपनी कविता में वे पूछते हैं :

सखे, बता दे, कैसे गा दूँ, अमृत मौत का दाम न हो,
जगे एशिया, हिले विश्व औ' राजनीति का नाम न हो ?

इस पत्रकार रूप से भी अधिक निखरा हुआ उनका रूप है वक्ता का।

जिसने माखनलाल जी का वक्तृत्व एक बार भी सुना हो, वह उससे प्रभावित, मंत्र-मुग्ध हुए विना नहीं रह सकता। ऐसी सूझ का धनी, भाषा का 'सहज दुलीचा बांधकर ज्ञान के हाथी पर चढ़ने वाला' मार्मिक, असखलित, धारावाही वक्ता हिन्दी के इतने प्रोफेसरों, डाक्टरों, बाजीगरों में एक भी मुश्किल से मिलेगा। उनका एक अपना अन्दाज है, एक अपना लहजा है, वे श्रोताओं को अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की धार में लपेट लेते हैं। इतनी सुन्दर भाषण-कला हिंदी में एक ही व्यक्ति की है—वह उनकी अपनी शैली है।

इस बहुमुखी साहित्यकार का जीवन बहुत सरल, त्याग और तपस्या का जीवन रहा है। बैतूल में जन्म, जीवन के आठवें-दसवें वर्ष पेड़ों पर चाकू से काटकर तुकबन्दी रचने वाला यह साधारण अध्यापक अपने लम्बे विधुर-जीवन में अनेक बार जेल का बन्दी बना। गणेशशंकर विद्यार्थी की प्रेरणा से पत्रकार बना। और मध्य प्रदेश के अनेक अविकसित और अर्धविकसित मोतियों यही मालाकार और जौहरी बना। साहित्य के क्षेत्र का अनाभिशक्ति सम्राट् संवत् २००० में हरिद्वार हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बना, और 'सोने-चांदी के टुकड़ों पर उसका मसौदा?' लिखने वाले रचनाकार की रजततुला बनी। जीवन में लिखा बहुत। छपाया करीब नहीं के बराबर, ये 'हिमकिरीटिनी,' 'हिमतरंगिणी' बहुत देर से छपे संग्रह हैं—सो भी प्रतिनिधिक नहीं। यह कला का एकांत साधक नाम के पीछे कभी नहीं रहा। रूढ़िद्वार से निरन्तर पीड़ित यह तरुणों को सदा प्रोत्साहन ही देता रहा, कभी इसने मसि और असि को एक मानने वाले रस की सरिता को सूखने न दिया।

यहाँ व्यक्तिगत संस्मरणों पर उतरता हूँ, गो सब इस छोटे से चित्र में लिख सकना सम्भव नहीं। इन पंक्तियों के लेखक ने हिंदी में सन् १९३१ से लिखना शुरू किया, मुझे जो पथ प्रदर्शक, साहित्य में प्रेरणादाता गुरुतुल्य लेखक मिले, उनमें कविता में माखनलालजी प्रथम हैं, गद्य में स्व. प्रेमचन्द्र जी। सन् १९३२ में इंदौर में अ. भा. पत्रकार सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, शायद प्रो. इंद्र सभापति थे। तब मैंने एक कविता 'समाप्ति' कविसम्मेलन में पढ़ी, जिस पर मुझे प्रथम कविता का रजत-पदक मिला। पं. गिरधर शर्मा कविरत्न ने वह पदक मुझे दिया। माखनलाल जी निर्णायकों में से थे। कविता पंत जी के 'परिवर्तन' से मिलती जुलती थी—यह बाद में मैंने जाना। तब से विद्यार्थी-काल में इंटरमीडिएट की अवस्था से माखनलाल जी से मेरा बहुत संपर्क—सहवास बढ़ा। मैं और मेरे तब के साहित्यिक मित्र श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने

प्रो. शांतिप्रसाद वर्मा के सहयोग से अभिनव साहित्य परिषद् स्थापित की। हरिकृष्ण 'प्रेमी' की अध्यक्षता में मैंने 'अकाश गंगा' नामक लम्बी कविता पढ़ी, जिस पर माखनलाल जी ने अपने भाषण में बहुत प्रोत्साहित करने वाले शब्द कहे। मेरी पहली कविता 'अप्सरा द्वीप' उसी काल में 'कर्मवीर' में छपी। फिर तो मैं निरन्तर 'कर्मवीर' में विंध्यकुमार नाम से और अपने नाम से भी गद्य-काव्य, छुटफुट कहानियाँ, लेखादि लिखता रहा, 'प्रेमी', रामवृक्ष बेनीपुरी और प्रभागचन्द्र शर्मा तीनों के सह-संपादन काल में। अब तक मैंने उनके पत्र 'कर्मवीर' में कम-से-कम १०० कविताएँ, ५० गद्यकाव्य और लघुतम कथाएँ तथा २५ लेख-समीक्षाएँ तो सहज ही लिखी होंगी। सन् ३४ में बम्बई की अखिल भारतीय कांग्रेस में, जिसमें राजेन्द्र बाबू सभापति थे, सभापति के अंग्रेजी भाषण का हिंदी अनुवाद माखनलाल जी, रामवृक्ष बेनीपुरी जी और मैंने रातों-रात जागकर किया था। बेनीपुरी जी ने अपने एक लेख में 'पारिजात' में इसका हवाला दिया है। सन् ३६ में प्रयाग में हिंदुस्तानी एकेडेमी के जलसे में मैं उनके साथ आया। और बाद में मैं जहाँ-जहाँ भी रहा, चाहे इंदौर हो या आगरा, उज्जैन हो या रतलाम, अहमदाबाद या वर्धा, वे नित्य मेरे विषय में पूछते रहते, पत्र लिखते रहते। सन् ३९ के बाद से जब-जब मैं सेवाग्राम में जाता आता तो राह में एक ट्रेन से रुककर खंडवा अवश्य उतरता उनसे मिलना एक साहित्यिक तीर्थ-यात्रा का पुण्य-पाना है। उन्हें उनके शिष्यजन 'दादा' कहते हैं, और वे अपने मधुर स्वभाव, आतिथ्य और ममता से किसी को भी अभिभूत कर देते हैं। स्थानाभाव से मेरे पास संग्रहीत उनके दर्जनों पत्रों में से मैं एक भी नहीं दे पा रहा हूँ।

एक संस्मरण मेरे लिए चिर-स्मरणीय है। सन् ३४ में बम्बई काँग्रेस के मध्य प्रदेश शिविर में माखनलाल जी ठहरे थे। वहीं मैं भी विद्यार्थी-दर्शक के नाते गया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. महेश मिश्र जानते हैं। प्रेमचंद जी तब अजंता सिनेटोन में नहीं थे। वे माखनलाल जी से मिलते आये। खूब ठहाके रहे। प्रेमचंद के चेहरे की झुर्री-झुर्री सिन्दूरी हो गयी। माखनलाल जी में वार्तालाप-कुशलता और 'विट' अत्यधिक है। उन्हें हँसते रहे, हँसाते रहे। बात कहानी और निबंध की चली थी। अब मुझे धुंधली-सी स्मृति है। एक जूते को पालिस करने वाला छोकड़ा वहाँ शिविर के अस्थायी आवास में घुस आया। माखनलाल जी ने मराठी में उस लड़के से मजाक किया। जूता काला करने के बजाय, तू अपना ही मुँह काला कर (अर्थात् जा)

: १२ :

जयशंकर 'प्रसाद' **********

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' रहस्यवादी कवि तथा अमर नारी-चरित्रों के रच-यिता नाटककार तथा कथाकार माने जाते हैं। 'कामायनी' के मनःशक्ति-दर्शक प्रतीक पात्र श्रद्धा और इडा; 'कामना' की रूपकमयी पात्रियाँ लालसा, लीला और 'कामना'; 'स्कंदगुप्त' की वज्र कठोरा 'अनन्तदेवी' और 'अजातशत्रु' की 'छलना' और कुसुमकोमला 'देवसेना' तथा 'मल्लिका'; 'वासवी' और 'मालविका' जैसी सती प्रेमिकाएँ तथा 'सुरमा' और 'शमा' जैसी वारयोषिताएं; 'मागंधी' (अजातशत्रु) और 'दामिनी' (जनमेजय का नाग-यज्ञ) जैसी अतृप्तवासना-मयी मानवियाँ; 'कोमा' और 'राज्यश्री' जैसी करुणा की छायाएँ; 'चन्द्रलेखा' (विशाख) और'ध्रुवस्वामिनी' जैसी रूपसियाँ; 'तितली' और 'घंटी' जैसी उपन्यास-सृष्टि की मूल-सूत्रिकाएं; और लघु-आख्यायिकाओं की अनन्त सृष्टियाँ यथा 'नूरी' 'इरावती', 'सदानीरा', 'दासी', 'अलका', आदि-आदि—नारीचरित्र-चित्रण के कई प्रकार के प्रमाण 'प्रसाद' के साहित्य में हमें कलाकार की कुशलतूलिका से अंकित मिलते हैं। प्रस्तुत लेख में रहस्यवादियों का नारी भावना से सम्बन्ध तथा 'प्रसाद' की रचनाओं में से कुछ उदाहरणों से इस 'आदिशक्ति' नारी का वैविध्य-पूर्ण निरूपण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

पूर्व तथा पश्चिम के कई रहस्यवादी परम-तत्व के साथ मानवात्मा का 'बंध, परम-पुरुष के साथ नारी-प्रकृति के चिरन्तन स्नेह-सम्बन्ध के समान मानते हैं। कावेन्ट्री पेटमोर ने लिखा है कि 'दि रिलेशन आफ दि सोल टु दि क्राइस्ट एज हिज बिट्रोथ्ड वाइफ इज ए माइन आफ अनडिस्कवर्ड ज्वाय एण्ड पावर'

(अर्थात्—आत्मा का ईसा से इस प्रकार सम्बन्ध मानो कि वह उसकी वाग्दत्ता वधू है, यह भावना ही अनन्य आनन्द और शक्ति की मूल खान है)। परमात्मा को वर तथा अपनी आत्मा को वधू मानने का भाव हेनरी वाघान के 'दिवर्ल्ड'; टेनीसन के 'सेंट एग्नेसेज ईव' तथा पैटमोर की 'क्राइ आफ मिडनाइट' कविताओं में निदर्शित है। जयदेव के राधा-माधव भी तो उसी अनन्तआसक्ति के मूर्त रूप मात्र हैं। आत्म-तत्व की आत्मोपरि-तत्व (ओवरसोल) से मिलन-लालस विश्व के साहित्य में अनेकानेक रूपों में अभिव्यंजित हुई है।' 'वागार्थभिवसंपृक्तौ'—पार्वती परमेश्वर का यह कवि कुलगुरु द्वारा प्रशंसित रूप कभी अर्द्धनारी-नटेश्वर रूप में प्रकट हुआ है, तो भी रामकृष्ण परमहंस द्वारा चिन्मय-तत्व को महामयी मातृशक्ति के रूप में मानने में। स्त्री और पुरुष वस्तुतः उसी लीलामय की दो व्यंजनाएँ मात्र हैं; अतः कौन हीन और कौन उच्च ? वाल्ट विटमैन के शब्दों में, 'सॉग आफ माइसेल्फ' में—

'आइ एम दि पोएट आफ दि वूमन दि सेम एज दि मैन,
एंड आइ से इट इज एज ग्रेट टु बी ए वूमन एज टु बी ए मैन,
एंड आइ से देअर इज नथिंग ग्रेटर दैन दि मदर आफ मैन !

अर्थात्—मैं नारी तथा नर दोनों का कवि हूँ। नारी बनना उतना ही महान है जितना नर बनना। और मैं कहता हूँ कि मनुष्यों की माता से महत्तर कुछ भी नहीं है ! 'न मातुः पर दैवतम्' वाला यह भाव अन्यान्य रहस्यवादी कवियों और भक्तों में प्रचुरता से मिलता है।

शक्ति के अनन्त रूप

दक्षिण भारत के भक्त-कवियों में इस शक्ति के अनन्त रूपों की स्तुति है : वह पुरुष का आनन्द-केन्द्र, पतितों की उद्धारिका, वस्तुओं का मूल-स्रोत, स्वयम् ओम्स्वरूपिणी है। स्वर्गीया सरोजिनी नायडू के शब्दों में वह कालीमाता है जो 'क्रूर, कोमल तथा स्वर्गीय' सब एक साथ है। वह शिवगंगा की राजराजेश्वरी हो चाहे तिरुवैयार की धर्मसंवर्द्धनी ; मदुरा की मीनाक्षी हो या कांची की कामाक्षी, त्रिच-नापल्ली की सुगंधकुतला हो या वर्पपुरी की फलदम्बिका, है वह वही प्रतिमा की प्रेरिका महामाता।

यदिध्यम् तव पुत्रोहम् माता त्वम् यदि मामकी,
दयापयोधरस्तन्य सुधाभि, राभि राभिशिंच माम्।

शंकराचार्य ने अपनी जीवनेच्छा यों व्यक्त की है :

निस्सन्देह, मागंधी का चरित्र 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य का सबसे कौतूहलपूर्ण अतएव आकर्षक चरित्र है। उसके मनोरंजक चरित्र पर एक विहंगम दृष्टि अरुचिकर न होगी। प्रथम तो वह हमारे सम्मुख उदयन की रानी, कौशाम्बी की राज-रानी के समान आती है, जिसे रूप का गर्व है और है अनादृत तथा तिरस्कृत होने का प्रतिशोध पूर्ण ज्वाला। प्रतिशोध की प्रवृत्ति उसे वेश्या, काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी बनाती है। अब वह वात्सल्य-ज्वाला से मुक्त है। उसके मृदुल विचार में—'स्वर्ण पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख-भोग मिलेगा जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है?' शैलेन्द्र में वह प्रीति जुड़ाती है, लौह-कठोर डाकू को प्रेम-पात्र बना उसे अपने प्रेम पाश में बाँध रखना चाहती है; या यों कहें कि एक हिंसक पशु को पालतू बनने का असफल उद्योग करती है, किन्तु वह सोचती है—'इस पामरी की गोद में मुँह छिपाकर कितने दिन बिताऊँ?' मदिरा पिलाकर वह उसका गला घोंटता है। गौतम द्वारा उसकी प्राण-रक्षा होती है। पुनः आम्रपाली के रूप में जीवन बिताने का संकल्प कर उसने गौतम को प्राप्त किया, किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में यौवन के प्रथम चरण में प्राप्त करना चाहा था।

कोमा ("ध्रुवस्वामिनी") और देवसेना ('स्कन्दगुप्त') के चरित्रों में नारी-जीवन की करुणा (फेमिनिन ट्रैजिडी) निहित है। शकराज से प्रेम करने का (जो कि ध्रुवस्वामिनी के मन में घोर अपराध है।) उसे जो दण्ड मिला वह उसी के शब्दों में है ('वही जो स्त्रियों को प्रायः मिला करता है')—

सुन्दर मुख का होता है सर्वत्र ही
विजय, उसे कर सकता कोई भी नहीं।
रमणी के सुकुमार अंग पर केशरी
सम्हल-सम्हल कर करता प्रेम प्रकाश है,
'प्रिये ! तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत हो कर वह कानन केसरी,
दांत लगा न सका, देखा गान्धार का
सुन्दर दाख'—कहा नचाय ने प्रेम से।
सुमन कुन्ज में पंचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा—'चुप भी रहिये ज़रा
जिसकी नारी छोड़ी जाकर शत्रु से,
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर !'

नारी-हृदय की परिभाषा

नारी में दुःख सहन की जो क्षमता होती है, उसका शरच्चन्द्र और जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में बड़ा चित्रण किया है। राज्यश्री दिवाकर मित्र के तपोवन में कहती है—'दुखों को छोड़कर और कोई न मुझ से मिला मेरा चिर-सहचर ! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी। आर्य मुझे आज्ञा दीजिये। स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य पालन करती हुई इस क्षणभंगुर संसार से विदाई लूँ—नित्य की ज्वाला से, यह चिन्ता की ज्वाला प्राण बचावे' (पृ० ६२)। 'विशाख' की चन्द्रलेखा कहती है—'बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते।' (पृ० १३)। वही भाव चन्द्रगुप्त की मालविका दुहराती है—'जाओ प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिर-दुखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर। यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ...स्मृति, तू मेरी तरह सो जा !' (पृ० २२०)।

प्रसाद जी के आनन्दवाद के मूल में एक प्रकार का सूक्ष्म नियतिवाद संव्याप्त है। वह यह मानकर ही चलते हैं कि मानो पीड़ा की घुट्टी आत्मा के जन्म के साथ लगी हुई है। जैसे ध्रुवस्वामिनी पृ० २६ पर कहती है—'यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठिन आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है ?' पर अन्त में 'प्रसाद' कुछ द्वन्द्व में पड़े थे, और उनके नियतिवाद में शब्दप्रामाण्य का

विश्वास डिगने लगा था, तभी मंदाकिनी इसी नाटक में पृष्ठ ५३ पर कहती है—'आर्य! आप बोलते क्यों नहीं? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें?' इसीलिए 'प्रसाद' का कलाकार नारी के निश्छल हृदय के शान्त-सुख की सराहना करता है। जनमेजय के नाग-यज्ञ की 'कलिका' कहती है—'साधारण मनुष्यता से कुछ ऊँचे उठा लेने वाला दम्भ, हृदय को बड़े वेग से पटक देता है, जिससे वह चूर हो जाता है! महादेवी, चूर होकर, मार्ग की धूल में मिलकर, समता का अनुभव करते हुए चरणचिह्नों की गोद में लोटना भी एक प्रकार का सुख है, जो सब की समझ में नहीं आता।' (पृ० ७८)।

अन्ततः 'अजातशत्रु' की वासवी के शब्दों में पृ० १२१ पर नारी-हृदय की जो परिभाषा मिलती है, वही 'प्रसाद' का भी अभिमत जान पड़ता है: 'नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है। शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।'

: १३ :

'नवीन'

****

'डग डग रोटी, पग पग नीर' वाला मालवा (मध्य भारत) कालिदास के जमाने से आज तक साहित्यिक प्रतिभाओं की बड़ी सरस उपजाऊ भूमि रही है। इसी भूमि से पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश कवि मिले। आधुनिक काल में मराठी कवि तांबे, स्व०रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' इसी भूमि के रत्न थे। हिंदी-काव्य-क्षेत्र को इसी भूमि के कई कवियों ने सींचा है, सर्वश्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', शिवमंगलसिंह 'सुमन', वीरेन्द्रकुमार जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, हरि व्यास, नरेश मेहता, महेन्द्र भटनागर, इंदिरा गुप्त और मैं हूँ। इन सब में अनन्य साधारण हैं 'नवीन जी'।

"हम 'नवीन' मतवाले" अपने-आपको कविता में लिखने वाले श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' एक मस्त-मौला मालव-पुत्र हैं। उन्होंने सदा बृहत्तर श्रेयस के लिए लघुतर प्रेयों का त्याग किया है। इसी में उनके कवि-व्यक्तित्व की परम-सार्थकता है। उन्होंने बहुत बचपन में अपना घर छोड़ा। मध्यभारत से उत्तर-प्रदेश में आये। कानपुर में स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी जी के चरण-पद्मों में पत्रकारी सीखी, उसे राजनीतिक आन्दोलनों की पुकार पर छोड़ा। अन्ततः आकर राजनीतिक सत्ताओं के संघर्ष में हिन्दी के प्रेम और सेवा के लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े पदों का भी त्याग किया। 'यह शाश्वत टोह' उनके अंतराल को सदा मथती रही है। इसी ने उन्हें वर्षों तक 'हम अनिकेतन, हम-अनिकेतन' बना दिया था। 'क्वाँरी की यह टेर मेरी!' उनके हृदय के अन्तरतम में व्यापी हुई है। वही उनकी आत्मा में से बार-बार हुँकार कर उठती है—'सिरजन की ललकारें मेरी!' उनके व्यक्तित्व में तीन सूत्र जैसे एकप्राण हो गये हैं: मर्मी अध्यात्मवादी, ब्रह्मवादी,

जुझारू; आत्म-प्रगल्भ नेता ; प्रणय-व्याकुल, सौन्दर्योपासक, [illegible] । यह तीनों स्वर उनकी रचनाओं में बार-बार उभर कर सामने आते हैं ।

उनकी काव्यरचना में एक [illegible] है; उनकी भाषा की बनावट, उनकी अपनी शैली है; 'यह रंग ही नया है । कुछ और ही खुमार है !' यह [illegible] का खरापन, यह अक्खड़पन और सहजता उनकी कविता में एक नया ही रंग भर देती है । वस्तुतः, 'कुंकुम' या 'अपलक', ये दो प्रकाशित संग्रह उनके व्यक्तित्व का संपूर्ण चित्र नहीं उपस्थित करते । उनकी अप्रकाशित रचनाओं में उनका व्यक्तित्व कहीं अधिक निखरा है । इसीलिए इस [illegible] लेख में उनके संग्रहाकार न हुए पद्यों के अधिक उद्धरण हैं ।

'सुन्दर' की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :

ओ सौंदर्य-उपासक, तुमने सुन्दर का स्वरूप क्या जाना ?
मधुर, मंजु, सुकुमार, मृदुल को ही क्या तुमने सुन्दर माना ?
क्यों देते हो चिर-सुन्दर को इतने छोटे सीमा बन्धन ?
कठिन, कराल, ज्वलंत, प्रखर भी है सौंदर्य-प्रकेत चिरंतन !
ललित, चारु, लघु, कोमल, तनुपर हिय न्योछावर करने वालो,
मधुर, मधुर, सुकुमार गीत के तुम मनहर स्वर भरने वालो,
नहीं हुई है पूर्ण तुम्हारी सुन्दर की अर्चना अलौकिक,
चिर सुन्दर का सूचन तुम्हारा रहा अभी तक केवल मौखिक,
जब तक उसकी वह कराल छवि कर न सकोगे मनसे स्वीकृत,
तब तक नहीं हो सकोगे तुम सुन्दर के द्वारा अंगीकृत ।
ओज, तेज, विक्रम वज्र, दृढ़ता, महानाश-क्षमता, निर्ममता,
अडिग धीरता, कुलिशकठिनता, भीम शक्तिमत्ता, चित्-समता,
नित अपराजित सहनशीलता, नित्य अकंपित नवल सृजन-रति,
नित बाधा-भूधर उत्पाटन, नित्य क्रान्ति-कृति, नित अबाध गति,
ऐसा है सौंदर्य समुच्चय, ऐसा है वह सुन्दर प्रियवर,
ऐसा है वह जीवन-रंजन, ऐसी है उसकी छवि हिय-हर !

'नवीन' जी के काव्य में इसी प्रकार के परुष, सम्पूर्ण-सत्य-दर्शी सौंदर्य के दर्शन होते हैं । वे केवल 'कोमल से कोमलतर, कोमलतर से कोमलतम', सौंदर्य से संतुष्ट नहीं । इसी कारण से जहाँ-जहाँ भी उन्होंने अपनी कविता में अपना उल्लेख किया है, चाहे वह 'कुंकुम' के 'पराजय-गीत' में हो, चाहे 'अपलक' के '४६-वें वर्षान्त के दिन' या 'पगढ सिंहावलोकन' में हो, वे सदा अपने विषय में

आश्वस्त, अपने वैराग्य में भी आनन्द लेनेवाले आत्म-स्वीकृति के रस से सराबोर हैं। 'अपलक' के 'हम हैं मस्त फकीर' गीत में वह लिखते हैं :

तुम्हें मिली है मानव हिय की यह चंचल ठकुरास !
पर, हमको तो मिली अचंचल मस्ती की जागीर !
तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन, प्राचीन !
क्यों भूलो हो कि हम अमर हैं! हम हैं लौह शरीर !!
हम हैं मस्त-फकीर !!

उनकी कविताओं का अधिकाँश उनके कारागृह-जीवन में लिखा गया है। अतः उनमें स्मृति-तत्त्व का आधिक्य स्वाभाविक है। उन्होंने अपने-आपको कुरेद-कुरेद कर कोसा है, बुरा-भला कहा है, स्वयं का मूल्याँकन निर्मम भाव से किया है। उनकी कविता का एक प्रधान स्वर इस आत्म-दुर्बलता की स्वीकृति और आत्म-गौरव के आग्रह के बीच के द्वन्द्व से उपजा है। दो उदाहरण मेरी बात को स्पष्ट करेंगे :

१. हम अलख निरंजन के वंशज

हमने भी पाया अजब हृदय, हम जग को करने प्यार चले
पर अजब तमाशा हुआ यहाँ, हम सब के हो हिय हार चले
जिस जिसको हमने अपनाया, वह बेगाना हो गया यहाँ—
मरु में स्नेह-वर्षण करते इस जग में हम बेकार चले !
हम रहे फुट फैवल यों पर हम इधर-उधर हिय हार चले—
जीवन की इस डगरी में हम अपना सब कुछ ही वार चले
जिनको हमने अपना समझा वे ही अब हमसे कहते हैं—
तुम कौन हमारे होते हो ? तुम गलत धारणा धार चले !
हम जन्मजात बौडम ठहरे हमको कब आई अकल जरा ?
इस छन भी तो उन सब के हित हम हो जाते हैं विकल ज़रा।
ऐसा कुछ लगता है गोया अपने ही दिल के टुकड़े को—
अपना-सा कर पाने में हम हो गये यहाँ पर विफल ज़रा।
हम पास बढ़े जितना उनके वे उतना हमसे दूर हुए,
वत्सलता, स्नेह, दुलार, प्यार, सब उनको नामंजूर हुए:
हम थे मुग़ालते में अब तक, जब ठेस लगी तब होश हुआ—
इस खरी आँच के लगते ही, हिय के संभ्रम बेनूर हुए।
फिर भी हम तो हैं मस्ताने, है हमें न ख्वाहिश दानों की—

हम नहीं भिखारी दर-दर के परवाह न जिन [illegible] थी—
हम अलख निरंजन के वंशज [illegible] के हम [illegible]
अपना सबकुछ देने में ही है [illegible] थी।
और इससे भी ज्यादा [illegible] है :

२. आग-डूँगा

रंग छिड़काये हैं, राग गाये हैं
हम परेशानियाँ उठाये हैं
रोज़ कहते हो बस ज़रा ठहरो
हम अभी एक दिन में आते हैं!
कब से यह नेह दीप टिमटिमाता है
क्या कभी ध्यान तुमको आता है?
हुए चालीस बरस से ऊपर—
तेल अब ख़त्म हुआ जाता है!
आग तड़पे कि गेरुआ जागी
कैसे हो मन विशुद्ध वैरागी?
रंगामेज़ी या खेल जब हो तो
क्यों न सब सृष्टि बने अनुरागी?
हमने चाहा कि बाँध लें मन को
तुमने सोचा कि मृत्तिका-कन को
इतनी जुरयत कि बने स्पंदनहीन?
और दे थाम इस रुधिर-रन को?
हमने कब गर्व किया संयम का?
जोग-वैराग का, नियम-यम का?
हममें यह ताब कहाँ है, पीतम;
जो कि हम दम भरें परिश्रम का?
आज भी हूक उठ ही आती है,
औ' तबीयत य' लुट ही जाती है,
कुछ हुए हैं अजीब वाके नवीन
उनकी उम्मीद कब बर आती है?

उनके इसी मस्त फक्कड़पन ने एक ओर उनकी कविता में धरती की सौंधी ताज़गी बनाये रखी है। जैसे 'कुंकुम' में ब्रजभाषा की रचना 'अपनी प्रीत को

मरम गुइयाँ काहू को बतैयो ना' या 'माधुरी' के पत्रांक में प्रकाशित बहन को भाई के जेल से पत्र या 'ढोले वालो' नाम की कजरी और दूसरी ओर उनकी रचनाओं में एक विद्रोहपूर्ण अराजकता का अनिर्बंध स्वर भरा है। (जिसे प्रगतिवादी मित्रों ने गलती से प्रगतिवादी लेख समझा था।) राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में यह ध्वंसवादी, अराजकवादी स्वर प्रायः सभी भाषाओं के कवियों में मिलता है। शैले ने उसी स्वर में एशिया का गीत लिखा था (कैंकी में)। उसी स्वर से अनुप्रेरित होकर केशवसुत (मराठी कवि) ने 'साथी ना मेले-ल्यांचे, साथी त्या दिल जानांचे, गाग्गार बंडवाले ते' (टंका) जैसे स्वर उठाये, और उसीसे प्रेरित होकर जोश मलीहाबादी ने 'इन्सानीयत का कोरस' लिखा। उसी से प्रेरित काजी नज़रुल इस्लाम की 'अग्निवीणा' थी। उसी ध्वंसवादी, अराजकवादी वृत्ति के स्वर भगवतीचरण वर्मा, 'दिनकर' और नागार्जुन तक में मिलते हैं। उन्हीं से जैसे बचते गिरिजाकुमार ने अपने संग्रह का नाम 'नाश और निर्माण' या शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने 'प्रलय-सृजन' रखा।

इस सर्वनाशवादी स्वर का सर्वोत्तम उदाहरण उनकी आरम्भिक काल की रचना 'विप्लव-गायन' और इधर उनके गद्य में 'अपलक' आदि संग्रहों की भूमिकाएँ हैं। 'विप्लव-गायन' में कविवर 'नवीन' ने कहा था :

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए॥
एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुँआधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य, सदसद्भावों की—धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाएँ।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए॥
नियम और उप-नियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ
शान्ति-दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराए,
नाश, नाश हा! महानाश की प्रलयंकारी आँख खुल जाए!!

यह 'सर्व संहारवादी' (निहिलिस्ट) स्वर कवि की एक ओर उत्कट वैराग्य-पूर्ण (जैसे 'कोऽहम ?' और 'कार्य-कारण-शृंखला' [illegible] मैंने 'हंस' में की थी 'कपड़ा-राशन-शृंखला' नाम से) [illegible] और प्रेरित करती है, तो दूसरी ओर प्रासंगिक रचनाओं की ओर (जैसा [illegible] की प्रथम जेल में कठोर परिश्रम पर रचना या तत्कालीन [illegible] गण' नाम रूस-प्रशंसा या गांधी-गुणाष्टक या 'हिन्दुस्तान हमारा है', या [illegible] हमारा है' या 'झूठे पत्ते चाटने वाले मनुजों' पर कविता) भी आती है।

इस प्रकार से 'नवीन' जी की कविता में एक दार्शनिक-वैराग्यवादी धारा है। दूसरी उत्कट प्रणय-निवेदन की उत्तान शृङ्गारमयी ([illegible]; या 'मत ठुकराओ मुझे सलोनी, मैं हूँ प्रथम प्यार का चुम्बन'; या [illegible]') धारा, और तीसरी धारा है राष्ट्रीय-सामाजिक उद्बोधन पर, विद्रोही काव्य-रचना की धारा।

इन्हीं सब विषयों में बार-बार उभर कर आने वाला विषय (जो प्रणय से सम्बद्ध है) है मरण। परन्तु फ्रायड के अनुसार काम का उत्कट रूप वस्तुतः आत्म-हनन ही है। आत्म-दान का आनन्द इसी में है। प्रणयानुभूति की इस परम्परा को हमें चन्द्रबली पांडेय के शब्दों में न केवल कालिदास अपितु उपनिषदों तक ले जाना होगा। चन्द्रबली जी अति संयमी व्यक्ति हैं; परन्तु उनका काम के प्रसंग में अध्ययन यहाँ उद्धृत करने योग्य है :

" 'मिथुन' और 'काम' की आज बड़ी चर्चा है। फ्रायड (सन् १८५६-१९४० ई०) और मार्क्स (१८१८-१८८३) की कृपा से इनको स्थान भी अच्छा मिल गया है, अतएव थोड़ा इसे भी देख लेना चाहिए कि वास्तव में मानव काव्य-क्षेत्र में इनका महत्त्व क्या है। फ्रायड की शोध के विषय में हमारा इतना ही कहना है कि वस्तुतः वह निदान के रूप में है, कुछ विधान के रूप में नहीं; जो उसका इतना ज्ञापन हो रहा है। यूरोप के लिए भले ही उसकी शोध नवीन चमत्कार हो, पर भारत के लिए तो वह अति पुरानी बात है। भर्तृहरि के 'शृङ्गारशतक' में इस कथन पर ध्यान तो दीजिए :

न गम्यो मंत्राणां न च भवति भैषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शांतिकशतैः
भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधद्भङ्गमसमं स्मराय-
स्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥

"कामदेवरूपी अपस्मार नाम रोग से पीड़ित हुए मनुष्य की व्यथा न तो

मन्त्र-तन्त्र से दूर होती है, न औषधियों के प्रयोग से जाती है और न शान्ति-पाठ आदि के करने से ही शान्त होती है, किन्तु जब-जब इसका दौरा होता है, तब-तब रोगी के अंग में न्यूनाधिक भाग से एक प्रकार की असह्य वेदना उत्पन्न हो जाती है कि जिससे उसका शरीर टूटने लगता है, मन फटने लगता है और दम घुटने लगता है।

दूसरी ओर भर्तृहरि की यह घोषणा है कि

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य परमां सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः केचित्
पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

"जो मूढ़-जन कामदेव की परमोत्तम और सर्व प्रकार की सम्पदा को देने वाली स्त्रीमुद्रा का परित्याग करके बुद्धि-भ्रष्ट हो मिथ्या फल ढूंढ़ते फिरते हैं, उनको मीनकेतन ने भी बहुत कठोर दंड दिये हैं। कितने ही तो नग्न हुए, कितने ही घुटमुंड, कितने ही पंचकेशी धारण किये, कितने ही जटाधारी बने हुए, और कितने ही कपाल हाथ में लिये हुए, भिक्षाटन करते घर-घर मारे-मारे फिरते हैं।

"महाराज कामदेव का दंड-विधान कहिये अथवा महामति फ्रायड की अतृप्तवासना, है तो दोनों दशाओं में भी इन तपस्वियों की वही स्थिति ! तो फिर हमारा मंगल कहां है ? भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं :

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासंगो न यस्मात् परः
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषःकामविडम्बितो हि विषयान् न भोक्तुं क्षमः ॥

"जैसे अनुरागियों में पार्वती को अर्धांग में धारण करने वाले शिव जी ही सबके शिरोमणि हैं वैसे ही विरागियों में भी संसार के भोग-विलास का सर्वथा त्याग करने वाले महादेव जी ही सब में अग्रगण्य हैं, क्योंकि कामदेव के पांचफूल शरों की असह्य विषाग्नि से संतप्त हुए अन्य जन तो मदन की चेष्टा से विडम्बित होकर न तो विषयादिकों का यथेच्छ भोग ही कर सकते हैं और न उनका त्याग ही कर सकते हैं।"

"शिव की इसी महिमा का प्रताप है कि शिवागमों में 'सामरस्य' का विधान है और उनमें खुलकर इसका प्रतिपादन भी किया गया है। देखिये 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' में स्पष्ट कहा गया है :

अग्न्यधः सत्वरारोहं ग्रामङ्गनः प्रवर्तते ।
रजोमयं रजः साक्षात्स्वयंचित्रेव न संशयः ॥
प्रकृतिः परमेशानि वीर्यं पुरुष उच्यते ।
सर्वं माचाह्यामरस्यं शिवशक्तिमयं ततः ॥
तयोर्योगो महेशानि योग एव न संशयः ।
सीत्कारो मन्त्ररूपस्तु वचनं स्तवनं भवेत् ॥
नखदन्तक्षतान्यत्र पुष्पाणि विविधानि च ।
कूजनं गायनं स्तुत्या ताडनं ध्यानं भवेत् ॥
आलिंगनं तु कस्तूरीघुसृणादिकमद्रिजे ।
मर्दनं तर्पणं विद्धि वीर्यपातो विसर्जनम् ॥

और यह 'छान्दोग्योपनिषत्' के 'योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो' के सर्वथा मेल में है। अतः यह कहने में कोई भ्रम नहीं दिखाई देता कि यहाँ के ऋषियों ने इस तत्त्व को भली-भाँति समझ लिया था और किसी प्रगतिवादी की मनमानी के लिए इसे छोड़ नहीं दिया था। कारण 'श्रीहंसविलास' से सुनिये :

शिवशक्त्योः समायोगादानन्दो योऽनुभूयते ।
स एव मोक्षो विदुषामज्ञानां तु पातकम् ॥

किन्तु यह 'सामरस्य' सबको लेती नहीं। यहाँ तो स्पष्ट निर्देश है :

शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः ।
अतिगुह्यस्य भक्तस्य सामरस्यं प्रकाशते ॥

अस्तु, हमें 'मिथ्याज्ञानविडम्बकों' से सदा सतर्क रहना चाहिए और जैसे-तै परम्परा के मेल में उन्हें लाना चाहिए। काम की परम्परा क्या है क्या इसको स्पष्ट कर लेना चाहिए। कबीरदास का कहना है :

काम मिलावे राम को, जो कोइ जानै
कबीर बिचारा क्या करै, यों कहि गये

तात्पर्य यह कि 'काम' का जैसा विचार भारतीय वा अभी यूरप में नहीं। फ्रायड का चिकित्सा में निदान क को अतृप्त वासना का परिणाम कहा और उसकी पूर्ति फिर तो इस वासना पर उसकी ऐसी दृष्टि जमी कि फिर क और 'स्वप्न' तक जा पहुँची। जायसी के 'सपने सूझ निदान का पद दिया और 'अन्तः संज्ञा' को वासना का अ

से उसकी झाँकी लोगों को भरमाती रही। परन्तु उसकी दृष्टि इससे आगे न बढ़ी। परिणाम यह हुआ कि 'परिभोग' और 'परीवाह' के अतिरिक्त उसे कुछ और सूझा भी नहीं और सूझा भी तो थोड़ा परिष्कार। हाँ, 'परिष्कार' की ओर उसका साथी एडलर (१८७०-१६३७) अवश्य बढ़ा और साधना वा कविता के क्षेत्र में ही इसकी झलक सीमित न रही। उसने इसमें आत्मा का विलास और हेठी की भावना का पता लगाया, उधर जुङ्ग (१८७५-१६०४) ने अनुसंधान किया और इस निदान में अतीत की अपेक्षा वर्तमान को महत्व दे काम-वासना की अतिव्याप्ति को दूर किया। फ्रायड, एडलर और जुङ्ग की त्रयी ने इस क्षेत्र में जो कुछ किया उसका सहसा प्रचार हो जाने के कारण यहाँ भी उसकी बयार बही और कविता में कुछ उसकी भी फूंक लगी। कथा-वार्ता में भी उसका प्रभाव गोचर हुआ परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत की भारती में इसकी भी एक स्वतन्त्र परम्परा है, और है इसका भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय।

करुण कवि भवभूति का अभिमत है :

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेवधार्यते॥

और एक उर्दू कवि का कथन—

रुकाव खूब नहीं तबा की रवानी में।
बू फ़साद की आती है बन्द पानी में॥

इस परम्परा और इस सम्प्रदाय को लेकर जो रचना बनी है वह 'कामायनी' कही जा सकती है। 'काम' के प्रसंग में 'प्रसाद' जी का कहना है :

जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के,
आने दो कितनी आती हैं
बाधाएँ दम संयम बन के॥

'चन्द्रबलीजी की सभी स्थापनाओं से सहमत होना संभव नहीं है,' परन्तु 'नवीन' जी की बहुत सी प्रणय विषयक गीत रचना सहसा इस परम्परा का स्मरण अवश्य करा देती है। 'इधर सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर' तो ठीक है, परन्तु 'नवीन' जी बार-बार 'आज हुलसे प्राण' (अपलक) जैसी रचनाओं में :

बाँध लो परिरंभ-रसरी में सजन इस थकित जन को,
शिथिल बाँहों का बना लो ग्रीव माला एक क्षण को।

आदि प्रयोगों का मुक्त उपयोग करते हैं, तब रीतिकालीन कविता का और उर्दू शायरी का उनपर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

उर्दू शायरी में प्रणय की उत्कटता मरण की प्रतिभा के साथ-साथ चलती है (देखिये मेरा 'कवि-स्वभाव' लेख इसी ग्रंथ के अन्त में)। वहाँ गरेवाँ चाक होता है; प्रेम-प्रसंग में नजर के खंजर चलते हैं और दिल के हजार टुकड़े कीमे की तरह होते हैं पर बीभत्स नहीं माने जाते। 'नवीन' की रचनाओं में मृत्यु-पूजा का स्वर तो इतना नहीं है (जैसे इलाचन्द जोशी की 'विजनवती' में मरण-सुन्दरी का आह्वान या अर्चन है) परन्तु मरण को महा-मिलन या महा-परिणय मानने की बात जरूर है।

भारतीय संस्कृति में मृत्यु को बड़ा महान माना गया है। गीता में मृत्यु का अर्थ बताया है परिवर्तन। पुराने संत-कवियों ने इसे 'चार कहारों के कंधे पर चढ़कर बाबुल के घर जाना' कहा है। यह घट का फूटना ऐसा माना गया है जैसे साधारण घटना हो। यह महाप्रस्थान, यह महायात्रा, यह महानिद्रा, यह अनंत में स्नान, यह शिखरारोहण, यह चिरंतन विस्मरण, यह 'प्राणो मृत्युः', यह माँ की कोख में मुँह छिपा लेना! इस काव्य के महान स्रोत को सूफी जलालुद्दीन रूमी ने इन शब्दों में व्यक्त किया था :

With thy sweet soul, this soul of mine
Hath mixed as water does with wine.
Who can the wine and water part,
Or me and thee when we combine ?
Thou art become my greater self,
Small bounds no more can we confine
Thou has my being taken on,
And shall not I now take on thine ?
Thy love has pierced me through and through
Its thrill with Bore and Nerve entwine
I rest a Flute laid on thy Lips,
A lute, I on thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh,
Yet strike my strings, and tears shall shine.

इस कविता का भावार्थ है ससीम का असीम में एकाकार होना। रवीन्द्रनाथ ने इसी मूड में गीतांजली में कहा था 'मरण जे दिन आस् बे तोमार दुयारे, की दिब ओहारे !!' मृत्यु के विषय में एक बहुत मार्मिक लेख मैंने मराठी में पढ़ा है। लेखक का शीर्षक है 'अक्षरवाङ-मय के कुछ मृत्यु'। लेखक श्री शरच्चन्द्र चिर-मुले ने हम्लेट के विख्यात स्वगत भाषण, विक्तर यूगो के ले मिजराब्ल्स, जीन बालजीन् और जेवर्ट की मृत्यु के प्रसंग, डिकेन्स के 'टेल आफ टू सिटीज़' में 'सिड्नी कार्टन' का मृत्यु और तालस्ताय के 'अन्नाकैरोनेना' में ऑना की मृत्यु का तुलनात्मक अध्ययन किया है। हम्लेट ने कहा था—

"Had I but time—as this fell seargant death
Is stick in his arrest—O, I could tell you
But let it be—"

इस पृष्ठभूमि में 'नवीन' जी की मरण-विषयक अनेक कविताएँ बहुत पठनीय हैं। 'भाई आज बजी शहनाई' तो सबको परिचित ही है। परन्तु 'प्रयाण-बेला' और 'पहेली' यह दो कविताएँ देखिये। कविताएँ पढ़ते समय न जाने क्यों मुझे शाजापुर में देखी 'नवीन' जी की वृद्धा माँ की याद आ जाती है। उनका कुछ वर्ष पूर्व देहान्त हुआ। वे ही उनके जीवन की नवीन-विवाह पूर्व की एकमात्र परिवार-सबल थीं। प्रयाण-बेला की कविताएँ अपने-आप में अपनी कहानी कहती हैं :

१. कैसा मरण सन्देशा आया ?

कैसा मरण सँदेसा आया ?
किसके कंठाभरण स्वरों ने लय-संगीत सुनाया ?
देह थकी, जर्जरित हो गयी, बिगड़ गया कुछ खटका,
संज्ञा-शून्य शरीर हो गया, लगा मृत्यु का झटका,
देख लुप्त होते जीवन को मन संभ्रम में अटका;
जीवन का रहस्य यह क्या है ? क्या यह मृण्मय माया ?
कैसा मरण सँदेसा आया ?

दो विभिन्न गतियाँ जगती में; इक जड़मय, इक चेतन,
जड़गति है घूर्णित आंदोलन, चेतन है उद्वेलन;
जब जड़ कण-समूह बन आया—चेतन का सुनिकेतन,
तब उसमें विकास गति आयी; जड़ ने जीवन पाया !
अभिनव मरण सँदेसा आया !

जिनने मरकर चिर-जीवन का रुचिर रूप पहचाना,
जिनने निज को खोने ही में शुचि निजत्व को जाना,
वे बोले कि मरण है जीवन का ही एक बहाना;
है त्रिजत्व का द्वार, मृत्यु तो है जीवन की छाया!
अभिनव मरण सँदेसा आया!

जीवन का अखंड वैश्वानर धधर-धधर कर चमका,
भय भागा संदेह हट गया, छूटा संशय तम का,
अपने 'स्व' को 'स्वधा' सम होमा टूटा फंदा यम का;
अपने मन की हुई मृत्यु तब चिर-जीवन लहराया!
नव तब मरण सँदेसा आया!

२. पहेली

खूब जानता हूँ मृत्यु जीवन की एकता में
खूब पहचानता हूँ संभ्रम के छल-छंद,
खूब जानता हूँ माया-मोहिनी के हाव-भाव
विभ्रम करण मानता हूँ सब भव-बंध,
किंतु अनजान प्राण अपनों को जाते देख
बरबस हाहाकार करते हैं मूढ़ मंद
मोह मैं कहूँ? या इसे मानव-स्वभाव कहूँ?
मरण-विछोह से क्यों हो साहित्य खंड-खंड?
यह जो मरण-भीति मानव के हिय में है
वह क्या है भावी नव जीवनोत्क्रमण-त्रास?
यह जो विछोह-जन्य वेदना है मानव में
वह क्या है नूतन-जन्म-पीड़ा का ही विलास?
जीवन-मरण एकरूप हो गये हैं किंतु
फिर भी समाया जग-जीवन में मोह-फाँस;
आँसू हैं, हिचकियाँ हैं, प्राणों का तड़पना है,
हिय में भरा है गहरा-सा एक उच्छ्वास।
अपनों को जाते अवलोक नयनों से जब
अर्पनों को देखा जब होते यों त्रिजत्व लीन—
मृत्यु-यवनिकाऽऽक्षेप-अंतर में देखा जब
नट को पट-परिवर्तन-लीला में तल्लीन—

देखा जब पंख तौलते यों प्राण विहंग को
चंचु किये उधर जहाँ है पथ अंतहीन
उस क्षण अपने ही आप आया हिय भर
झर-झर-झर उठे आप ही ये दृग दीन !

अन्त में 'नवीन' जी के कवि-व्यक्तित्व का यह सम्मानमय स्मरण उनके जीवन के रेखाचित्र के बिना सम्पूर्ण नहीं होगा। उन्हीं के शब्दों में वह चित्र निम्न प्रकार से है। यह 'नवशक्ति' में बहुत वर्षों पूर्व छपे उनके स्वयं के लेख का एक अंश है। जिस 'माधव कालिज' उज्जैन का इस लेख में जिक्र है उसमें इन पंक्तियों के लेखक ने १९३७ से १९४८ तक अध्यापक-कार्य किया। परन्तु 'नवीन' जी के आरम्भिक स्कूली दिनों में इन पंक्तियों के लेखक के अग्रज भाई और श्वसुर भी 'नवीन' जी के सहपाठी रह चुके हैं। 'नवीन' जी स्कूली विद्यार्थी के नाते बड़े नटखट, शरारती और मेधावी व्यक्ति थे, ऐसा मुझे पता चला है। उनके वे आरंभिक संस्मरण यहाँ देना अप्रासंगिक होगा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के शब्दों में १९३२ तक उनका जीवन यों बीता :

"मेरा जन्म ग्वालियर राज्य के शुजालपुर नामक परगने के भयाना नामक गाँव में हुआ था। मेरी माता कहा करती है कि गायों के बाँधने का एक बाड़ा मेरे ताऊ जी के घर में था। उसी में अपने राम ने जन्म लिया। वहाँ कई गायों ने बछड़े ब्याये होंगे। मेरी जननी ने उसी गोशाला में मुझे भी जना। मेरे पिता बहुत गरीब थे—निःसाधन, किन्तु भगवद्भक्त ब्राह्मण। अतः जन्म के वक्त सिवा थाली बजने के और कुछ धूमधाम न हुई। गाँव का सादा जीवन, गरीबी और अर्थाभाव, ये मेरे चिर-परिचित मित्र हैं। जब मुझे कुछ होश हुआ तो मुझे इतना याद पड़ता है—मैं कोई तीन साढ़े तीन वर्ष का रहा हूँगा—कि मेरी माता मुझे गोद में लिटाकर, मीठे-मीठे विहाग के स्वरों में अष्टछाप के पदों को गाकर मुझे लोरियाँ सुनाती और सुलाया करती थी।

इसके बाद मैं कुछ और बड़ा हुआ। गाँव में लड़कों के साथ खेला करता था। मैं कुछ बुद्धू-सा था। खेल में जरा फिसड्डी रहता था।

फिर कुछ दिन गुजरे और चूंकि मेरे पिता श्री श्रीमद्वल्लभाचार्य के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उदयपुर-राज्यान्तर्गत वैष्णवों के प्रधान तीर्थस्थल श्रीनाथद्वारा चले गये थे, अतः मेरी माता मुझे लेकर नाथद्वारे चली गईं। नाथद्वारे में मैं काफी दिनों रहा। पर वहाँ पढ़ाई का कोई इन्तजाम नहीं था। मेरी माता दूरदर्शिनी हैं। उन्होंने पिताजी से कहा कि लड़का यहाँ आवारा हो

जायगा। वे मुझे लेकर ग्वालियर-राज्य के शाजापुर नामक कस्बे में चली आईं। यह स्थान राज्य का एक जिला है। यहाँ हिन्दी-अँग्रेजी मिडिल स्कूल है। यहीं पर जीवन के कोई ग्यारहवें वर्ष में मेरी शिक्षा का क्रम प्रारम्भ हुआ।

मेरे परम सौभाग्य से मुझे यहाँ मेरे पिता के पुरातन मित्र सेठ भगवानदास जी झालानी के परिवार का आश्रय मिल गया।

मेरे परिवार के लोग चार आने महीने के मकान में रहते थे। फिर शायद आठ आने महीने के मकान में रहने लगे। बरसात में मकान टपकता था। रात-भर सोना दूभर था। मैं खूब खाता था। कुछ दूध की जरूरत भी महसूस होती थी। पर दूध के लिए पैसे कहाँ से आवें? तब माताराम ने लोगों का अनाज पीसना शुरू किया। इससे जो पैसे मिलते थे, उससे मैं दूध पीता था। पैरों में जूते पहनना एक आराम-तलबी समझी जाती थी। इसलिये बन्दा नंगे पैरों रहता था।

कपड़ों की भी ऐसी कोई इफ़रात नहीं रहती थी। पैबन्द लगे कपड़े पहनना और साल में सिर्फ दो धोतियों पर गुजर करना एक मामूली और बिलकुल स्वाभाविक बात थी। किताबें कुछ खरीदी जाती थीं और कुछ माँग ली जाती थीं। इसी तरह जीवन के ये बरस बीते।

शाजापुर से अंग्रेजी मिडिल पास करने के बाद मैं हाई-स्कूल की शिक्षा के लिये उज्जैन चला आया। यहाँ पर माधव कालेज नामक एक शिक्षा-संस्था में मेरी शिक्षा होने लगी।

पाठक पूछेंगे कि मैं पढ़ने में कैसा था। साफ बात यह है कि पढ़ाई-लिखाई में मैं निहायत साधारण और थर्ड क्लास था। स्मरण-शक्ति बहुत मामूली, परिश्रम का माद्दा कम। कुछ सपने देखने का और हवाई किले बनाने का आदी। कम्बख्ती है कि आज तक यह आदत नहीं छूटी। सन् १९१६ ई० में, जब मैं दसवें दर्जे में था, उस साल लखनऊ में कांग्रेस होनेवाली थी, जिसमें नरम और गरम, दोनों दल, मिल बैठने का निश्चय कर चुके थे, मैं लखनऊ काँग्रेस में शामिल हुआ था।

मैट्रिकुलेशन परीक्षा के बाद नतीजा आया और मैं पास हो गया। अब आगे पढ़ने की सूझी। सोचा, चलो, कानपुर चलें और पढ़ें; पिता के पास तो कुछ था नहीं, जो कालेज का खर्चा दे सकते। इसलिये मैंने स्वावलम्बी होकर पढ़ने की ठानी। मैंने अपना बिस्तर बाँधा, ट्रङ्क में कुछ किताबें भरीं और कानपुर का टिकट कटाकर चल दिया। आज मैं जब पीछे की ओर घूमकर

देखता हूँ तो यह पाता हूँ कि मेरे जीवन में लखनऊ कांग्रेस की मेरी पहली यात्रा और परीक्षा के बाद कानपुर की यह दूसरी यात्रा बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। उन्होंने मेरे जीवन का प्रवाह एकदम बदल दिया। पहली यात्रा में गणेशजी, माखनलाल जी आदि गुरुजनों के दर्शन मिले, उनसे परिचय हुआ। दूसरी यात्रा में गणेशजी का आश्रय मिला, दुनिया को देखने का अवसर मिला और राजनीति तथा साहित्य में थोड़ा-बहुत प्रवेश करने एवं कार्य करने की प्रेरणा मिली।

गणेशजी मेरे लिए क्या थे, यह मैं क्या बताऊँ? मुझे पन्द्रह वर्षों तक उनके चरणों में बैठने का, उनके नेतृत्व में काम करने का, उनकी प्रेरणा से कारागार की ओर अग्रसर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि उनके सदृश मुझे दूसरा आदमी आज तक देखने को नहीं मिला।

उन दिनों जब कानपुर आया तो मैं खाता खूब था। चालीस-चालीस रोटियाँ उड़ा जाना बायें हाथ का खेल था। छात्रावास के सभी महाराजों के लिए मैं जू-जू था। लोग मुझे अपने मेस (रसोईघर) में लेते हिचकते थे। गणेश-जी ने ही मेरा सब प्रबन्ध किया। लिखने की ओर जो मेरी प्रवृत्ति हुई, उसका श्रेय भी पूज्य-चरण गणेशजी ही को है। यों तो बहुत पहले से लिखने की ओर रुचि थी; पर प्रेरणा गणेशजी की ही थी। अगर मैं यों कहूँ कि उन्होंने मुझे क़लम पकड़कर लिखना सिखाया तो अत्युक्ति न होगी।

असहयोग आंदोलन में बी. ए. (चतुर्थ वर्ष) से कालेज छोड़कर आने के बाद का मेरा जीवन तो बहुत कुछ प्रकट ही है। अतः उसके सम्बन्ध में मैं क्या लिखूं? 'प्रताप' से मेरा जो सम्बन्ध है, वह शायद केवल पंडित शिवनारायण मिश्र को छोड़कर अन्य सभी से प्राचीनतम है।

पहली मर्तबा जब मैं डेढ़ वर्ष के लिए, सन् १९२१ के दिसम्बर में, जेल गया, उसी समय मैंने जेल में अपनी 'विस्मृता ऊर्मिला' लिखनी शुरू की थी, जो बाहर आने पर ठप हो गई और जिसे मैंने गत १९३२ की ढाई बरस वाली सज़ा में पूरा किया।

"सन् १९३० की दो बार की जेल-यात्रा तथा १९३२ के लम्बे कारावास की एक कहानी है। पर अब न कहूँगा।"

बाद की कहानी साहित्य-जगत में सुविख्यात है। 'नवीन' जी अपने काव्य-गुरु 'एक भारतीय आत्मा' की भाँति काव्य के प्रकाशन से सदा अपने

को बचाते रहे। परिणाम यह है कि बीस वर्ष पूर्व जो रचनाएँ छपनी चाहिएँ थीं, वे अब छप रही हैं। 'देर आयद, दुरुस्त आयद,' फिर इनमें से सब वैज्ञानिक तर्क-चिंता बहसवाली भूमिकाएँ कविता-संग्रह में नहीं छपनी चाहिएँ। उनके बिना भी उनकी काव्य रचना के आनन्द में कमी नहीं आती। फिर क्यों यह वितण्डा ?

'नवीन' जी की सारी कृतियाँ शीघ्रातिशीघ्र प्रकाश में आयें, इस कामना से लेख समाप्त करता हूँ।

: १४ :

'निराला' ****************

'निराला' का रेखा-चित्र शब्दों के चौखटे में नहीं समाता। हिन्दी का यह अभिशप्त सूफ़ी, यह मस्ताना फ़क़ीर, यह क्रान्तिकारी सौंदर्यदर्शी, यह दार्शनिक सहृदय—सब विशेषणों के बाद भी विशेष्य है। 'अनामिका' का चित्रकार, साहित्यिक सन्निपात का शिकार, 'भारति! जय-विजय करे!' का क्लासिक गायक, व्यंग की तीक्ष्ण अतियथार्थवादी चोटों से मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने वाला, आहत परन्तु दृप्त कवि, 'निराला'!

'निराला' के समूचे गठन में एक खिन्न अनासक्तता है। एक अन्तर्करुणा। जैसे :

> स्नेह-निर्झर बह गया है,
> रेत-सा तन रह गया है।

'निराला' के दर्द की गाँठ कहीं गहरे में है। उसका ऐसा ऊपरी-ऊपरी विश्लेषण कि 'निराला' को आर्थिक कष्ट रहे, प्रकाशकों ने लूटा, स्त्री का प्यार नहीं मिला, वे देवियों की उपेक्षा-अपमान से उत्पीड़ित रहे, एक साथ सब परिवार प्लेग का शिकार हो गया, या कि उन्हें पर्याप्त यश और मान नहीं मिला, आदि सब व्यर्थ के और बिल्कुल ऊपरी कारण हैं। वास्तविक कारण कहीं और गहरे में है। 'गीतिका' की भूमिका में निराला जी लिखते हैं—'चूंकि मैं बाज़ार का नहीं बन सका, शायद सरस्वती ने इसीलिए मेरे स्वरों को बाज़ारू नहीं बनने दिया।'

निराला जी से मेरी पहली भेंट लखनऊ में हुई। भूसा-मण्डी में 'निराला' का तंग, छोटा-सा मकान बड़े कष्ट से मिला। अन्दर एक भव्य-वपु व्यक्ति तहमद

पहने सो रहे थे, पढ़ रहे थे। जगे, बड़े प्रेम से स्वागत किया। आले में एक बोतल रखी थी उसे खोल कर सुरती निकाली, मल कर फाँकते जाते थे, आँखों में विषाद और ओज का अजब मिश्रण था! गर्दन हिलाते तब लम्बे बाल अभिनेताओं की भाँति हिलते। रवीन्द्रनाथ की 'सूरदास' कविता सुनाई। अपने गद्य के अवतरण भी सुनाते जाते। 'गीतिका' के 'नयन से नयन बँधे' वाले गीत की विशद व्याख्या की और बीच-बीच में ब्राउनिंग, कालिदास, माईकेल और ग़ालिब के उद्धरण सुनाते जाते। वे उनके कमरे में बिताये छः घण्टे, एक अविस्मरणीय साहित्यिक दावत थी।

निराला जी से दूसरी भेंट मेरठ साहित्य-परिषद् में हुई। वे होमवतीजी के यहाँ ठहरे थे। एक साथ दो-दो रसगुल्ले मुँह में भर कर खाते जाते और कोई नर्म परिहासमयी बात कह कर कहक़हा लगाते। बंगाल के कलामय वातावरण की छाया में पले-पनपे, नियति के निर्मम व्यंग के शिकार इस कलाकार में, लखनऊ की नफ़ासत का भी रंग चढ़ा था। मुझसे सूफ़ी कवियों की महत्ता की बात की। जब मैंने उनका एक स्केच बनाया, तो बोले: "यह तो विक्टोरिया रानी की-सी शक्ल बन गई।" रामविलास शर्मा तब पास ही बैठे थे। बोले—"निराला जी, ओंठ तो कुछ वैसे ही हैं, डील-डौल चाहे हाथी का-सा हो!"

निराला जी से मुक्त छन्द पर भी बहुत विस्तार से चर्चा हुई। वे बंगला के स्वर-आलोड़न को खड़ी बोली में असम्भव बताते थे। इसीलिए उनका कहना था कि केवल घनाक्षरी ही उसके अनुकूल थी। नये कवियों में वे तब शिवमंगल सिंह 'सुमन' को बहुत प्रेम करते थे; और गिरिजा कुमार माथुर को भी खासा होनहार मानते थे। तब तक 'निराला' पूर्ण स्वस्थ थे, तन से और मन से। तेजयुक्त, दीप्त और संभ्रांत गम्भीर।

सात वर्षों का व्यवधान बड़ा व्यवधान होता है। इस बीच में एक विश्वव्यापी महायुद्ध घटित हो गया। 'निराला' वह निराला न रहे। मैं १९४८ में राहुल जी के साथ शासन शब्दकोष का कार्य कर रहा था। सत्यनारायण कुटीर में ठहरा था। राहुल जी पहाड़ चले गये थे। एक दिन शाम को वहीं आनन्द जी, श्री कृष्णदास, शमशेर और मैं बैठे कुछ विचार कर रहे थे, कि सहसा ऊपर से 'निराला' आ गये। उनके साथ में गले में माला पहने गंगाप्रसाद पाण्डेय थे; 'निराला' ने जो माला पहनी थी सो उन्हें दे दी थी। वे राहुल जी से मिलने आये थे। सुना—नहीं हैं, तो आनन्द जी से बातें करने बैठे। अब

बाल छूट गये थे; बदन की कसावट कुछ ढीली-सी हो गई थी। आँखों में वह दर्पोन्नत सिंह का-सा निश्चिन्त आत्मविश्वास मन्द होकर, एक आतंक को अमान्य करके भी, उसकी सत्ता से तंग शरविद्ध हिरण की-सी आर्तता आ गई थी। बोले : "मैंने यूरोप के सब हिलस्टेशन देखे हैं। आल्प्स पर हमारा डेरा था। गेटे से मैंने बातें की थीं। मगर वहाँ का पानी हमें पसन्द नहीं। राहुल जी चले गये। अच्छा फिर मिलुंगा।" किसी ने कहा—"पन्त' जी भी परसों जाने वाले हैं।" निराला बोले—हाँ, मैं भी जाता, पर वहाँ का पानी हमें मुआफ़िक़ नहीं आता। हमें यहीं अपना हिसाब-किताब करना है। जनता दुखी है, गोली चल रही है। पर हम तो संन्यासी हैं। अच्छा चलें।" शमशेर और पांडेय को साथ लिये वे चल दिये। वही मस्तानी झूमती चाल, वही उन्नत भाल, परन्तु कपड़े फकीरों-से, बाना कैदियों का-सा। मानो युग की मेधा अब गुर्राती नहीं, परन्तु गुनगुनाती चली जा रही थी।

१९४९ के वर्षाकाल में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हाल में खचाखच भीड़ थी। कालेज के छात्र और छात्राएँ 'बच्चन' के प्रणय-गीतों की आतुरता से राह देख रहे थे। और कवि जम नहीं पाते थे। 'निराला' अध्यक्ष थे। वही गेरुआ तहमद और ऊपर एक दुपट्टा। सर्दी में भी नंगे बदन। दाढ़ी कुछ-कुछ रुपहली बेतरतीब बढ़ी हुई। अन्त में उनकी बारी आई तो बोले—"ये यूनिवर्सिटियाँ हमारी बनाई हुई हैं। मैं अभी घाव की चोट खाकर लौटा हूँ। सिर पर यह निशान बाकी है! अब हमारी जवानी नहीं रही, नहीं तो मैं आपका मनोरंजन करता। फिर भी सुनाता हूँ!" कह कर, उन्होंने दो-तीन बहुत मधुर गीत सुनाये। बीच-बीच में व्याख्या करते जाते।

कवि-सम्मेलन समाप्त होने पर विद्यार्थियों को कुछ गद्य में लम्बा-सा सन्देश लिख दिया। चाय पर 'बच्चन', डा० सत्यप्रकाश और मैं उनके साथ थे। मैंने कहा : "निराला जी, सर्दियों में कुछ पहन तो लिया करें।" उसी तरह गर्दन को झटका देते हुए बोले—"आर्थिक प्रश्न रहता है। हमें हिसाब-किताब करना बाकी है। परन्तु कालिदास की उक्ति के सहारे जी रहे हैं।" उन्होंने कई श्लोक सुना डाले। फिर 'बच्चन' की ओर देख कर बोले : "अब दस-बीस बरस आप ही के हैं। आपका बहुत अच्छा रंग जमा है। यूनिवर्सिटी, आपकी है।" तब 'बच्चन' जी बोले—"निराला जी आप तो यूनिवर्सिटी के क्या, 'यूनिवर्स' के कवि हैं!" फिर निराला जी स्वागत भाषण में निमग्न हो गये उसी तरह बुदबुदाते, आँखों में वही नियति आहत पुतलियाँ।

स्पष्ट किया है। प्रसाद के आँसू, झरने की भाँति 'प्रसाद' गुण की रचना करते रहे, पंत ने माधुर्य को संवारा, 'निराला' ओजगुण की प्रतिष्ठापना नई कविता में करते रहे। अपने अजब फक्कड़पन के साथ, कबीर का अटपटापन और भूषण की हुँकार मिलाकर 'निराला' ने ललकार दी—'जागो फिर एक बार।' 'ऐ विप्लव के प्लावन...अट्टालिका नहीं है रे आतंक भवन' 'राजा शिवाजी का पत्र' भी उसी परुष तार-सप्तक में हैं, जिसमें रवीन्द्रनाथ का 'बंदा वीर' या नवीनचन्द्र सेन का 'पलाशीर युद्ध' या परावर्ती कवियों में काज़ी नज़रुल इस्लाम का 'विद्रोही'।

निराला बंगला से हिन्दी में आये। साथ में रामकृष्ण परमहंस का वेदांत, रविबाबू की सौंदर्य-पूजक दृष्टि (दोनों की रात्रस्नाताएं तोलनीय हैं), विवेकानन्द का स्वस्थ राष्ट्र-प्रेम और बंकिमबाबू की चुटीली व्यंग-परिहासमयी गद्य शैली भी लेते आये। अब भी कभी-कभी, वे बंगला में पद्य-रचना कर लेते हैं (यथा 'अणिमा' में, विजयलक्ष्मी पंडित के प्रति)—परन्तु, हिन्दी की नई कविता को उन्होंने जीवन सौंप दिया। बैसवाड़े का यह पहलवान जैसे डील-डौल वाला किसान महिषीदल राज्य की काली का पुजारी बनकर, बंगाल की सूक्ष्म कला-प्रिय संस्कृति से अस्पृष्ट कैसे रह सकता था? 'समन्वय' उसकी आरम्भिक जीवन प्रणाली थी। 'दग़ा की इस सभ्यता ने दग़ा की' का पाठ तो वह बहुत देर बाद सीखा।

'परिमल' निराला का प्रथम पद विन्यास है। उसकी भूमिका में, जैसे 'गीतिका' में बाद में, मुक्त-छन्द की उन्होंने युक्तिपूर्ण हिमायत की है। ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है, तुकांत, अतुकांत और मुक्तवृत्त में। तुकांत कविताओं में यमुना, विधवा, 'तुम और मैं' पर्याप्त लोकप्रियता और आदर प्राप्त कर चुकी हैं। 'तुम और मैं' के उपमानों की झड़ी पर तो कई पैरोडियाँ भी निकल चुकीं। तुम और मैं जैसी शृंगार-मिश्रित, दार्शनिक पुट ली हुई रचनाओं में भी 'निराला' की प्रगतिशील वृत्ति के बीज वर्तमान थे।

तुम अम्बर, मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन पटल श्याम,
मैं तडित्तूलिका रचना॥

या 'तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति' आदि। द्वितीय भाग में तथा तृतीय भाग में उनकी वे अमर रचनाएं हैं, 'वह आता, दो टूक कलेजे के कर जाता', 'फिर एकबार तू नाच अरी ओ श्यामा,' 'सामान सभी तैयार' 'जुही की कली', 'बादल

राम', पंचवटी प्रसंग, जागो फिर एक बार, महाराजा शिवाजी का पत्र आदि। इसी समय निराला की तीनों प्रवृत्तियां 'परिमल' में भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही थीं। (१) दार्शनिक गीत-रचना प्रवृत्ति—'जो जो आगे थे, चले गये।' (२) सौन्दर्य-प्रेमी वर्णन प्रिय प्रवृत्ति—'जुही की कली।' (३) राष्ट्रीय भावों से युक्त ओजमयी शैली वाली 'फिर एक बार।'

'परिमल' का पंचवटी प्रसंग मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से तोलनीय है। 'निराला' ने इसी घटना को नाट्य गीतात्मक रूप दिया है, मैथिलीशरण ने केवल प्रसंग वर्णन प्रबन्ध खंड की भाँति किया है। 'निराला' ने उसे आधुनिकता का आवरण पहिनाने की कोशिश की है। राम, जानकी, लक्ष्मण, शूर्पणखा के मनोभावों में गति उत्पन्न की है। 'निराला' भी राम-भक्त हैं और गुप्त भी। परन्तु, निराला के मन में 'राम की शक्ति पूजा' समाई हुई है, तो गुप्त, राम के अपेक्षाकृत मधुर और लोक मंगलकारी रूप की ही आराधना करते हैं। 'मंगलघट' में मैथिलीशरण जी की तुलसीदास के प्रति कविता है, वह और निराला के तुलसीदास को तौलने से दोनों के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो सकता है।

वस्तुतः, 'निराला' की कविता में, स्वयम् उनके रचे 'मतवाला' पत्र पर अंकित दो पंक्तियों के समान, अनेक विवादी-संवादी स्वरों की विमोहिनी 'हार्मनी' है :

अमिय-गरल शशि-सीकर-रविकर
राग-विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक उनका
प्यारा है यह मतवाला॥

कभी वे अत्यधिक अनुरक्ति के भावों की व्यंजना करते हैं, कभी उनकी रागात्मिका अनुभूति, निर्वेद से संश्लिष्ट जान पड़ती है। 'मेरा अन्तर वज्र कठोर, देना तुम जीभर झकझोर' कहकर वे 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' का निर्वाह करते जाते हैं। एक महाकवि के समान आपकी रचनाओं में वैविध्य तो है ही, साथ ही, रूढ़ि-प्रियता और प्रयोगशीलता का अभिनव संघर्ष भी है, जिसके कारणवश, आपकी रचानाओं में 'प्रेषणीयता' की कमी पाठकों को खलती है। क्या कारण है कि जो व्यक्ति 'काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल' जैसी सुन्दर 'कजरी' लिख सकता है, वह बंगाल के अकाल जैसे दुर्धर्ष प्रसंग पर 'मिट्टी की ढली शकरपारा हुआ' लिखे? 'पाचक' (बंगदर्शन में प्रकाशित कविता, जिसकी चुटकी 'उग्र' ने पाचक लिखकर ली) ऐसे ही, अनेक मनोभावों

को एक छोटी-सी जगह में compress कर देने की वृत्ति के कारण दुरूह बनी रचना है। कहीं, कबीरादि की उलटबांसियोंःकी भाँति, दुरूहता तो कुछ बुद्धि पुरस्सर, जानबूझकर 'अपनाते से' दीखते हैं—जैसे राम की शक्तिपूजा के आरम्भिक प्रलंबित सामासिक अंश। टी. एस. इलियट ने काव्यगत दुरूहता के सम्बन्ध में 'कविता के उपयोग' निबन्ध में कहा है कि, 'कविता में कठिनता तीन चार कारणों से उत्पन्न हो सकती है। एक तो, स्वयम् स्पष्टतया अपनी बात न कह सके, दूसरे, वैलक्षण्य के मोह से या जैसे 'रसाल'ने उद्धव-शतक की भूमिका में 'उक्तिचमत्कार' को महत्व दिया है, तीसरे, आलोचक अनावश्यक रूप से कवियों को 'कठिन' करार दे देते हैं, चौथे, कुछ पाठक पूर्वग्रह दूषित होते हैं कि यह कवि तो दुरूह कविता लिखते ही हैं। कविता में बुद्धिगम्यता कोई दोष नहीं। कविता कोई हलुवा नहीं, जो सीधा-सच्चा बिना आयास आपके हलक में उतरता जाय। जैसे—बच्चन के या सोहनलाल द्विवेदी के बालसुलभ गीत। प्राचीन कवियों में, नैषध या रामचंद्रिका या ज्ञानेश्वरी या कुछ अंशों में शेक्सपीयर की रचना भी बुद्धिगम्य है—इस कारण वे उच्चकोटि की काव्य-रचनाएं नहीं, ऐसा कौन कहेगा? वैसे अति भावुकता के छायावादी युग में, यह मान चल पड़े कि कविता ऐसी हो, जो अल्प-बुद्धि वाले या बुद्धि को कष्ट न देने वाले के भी सहज पल्ले पड़ जाय—परन्तु मेरे मत से यह कविता को बहुत घटिया बना देने वाली बात है। उच्च-संगीत जैसे जानकार ही समझ सकते हैं, उच्च-कोटि की चित्रकला (विशेषतः गोपा, पिकासो आदि आधुनिकों) को समझने के लिए, विशेष प्रकार की दृष्टि आवश्यक है, वैसे ही, कवि-कर्म इतना सुलभ नहीं कि कोई भी मिडिल या मैट्रिक का लड़का उठा और अपने-आपको महाकवि समझने लगा, दो-चार गीत इधर-उधर छपाकर। दण्डी ने कवि-कर्म में भी, इसीलिए, प्रतिभा, अध्ययन, मनन तथा अध्यवसाय की आवश्यकता मानी थी। अस्तु, 'तुलसीदास' काव्य की टिप्पणियाँ या 'गीतिका' के शब्दार्थ हों या न हों, इसके सम्बन्ध में एकमत्य नहीं हो सकता। ऑडेन के नवीनतम 'न्यू इयर लेटर' में कविता छोटी परन्तु, टिप्पणियाँ बहुत बड़ी दी गई हैं। जन-काव्य के इस युग में जहाँ कविता के भाव और भाषा अधिकाधिक जन-सुलभ हों ऐसी मांग की जाती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कला को व्यवसाय बना दिया जाय, अभिरुचि सस्ती और फूहड़ और साहित्य को इस प्रकार अपनी इयत्ता से अप्रतिष्ठित। इलियट के 'डिफिकल्ट' पोएट्री निबन्ध के अन्त में, पद्य और गद्य की मर्यादाएं सीमा-रेखाएं निश्चित की गई हैं। इलियट के अनुसार, एक भाषा-भाषी जब दूसरी

भाषा में लिखता है तो उसका अपकार नहीं प्रत्युत्त अनेक दृष्टियों से उसपर उपकार ही करता है—उस भाषा में नये-नये शब्द प्रयोग तथा मुहाविरे देखकर, उसी प्रकार से पद्य में गद्यात्मकता लाने से एक नया रस उत्पन्न होता है। परन्तु अभी तक दोनों बातों को, हिन्दी में साहित्य के लिए हितकारी समझने वाले थोड़े ही हैं। कविता में गद्यात्मकता (जैसे 'निराला' की नये पत्तों की रचनाओं में) को, कविता के पाठक तो ठीक, आलोचक तक सहन नहीं करते। उन्हें उत्तम उत्तर, केदारनाथ अग्रवाल ने 'पारिजात' के नवीन अंक में, काव्य-चिंतना में दिया है।

But poetry has as much to learn from prose as from other poetry, and I think that interaction between prose and verse, like the interaction between language and language, is a condition of vitality in literature (T. S. Eliot)

'निराला' की कविता पर दुरूहता और गद्यात्मकता का आक्षेप लगाने वाले, उनकी अपेक्षाकृत सरल रचनाएं तथा गीत नहीं पढ़ते, या जानबूझकर उन्हें टाल जाते हैं, ऐसा कहना बुरा जान पड़ता है। सरलता का अर्थ सहजता नहीं, और न गीत का केवल मधुर शब्द-जाल ही। 'छंद की बाढ़, वृष्टि अनुराग भर गये वे भावों के झाग' से छूटने के लिए, निराला प्रखर स्वर में कहते हैं—'तोड़ो-तोड़ो कारा, पत्थर की, निकले फिर गंगा जल धारा।' यह युग की गंगा रूढ़ियों के बंध तोड़ना चाहती है। 'नव गीत नवलय, ताल-छन्द नव, नवलकंठ, नव जलद मंद्रनव, नव नभ के नव विहंग वृन्द को नव-पर नव स्वर दे !' यह उनकी कामना है। परन्तु वे केवल नवीनता के लिए नवीनता नहीं लाना चाहते।

प्रत्येक नवीन वस्तु को—साहित्य में नवीन शैली या रचना प्रयोग को तो विशेष रूप से विरोध-सहन करना ही पड़ता है। प्रस्तुत लेख के लेखक ने अपनी नई कविताएं जब 'विशाल भारत' में इम्प्रेशनिस्ट' संबोधन से प्रकाशित कीं, तो रूढ़िवादी अखबार काँव-काँव कर उठे। काव्य का 'क' भी न समझने वाले संपादक, गिद्धों से टूट पड़े। 'वीणा' ने मेरी एक कविता पर सम्पादकीय में छः महीने तक मुझे गालियाँ दीं। खैर, यहाँ ब्लैकवुड 'मैगज़ीन' की टीका से डर जाने वाले कीट्स की-सी नज़ाकत तो हमने पाई नहीं, मैंने विस्तृत प्रत्यालोचना भेजी। तब के वीणा संपादक ने उसे छापा नहीं। इतना ही नहीं वरंच

को एक छोटी-सी जगह में compress कर देने की वृत्ति के कारण दुरूह बनी रचना है। कहीं, कबीरादि की उलटवांसियों की भाँति, दुरूहता तो कुछ बुद्धि पुरस्सर, जानबूझकर 'अपनाते से' दीखते हैं—जैसे राम की शक्तिपूजा के आरम्भिक प्रलंबित सामासिक अंश। टी. एस. इलियट ने काव्यगत दुरूहता के सम्बन्ध में 'कविता के उपयोग' निबन्ध में कहा है कि, 'कविता में कठिनता तीन चार कारणों से उत्पन्न हो सकती है। एक तो, स्वयम् स्पष्टतया अपनी बात न कह सके, दूसरे, वैलक्षण्य के मोह से या जैसे 'रसाल' ने उद्धव-शतक की भूमिका में 'उक्तिचमत्कार' को महत्व दिया है, तीसरे, आलोचक अनावश्यक रूप से कवियों को 'कठिन' करार दे देते हैं, चौथे, कुछ पाठक पूर्वग्रह दूषित होते हैं कि यह कवि तो दुरूह कविता लिखते ही हैं। कविता में बुद्धिगम्यता कोई दोष नहीं। कविता कोई हलुवा नहीं, जो सीधा-सच्चा बिना आयास आपके हलक में उतरता जाय। जैसे—बच्चन के या सोहनलाल द्विवेदी के बालसुलभ गीत। प्राचीन कवियों में, नैषध या रामचंद्रिका या ज्ञानेश्वरी या कुछ अंशों में शेक्सपीयर की रचना भी बुद्धिगम्य हैं—इस कारण वे उच्चकोटि की काव्य-रचनाएं नहीं, ऐसा कौन कहेगा? वैसे अति भावुकता के छायावादी युग में, यह मान चल पड़े कि कविता ऐसी हो, जो अल्प-बुद्ध वाले या बुद्धि को कष्ट न देने वाले के भी सहज पल्ले पड़ जाय—परन्तु मेरे मत से यह कविता को बहुत घटिया बना देने वाली बात है। उच्च-संगीत जैसे जानकार ही समझ सकते हैं, उच्च-कोटि की चित्रकला (विशेषतः गोया, पिकासो आदि आधुनिकों) को समझने के लिए, विशेष प्रकार की दृष्टि आवश्यक है, वैसे ही, कवि-कर्म इतना सुलभ नहीं कि कोई भी मिडिल या मैट्रिक का लड़का उठा और अपने-आपको महाकवि समझने लगा, दो-चार गीत इधर-उधर छपाकर। दण्डी ने कवि-कर्म में भी, इसीलिए, प्रतिभा, अध्ययन, मनन तथा अध्यवसाय की आवश्यकता मानी थी। अस्तु, 'तुलसीदास' काव्य की टिप्पणियाँ या 'गीतिका' के शब्दार्थ हों या न हों, इसके सम्बन्ध में एकमत्य नहीं हो सकता। औडेन के नवीनतम 'न्यू इयर लेटर' में कविता छोटी परन्तु, टिप्पणियाँ बहुत बड़ी दी गई हैं। जन-काव्य के इस युग में जहाँ कविता के भाव और भाषा अधिकाधिक जन-सुलभ हों ऐसी मांग की जाती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कला को व्यवसाय बना दिया जाय, अभिरुचि सस्ती और फूहड़ और साहित्य को इस प्रकार अपनी इयत्ता से अप्रतिष्ठित। इलियट के 'डिफिकल्ट' पोएट्री निबन्ध के अन्त में, पद्य और गद्य की मर्यादाएं सीमा-रेखाएं निश्चित की गई हैं। इलियट के अनुसार, एक भाषा-भाषी जब दूसरी

भाषा में लिखता है तो उसका अपकार नहीं प्रत्युत अनेक दृष्टियों से उसपर उपकार ही करता है—उस भाषा में नये-नये शब्द प्रयोग तथा मुहाविरे देखकर, उसी प्रकार से पद्य में गद्यात्मकता लाने से एक नया रस उत्पन्न होता है। परन्तु अभी तक दोनों बातों को, हिन्दी में साहित्य के लिए हितकारी समझने वाले थोड़े ही हैं। कविता में गद्यात्मकता (जैसे 'निराला' की नये पत्तों की रचनाओं में) को, कविता के पाठक तो ठीक, आलोचक तक सहन नहीं करते। उन्हें उत्तम उत्तर, केदारनाथ अग्रवाल ने 'पारिजात' के नवीन अंक में, काव्य-चिंतना में दिया है।

But poetry has as much to learn from prose as from other poetry, and I think that interaction between prose and verse, like the interaction between language and language, is a condition of vitality in literature (T. S. Eliot)

'निराला' की कविता पर दुरूहता और गद्यात्मकता का आक्षेप लगाने वाले, उनकी अपेक्षाकृत सरल रचनाएं तथा गीत नहीं पढ़ते, या जानबूझकर उन्हें टाल जाते हैं, ऐसा कहना बुरा जान पड़ता है। सरलता का अर्थ सहजता नहीं, और न गीत का केवल मधुर शब्द-जाल ही। 'छंद की बाढ़, वृष्टि अनुराग भर गये वे भावों के झाग' से छूटने के लिए, निराला प्रखर स्वर में कहते हैं—
'तोड़ो-तोड़ो कारा, पत्थर की, निकले फिर गंगा जल धारा।'
यह युग की गंगा रूढ़ियों के बंध तोड़ना चाहती है। 'नव गीत नवलय, ताल-छन्द नव, नवलकंठ, नव जलद मंद्रनव, नव नभ के नव विहंग वृन्द को नव-पर नव स्वर दे!' यह उनकी कामना है। परन्तु वे केवल नवीनता के लिए नवीनता नहीं लाना चाहते।

प्रत्येक नवीन वस्तु को—साहित्य में नवीन शैली या रचना प्रयोग को तो विशेष रूप से विरोध-सहन करना ही पड़ता है। प्रस्तुत लेख के लेखक ने अपनी नई कविताएं जब 'विशाल भारत' में इम्प्रेशनिस्ट' संबोधन से प्रकाशित कीं, तो रूढ़िवादी अखबार काँव-काँव कर उठे। काव्य का 'क' भी न समझने वाले संपादक, गिद्धों से टूट पड़े। 'वीणा' ने मेरी एक कविता पर सम्पादकीय में छः महीने तक मुझे गालियाँ दीं। खैर, यहाँ ब्लैकवुड 'मैगज़ीन' की टीका से डर जाने वाले कीट्स की-सी नज़ाकत तो हमने पाई नहीं, मैंने विस्तृत प्रत्यालोचना भेजी। तब के वीणा संपादक ने उसे छापा नहीं। इतना ही नहीं वरंच

अध्ययन पूर्वक लिखा वह लेख हजम कर गये। यह तो है संपादकों का 'काव्य-प्रेम !' निराला पर भी प्रहार हुए। वे डगमगाये नहीं। परिणाम यह है कि निराला का मुक्त छन्द और राम की शक्ति पूजा की शैली (मेरे अपने क्षुद्र नम्र प्रभाव-वादी प्रयोगों की भाँति) हिन्दी काव्य में रूढ हो गये, उन पूर्व-ग्रह दूषित, व्यक्तिगत आलोचनाओं को साहित्य के जानकार और विद्यार्थी भूल गये। अतः विरोधों से, साहित्य की प्रगतिवादी स्वरधारा डगमगाती नहीं, न रुकती ही है। वह साहित्य के इतिहास की अनिवार्य गति-लय है।

'निराला' के तुलसीदास पर लिखने के लिए विस्तृत अवकाश तथा विशाल कैनवास चाहिए। इस छोटे लेख में वह संभव नहीं। 'हिमालय' के अंक में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की, 'तुलसीदास' काव्य पर समीक्षा, रसिक पढ़ें। मैं 'गीतिका' और 'अनामिका' पर आता हूँ। 'गीतिका' में जुही की कली वाले निराला का निखार है। शब्दों की पच्चीकारी हैं, सु-वर्ण मयी मीनाकारी, वर्ण चमत्कार—विस्तार को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं' (बेला)। शृंगार, शांत रस, करुणा सभी भाव-भंगिमाएं गीतिका में हैं। 'अनामिका' में फिर निराला के विविध स्वर प्रस्फुट हैं। 'वनबेला' आदि में तीखी व्यंगमयी शैली 'सरोज-स्मृति', 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' आदि में आत्मकथात्मकता (आटोबायोग्राफिकल एलिमेंट) 'राम-रावण का अपराजेय समर' में अभिजात (क्लासिकाल) शैली, 'वे किसान की नई बहू को आँखें', और 'तोडती पत्थर' आदि में अस्पष्ट प्रगतिवादी स्वर। 'निराला' की कविता में राष्ट्रीय भावधारा प्रत्यक्ष 'माइक्रोफ़ोनी' या प्रचारात्मक 'झंडावादी' या 'नारावादी' कविता बनकर नहीं आई। भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन के; उसकी उथल-पुथल के, बहुत सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष प्रभाव सूत्र निराला की रचना में विद्यमान हैं, जो 'अनामिका से परावर्ती' कविता में बहुत स्पष्ट हैं।

'कुकुरमुत्ता' से निराला की कविता-धारा मुड़ी। कुछ ठिठकी, अटकी, खिलखिलाई, फिर दौड़ पड़ी, किलकारी भर, वन्य उत्स-सी, छलांग भरती हुई! लोग कहने लगे, 'महाकवि निराला पागल हो गया', कविता लिखते हैं या ऊल-जलूल। उसको समझने की शक्ति युग के, जीवन की दुराराध्य, क्षिप्र प्रमाथी गतिमानता को नहीं ग्रहण कर सकी। निराला की प्रतिभा आगे निकल गई। लोग वहीं ठिठके खड़े थे। उन्हें चाहिये थे वही समस्यापूर्ति के 'टप्पे' के सिनेमाई तर्जों में या नक्की सुरों गाये गये सस्ते गीत; या फिर ध्वंसवादी कविता की कुश्ती के दांवों-सी उखाड़-पछाड़।

[illegible] सामाजिक प्राणी हैं, उनका भी लोक-[illegible] है। [illegible] के शोषण के विरोध में जब निराला [illegible] लिखते हैं तो वे स्वयं आगको [illegible] के लिए [illegible] वाहवाही लूटने के लिए नहीं [illegible] एक विधवा के प्रति [illegible] नहीं [illegible] थी, वही [illegible] कुकुरमुत्ता, झींगुर आदि पात्रों के [illegible] फूट उठती है। 'निराला' [illegible] नहीं, उनके पुराने व्यक्तित्व का ही [illegible] रूप है। जैसा कई महानुभाव (और [illegible] अध्यापकगण) सोचते हैं 'निराला का [illegible] नहीं हुआ है, न गिर रहा है, वह तो उठ रहा है, 'तुलसीदास' [illegible] की '[illegible]' की भाँति।

'बेला' और 'नये पत्ते'

निराला अपनी हर किताब के साथ कुछ 'निरालापन' लेकर आये : 'परिमल' में मुक्तछंद; 'गीतिका' में नये ताल; 'तुलसीदास' में रहस्यवादी खंडकाव्य; 'अनामिका' में 'राम की शक्ति-पूजा'; 'अणिमा' में 'विजय लक्ष्मी पंडित के प्रति'; 'बेला' में ग़ज़लें; 'नये पत्ते' में आधुनिकतम शैली की व्यंग-हास्यभरी रचनाएँ।

'बेला' में जो छंद प्रयुक्त हैं, उर्दू की बहरों के वज़न पर जो 'वर्ण-चमत्कार' निराला ने कर दिखाया है, वह सभी जगह सफल नहीं है। परन्तु मराठी कविता में जिस प्रकार 'माधव-ज्यूलियन्' (जो कि स्वयम् फ़ारसी के अध्यापक थे) ने उर्दू छंद-शास्त्र से 'गज़लों' के अनेक प्रकार लाकर "गज़ल-ांजलि" लिखी, उसी प्रकार निराला का यह प्रयोग है। निराला की संगीत-रुचि सूक्ष्म होने से गज़ल के वे वार्णिक रूप जो हिन्दी में पहले से ही 'भुजंगी' या 'मंदारमाला' या 'चामर' छंद के रूप में प्रचलित थे, निराला ने नहीं लिये। रुबाई भी इसीलिए वैसे छोड़-सी दी। उर्दू छंद गज़ल, गुजराती कवि 'कलापी' ने भी लिये हैं—'जो ज्यों नज़र मारी हरे, यादी भरी त्यां आपनी!' और उसी छंद में 'माधव ज्यूलियन्' की प्रसिद्ध उक्ति :

> येथें स्थिरेना चाल्ता, थांबू कशाला येद मी
> दुडकीत चारू गभीरता, हिंडेन भूवा नेहमी

और तीन अंतिम मात्रा कम कर निराला का यह छंद (बेला, पृ० ८५)—

> संकोच को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं
> छन्दों को विनिस्वार दिये जा रहा हूँ मैं।

निराला की छंद के मामले में इस प्रयोगशीलता की तारीफ़ 'दिनकर' ने अपनी नई किताब 'मिट्टी की ओर' में पृ० १११ से ११५ तक की है। 'दिनकर' के ही शब्दों में 'छंदोबंध से कविता को मुक्त करने वालों में निराला जी सर्व-वरेण्य हैं और हिन्दी-साहित्य के इतिहास ने इसका सुयश भी उन्हें ही दिया, जो योग्य भी है। कारण चाहे जो भी हो, किंतु निराला जी ने छन्द के क्षेत्र में जितना काम किया उतना उनके किसी भी समकालीन कवि से नहीं बन पड़ा। बदनाम तो निराला जी इसलिए हुए कि उन्होंने छन्दों का बंधन तोड़कर उसका निरादर किया, लेकिन किसी ने अब तक भी यह नहीं बताया कि नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्दों का अनुसन्धान करते हुए उन्होंने कितने पुराने छन्दों का उद्धार तथा कितने नवीन छन्दों की सृष्टि की है। अपनी लय चेतना के बल पर बढ़ते हुए उन्होंने तमाम हिन्दी-उर्दू छन्दों को ढंढ डाला है, तथा कितने ही ऐसे छन्द रचे हैं जो नवयुग की भावाभिव्यंजना के लिए बहुत ही समर्थ हैं।... उर्दू छन्दों का परिष्कृत रूप निराला जी की अनेक कविताओं में प्रकट हुआ है तथा वह सर्वत्र ही नवीनता, गांभीर्य और संगीत की अलौकिकता से पूर्ण है। छाया-वाद-युग में निराला जी शायद अकेले कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी के प्राचीन छंद बरवै का प्रयोग सुन्दरता के साथ किया है। निराला जी के मुक्त छंदों में कहीं-कहीं हम एक ही स्थल पर रोला, राधिका, ललित, सरसी, बरवै और वीर—सभी प्रकार के छंदों का प्रभाव एकत्र देखते हैं...।'

यह प्रशंसा इसलिए और भी अर्थवती है कि यह 'दिनकर' जैसे समकालीन कवि तथा प्रगतिशीलता को सर्वांशतः सही न मानने वाले आलोचक की कलम से निकले हैं।

परंतु 'बेला' के सब प्रयोगों में वे सफल नहीं हैं; जहाँ कान्शस रूप से या सतर्कता से प्रयोग करने वे गये हैं, सिर्फ़ वहीं। कहीं उर्दू की बंदिश और तर्जे-अदा में वे बह गये हैं; कहीं कलात्मकता में वे पंक्तियाँ ओछी पड़ गई हैं; कहीं एक ही पंक्तियों में बहुत बड़ा अर्थ समा डालने की जल्दबाजी में पंक्तियाँ दुरूह हो गई हैं। उदाहरणार्थ :

बदली जो उनकी आँखें इरादा बदल गया
गुल जैसे चमचमाया कि बुलबुल मसल गया
सारे दाव पेच खुले पेचीदगी आने पर
यार गिरफ्तार हुआ खून के बहाने पर

ऐसी कई पंक्तियाँ हैं जो सीधी उर्दू में शुमार हो सकती हैं, मगर इसी बीच

में कहीं शुद्ध हिन्दी का एकाध कठिन शब्द आ जाता है और रचना अटपटी, हिन्दी-उर्दू मेलवाली हो जाती है, जैसे :

इतना ही रहे अर्थों, कहां तक हो और यथां
शाप को भी आना पड़ा पाप के न जाने पर

यह ऐसे जान पड़ता है जैसे 'जोश' मलिहाबादी सिनेमा के लिए जानबूझ कर हिन्दी गीत लिख रहे हों। हिन्दी और उर्दू कविता की प्रकृति में ही भिन्नत्व है। जहाँ-जहाँ दोनों की खिचड़ी बनाने की कोशिश की गई है, कविता की 'हिन्दुस्तानी' हो गई है।

'आवेदन' में निराला जी ने कहा है, 'भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देशभक्ति के गीत भी हैं।...काव्य की कसौटी भी है। पाठकों की हिन्दी मार्जित हो जायगी, अगर उन्होंने आधे गीत भी कंठाग्र कर लिये; यों आज भी ब्रजभाषा के प्रभाव के कारण अधिकारी-जन तुतलाते हैं, खड़ीबोली के गीत खुलकर नहीं गा पाते।' 'बेला' की कविताओं में भी ब्रजभाषा की कोमलता तो अवश्य कहीं-कहीं है ही, चाहे तुतलाहट न हो।

'काले काले बादल छाये न आये, वीर जवाहरलाल' और 'आ रे गंगा के किनारे !' की धुनें स्पष्ट लोकगीतों से प्रभावित हैं। 'सोहे', 'बौरे', 'पुरवाई', 'छुन-छुन', 'महावर', 'हिलोरें', 'सरसाई', 'नरांरों', 'संवार', 'सुर धुनी', 'मनसिज', 'अबल', आदि सब ब्रजभाषा की ही तो देन हैं। अवश्य खड़ीबोली के मुहावरों का निराला जी ने बड़ी खूबी से यह निर्वाह किया है। यह 'निर्वाह' 'चोखे चौपदे' या 'चुभते चौपदे' वाला हरिऔधी ज़बरदस्ती का निर्वाह नहीं है। यहाँ भाषा की लचक कविता के रूप में स्वभावतः समा गई है। मुहावरे का ताना, भावों के बाने से बुन दिया गया है। परन्तु 'बेला' की गज़लें फ़ारस के क़ालीन न बन सकीं। कुछ खुरदुरी आधी-भारतीय आधी-फ़ारसी दरी ही बन कर रह गई हैं।

इस दोष को छोड़, इस किताब की कुछ अच्छाइयाँ बताता हूँ। कहीं-कहीं दो चार पंक्तियों में निराला ने बड़ी दूर का और पते का भाव भर दिया है। उदाहरणार्थ :

आँखें वे देखी है जब से,
और नहीं देखा कुछ तब से,

नाथ, तुमने गहा हाथ, वीणा बजी;
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी।

बातें चली सारी रात तुम्हारी;
आँखें नहीं खुली प्रात तुम्हारी।

जल्द जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ।
बैंक किसानों का खुलाओ,
सारी संपत्ति देश की हो,
सारी आपत्ति देश की बने…

स्वर विवादी ही लगा, गाना सुनाना हो जहाँ
साथ से हर वक्त का उन्माद तू जब तक न कर।
आँख के आँसू न शोले बन गये तो क्या हुआ?

केश-रूखे, अधर सूखे,
पेट भूखे आज आये।

मगर यह रचना जिस काल में की गई, तब युद्ध की विभीषिका विश्व पर छाई हुई थी, 'रुण्डमुण्डों से भी हैं खेत गोलों से बिछाये।' और :

मैंने कला की पाटी ली है शेर के लिए,
दुनिया के गोलन्दाज़ों को देखा, दहल गया।

'नये पत्ते' निराला की किताबों में मुझे अनेक दृष्टियों से श्रेष्ठतर रचना जान पड़ती है, 'बेला' से, 'अणिमा' से भी। 'बेला' और 'अणिमा' में वे जैसे नई दिशा टटोल रहे हैं; पूरी तरह नहीं उतरे हैं। 'नये पत्ते' मे निराला की नई दिशा का निखार है। कुछ अशों में यह 'कुकुरमुत्ता' संग्रह की व्यंग-हास्यमयी शैली का परिष्कृत रूप है; अधिक सूक्ष्म, अधिक स-चोट!

दो तीन कविताएँ तो पुराने टाइप की लंबी, वर्णनात्मक हैं, जो बहुत अच्छी नहीं।—'स्फटिक शिला' 'देवी सरस्वती,' 'युगावतार परम-हंस रामकृष्ण देव के प्रति'। परन्तु इन रूढ़ विषयों में भी शैलीगत नवीनता का चमत्कारीपन आ ही गया है। जैसे, स्फटिक शिला में निराला के कल्पना लोक में बार-बार आने वाली सद्यःस्नाता, जिसका भव्य-कोमल रूप रवीन्द्रनाथ की विजयिनी के अनुवाद में—देखिए 'तट पर' नामक कविता 'अनामिका' में; और वीभत्स परिहासमय रूप 'खजोहरा' में व्यक्त हुआ है। वही सद्यःस्नाता चित्रकूट के दर्शनोपरान्त गंगातट पर उन्हें इस रूप में दिखाई देती है; अंतिम दो पंक्तियों

में निराला की आत्मा गंगा का ध्यान आना बहुत . . . का है—कुछ भी संकोच नहीं करता :

बहुत उठे हुए उरोजों पर पड़ी थी निगाह
लोच ऐसी पतली की, नहीं जैसे कोई थाह
देखने की मुझे ओर
फेरे भरे दृग, हैं वे कितने कठोर।
मेरा मन काँप उठा, याद आई जानकी।
हाय, तुम भामती,
जैसे छिपे हैं कृशान।

गाड़ी से ऊँचे-नीचे जाने का बहुत अच्छा वर्णन 'स्फटिक शिला' में हुआ है, मगर विस्तार अनावश्यक है। 'देवी सरस्वती' में वसंत और शरद् ऋतुओं के खेतों के वर्णन मनोरम हैं। विवेकानंद के अनुवाद और रामकृष्ण परमहंस वाली कविताएँ साधारण हैं क्योंकि स्तुति शैली में हैं। 'कैलाश में शरत्' एक अभिनव चित्रात्मक है, जिसमें अर्थ-तत्त्व को काफ़ी स्थान दिया गया है। यहाँ निराला की दूसरी बार-बार आने वाली उपमा मिलती है—'पत्थरों को फोड़कर मुक्तधारा बह रही है।'

बची हुई छोटी कविताओं में प्रायः सभी सामाजिक-राजनीतिक गर्भिताशय लिये हुए हैं। 'रानी और कानी' 'मास्को डायलाग्ज़' 'खुश-खबरी' 'दगा की' 'गर्म पकौड़ी' 'प्रेम संगीत' आदि 'नान-सीरियस' ढंग से, 'बेथॉस' और 'ग्रोटेस्क' (हास्यगत असुन्दर) का सहारा लेती हुई चलती हैं; सभी कविताएँ मुझे बहुत ही मार्मिक जान पड़ीं; उनकी विस्तार से अच्छाइयाँ नीचे बताऊँगा। शेष 'थोड़ों के पेट में बहुतों को आना पड़ा', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'चर्खा चला', 'पाँचक', 'तारे गिनते रहे', 'कुत्ता भौंकने लगा', 'तिलांजली', 'छलाँग मारता चला गया', 'खून की होली जो खेली', 'महगू महगा रहा'—ये सब कविताएँ शुद्ध मार्क्सवादी विवेचना कविता के पुट में हैं। इनमें व्यंग बहुत तीक्ष्ण और कचोट भरा है। इस टेकनीक के सम्बन्ध में मान्य आलोचक आई. ए. रिचर्ड्स ने टी. एस. ईलियट की कविता के बारे में जो कहा था, वह निश्चय ही कम-अधिक प्रमाण में निराला के बारे में कहा जा सकता है :

'This poetry has 'music of ideas'. The ideas are of all kinds abstract and concrete, general and particular, and, like the musician, so phrases , they are arranged, not that they may tell us something,

but that their effects in us may combine into a coherent whole of feeling and attitude and produce a peculiar liberation of the will. They are there to be responded to, not to be pondered or worked out.' (Principles of Literary criticism P. 293) "उनकी कविता में हमें मिलता है 'विचारों का संगीत'। उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के विचार आते हैं—निगूढ़ अनपेक्ष और स्थूल; समूहवाची तथा विशेष, व्यक्तिवादी : स्वरकार की शब्द-योजना के ही समान उनका जो क्रम बंधता है, वह इस प्रकार नहीं बंधता कि उसके द्वारा कोई बात जानी जाय, बल्कि इस प्रकार कि उनके नाना प्रभाव हमारी चेतना में भावना और दृष्टिकोण की स्निग्ध सम्पूर्णता के साथ नियोजित हो सकें, और उनके द्वारा संकल्प शक्ति को विशेष उन्मुक्ति प्राप्त हो सके। वे इसलिये हैं कि हम अपने मन पर उनका प्रभाव ग्रहण करें, इसलिए नहीं कि उन पर अध्ययनात्मक चिन्तन किया जाय या कि हम फैलाकर उनका विश्लेषण करें।" (साहित्यिक समालोचना के सिद्धान्त, पृष्ठ २—३)

प्रगतिशील कविताओं की ये सब कविताएँ बहुत उत्तम उदाहरण हैं, जहाँ व्यापारिक शोषण का पर्दाफ़ाश किया गया है, जहाँ अर्थशास्त्र के कठिन सिद्धांत 'पाँचक' की दस पंक्तियों में 'कांग्रेस' कर रख दिये गये हैं; जहाँ गतिरोध की भयानकता 'तारे गिनते रहे' में व्यक्त कर दी गई है; जहाँ मेंढक और कुत्ते की प्रतीकात्मक सहायता लेकर किसानों की असहायता और विषमता पर निर्भय घनाघात है; जहाँ विशुद्ध नैचुरलिज़्म है; जैसे 'डिप्टी साहब आये' या 'महगू महगा रहा' में—जो कि समाजवादी यथार्थवाद से गर्भित हैं; या कि शुद्ध भावनात्मक चीज़ें हैं, जैसे आर. एस. पंडित की प्रेतयात्रा और प्रेतदाह पर 'तिलाँजली' और 'खून की होली जो खेली' में विद्यार्थियों की आइ. एन. ए. के संबंध में गोलियाँ खाने पर भावोन्मेष! इन सब कविताओं में निराला ने मार्बिड मृत्यु-प्रेम नहीं दरसाया है, जो अक्सर राष्ट्रीय ध्वंसवादी कवि दिखाते हैं। उनकी स्वस्थ, प्रखर, कलाकार आत्मा सर्वत्र दहाड़ती है, 'हुइ-हुइ' कर विलाप नहीं करती।

हाँ, मैं निराला की 'तेल की पकौड़ी' आदि व्यंग-पूर्ण कविताओं की बात कहने जा रहा था। पहली बात तो यह कि सूक्ष्म और स्वस्थ परिहास-वृत्ति का आधुनिक हिंदी कविता में—विशेषतः छायावाद-स्कूल में लोप-सा हो गया। 'प्रसाद' का पूरा काव्य उठा लीजिए, एक पंक्ति हास्य की नहीं मिलेगी। 'पंत' के भी यही हाल हैं; यद्यपि 'ग्राम्या' में ग्रामवधू आदि एकाध कविताओं में थोड़ा

बहुत हास्य है। महादेवी वर्मा की एक पंक्ति भी हास्यमय नहीं। गोया जीवन में हँसी जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, सब ओर, सब कहीं, सब वक्त नीर भरी दुख की बदली ही छाई हुई है। परिहास स्वस्थ मन की देन है; अश्लीलता विकृत मन को; चिर-गम्भीरता 'न्यूरौटिक' और चिर-उदासी निश्चित 'मार्बिडिटी' की।

निराला की हास्यवाली कविताओं में कितना सुन्दर व्यंग है; 'रानी और कानी' और 'खजोहरा' पढ़कर साहित्य के सुष्ठ शिष्ट पाठक शायद मुँह बिचका लें। मगर दोनों में यथार्थवाद को निभाया गया है। कविता अब केवल ऊर्वशी के अनिन्द्य यौवन और 'पंत' की अप्सराके इथीरियल गात की ही चर्चा नहीं करेगी; सामान्य-जन और उनके सामान्य सुख-दुख भी कविता के विषय हैं। सब से अच्छी बात यह है कि निराला के व्यंगों के अन्दर हमदर्दी की भी एक छुपी हुई पुट बनी रहती है। अर्थात् जहाँ समाज की स्नाबरी (अहमन्यता, व्यर्थ अहन्ता) पर वे चोट करते हैं, वहाँ वे ज़रा भी नहीं चूकते; वार बराबर निशाने से और सफाई से करते हैं। 'मास्को डायलाग्ज़' इसका अत्यन्त उत्तम नमूना है।

'खुशखबरी' और 'दगा की' में निराला की आत्मा सिनेमाई संगीत और नृत्यकी व्यभिचरित कलाके प्रति विद्रोह कर उठी है। कहते हैं—'सत्य सिनेमा की नटी से नाचा ! 'दगा की' और भी अधिक सुन्दर रचना है, जिसमें वे आजकल के विकृत अभारतीय संगीत पर कहते हैं :

मगर खँजड़ी न गई।
मृदंग तबला हुआ,
वीणा सुर-बहार हुई।
आज पियानों के गीत सुनते हैं।

'गर्म-पकौड़ी' और 'प्रेम संगीत' में वर्ण-व्यवस्था और सस्ते प्रेम के गानों पर करारा व्यंग है। ब्राह्मण को इसीलिए जानबूझ कर उन्होंने 'बम्हन' लिखा है। गर्म पकौड़ी में आहार और मैथुन की सामान ऐंद्रेयक प्रतिक्रियायों का वर्णन देकर 'दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा' या ' जूस की कौड़ी' की बड़ी बढ़िया यथार्थवादी उपमाएँ हैं। सेक्स का जो टैबू छायावादियों ने बना रखा था, उसका दुर्ग इस पकौड़ी-कचौड़ी वाली कविता में ढह गया है।

'कैलाश में शरत् में' भी सूक्ष्म परिहास है जहाँ कि अनमेल चीज़ों को मिलाकर एक विचित्र भास उत्पन्न किया है। विवेकानन्द को लेकर बाबर से मिलने चले; राह में तातारी वीर मिले, किश्तियों से मानसर पार किया और वहाँ स्वर्ग की अप्सरा स्नान करने के लिए उतरी, यह फ्यूचरिस्ट ढंग की कविता है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि गाँव के किसान और जमींदार वाली रचनाओं में देहाती मुहावरों का बहुत ओजपूर्ण, प्रसादमय उपयोग निराला ने किया है।

तात्पर्य, निराला के नये दो काव्य-ग्रन्थ टालने की वस्तुएँ नहीं। नये कवियों को उन्हें पढ़कर बहुत कुछ सीखने और मनन करने का मसाला मिलेगा। हम चाहते हैं कि निराला उत्तरोत्तर अपने ही ढंग से गाँव वाली तर्ज में और व्यंग चित्रात्मक चीजें लिखें। वे बहुत सुप्राण रचनाएँ हैं। उनका युग-मूल्य है। उनमें परिपक्व कला-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। निराला हिंदी का एक अकेला कवि है जो अपने क्रैफ्ट (कवि कर्म) के प्रति अत्यंत सचेतन रूप से प्रामाणिक रहा है और साथ ही जिसने युग के बदलते हुए मूल्यों को भी सहेजा है—किताबों की मारफ़त नहीं, मगर जीवन के कड़ुए अनुभव से। उसकी स्याही की बूंद, उसके अपने खून और पसीने की है; वह निरे खारे, बेअसर आँसुओं की फीकी-फीकी रोशनाई नहीं।

४. निराला के व्यंग-काव्य में अति-यथार्थवाद

जबसे मैंने कुछ आधुनिकतम अंग्रेजी कविताएँ पढ़ीं और पढ़ने से अधिक समझने की कोशिश की—क्योंकि उनमें से बहुत-सी ऐसी होती हैं जिनका अर्थ पल्ले पड़ना साधारण बात नहीं; और उन कवियों पर तथा उनके सिद्धान्तों पर टी. एस-ईलियट, डे लुई, लुई मैकनीस, रोजर रफटन, फ्रांसिस स्कार्फ आदि आलोचकों के मंतव्य पढ़े; तब से निराला जी की नई कविताओं के प्रति मेरी दृष्टि कुछ अधिक उदार और भिन्न हो गई। वैसे तो गद्य में वर्त्तमान धर्म और पद्य में 'कुकुरमुत्ता' से ही निराला की कला-दृष्टि में एक विशेष प्रकार के परिवर्तन के लक्षण दिखाई देते थे; फिर भी मैंने इस लेख की सीमा के लिए केवल 'अणिमा', 'बेला' तथा 'नये पत्ते', इन तीन संग्रहों को ही चुना है। यद्यपि जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख आगे होगा, उनकी जड़ें 'परिमल' और 'अनामिका' और 'गीतिका' में से दिखाने की कोशिश मैं करूंगा; फिर भी विशेष रूप से इन्हीं तीन नये संग्रहों को मैंने जानबूझ कर चुना है।

इससे पहले कि उन पर लिखना आरम्भ करूँ, जिस शब्द से यह आरंभ होता है, उसे समझना आवश्यक है। शब्दशः सररियलिज्म का अर्थ होता है अति-वास्तववाद या अति-यथार्थवाद।

फ्यूचरिज्म (भविष्यवाद) की काव्य-क्षेत्र में अवतारणा सररियलिज्म कहलाती है। भविष्यवादी चित्रकारों के अनुसार न अतीत चित्रण योग्य है, न वर्तमान। यदि कुछ अंकन करने योग्य है तो वह भविष्य ही है। उस भविष्य में काल-

देश-गत भेद मिट जाँयगे। जब हम भावी का स्वप्न देखते हैं तो उसमें हमारे अवचेतन मन का प्रक्षेपण ही तो विशेष रूप से होता है। वासिली कैंडिन्स्की नामक पोलिश चित्रकार ने इस पद्धति को आरंभ किया। उसके मतानुसार चित्र-कला भी संगीत की भाँति अतींद्रिय, अगोचर, अरूप (एवस्ट्रैक्ट) होनी चाहिए। उसने 'आध्यात्मिक एकरूपता की कला' नामक पुस्तक लिखी जिसमें अपने कई चित्र दिये। भारतीय चित्रकारों में गगनेंद्रनाथ ठाकुर के 'प्रार्थना का समय', 'अप्सरालोक' आदि चित्र क्यूबिस्ट-फ्यूचरिस्ट शैली के उत्तम नमूने कहे जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रायः सभी चित्र इसी प्रकार के हैं। नन्दलाल बोस तथा देवीप्रसादराय चौधरी के कुछ चित्र, अमृतशेरगिल तथा मनीषी दे के अधिकांश चित्र भी इसी प्रकार के हैं। जर्मन-बौद्ध अनगारिक गोविंद की पुस्तक 'कला और मनन' में ऐसे ही चित्रों की बहुलता है। इटली में मारिनेत्ती के नेतृत्व में विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न रूप प्रमाणों का आंशिक चित्रण (sectional representation of divers aspects of different objects) शुरू हुआ। ये वस्तु के मूल में पहुँच जाना चाहते थे; उसे तीनों प्रमाणों में (थ्री डाइमेन्शन्स में) व्यक्त करना चाहते थे। उन पर आइन्स्टाइन की सापेक्षता तथा फ्रायड के अवचेतनवाद का भी प्रभाव था। रंगों में तो उन्होंने नव्य-प्रभाववादियों का रंग-संतुलन मान लिया, परन्तु रेखा में, रूप में उन्होंने एक नवीन 'गत्यात्मकता' आरंभ की (dynamic composition of matter must be interpreted in its plastic aspects)। कला-समीक्षकों का मत है कि इस प्रकार चित्र-कला में गति-तत्त्व को प्रधानता देकर उन्होंने चित्र-कला को केवल आयतन तथा आकार की कला की श्रेणी से उठाकर काल तथा शक्ति की कला बना दिया (Futurists converted the art of painting from an art of space to an art of time)। यह शक्ति स्व-केंद्रित तथा स्वयं-प्रेरित थी—जैसे पृथ्वी सूर्य के आस-पास भी घूमती है और स्वयं अपने आसपास भी।

चित्रकला में इन शैलियों ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद या विरोधविकासवाद (डायलेक्टिक्स) की अवतारणा की। इसका परिणाम कविता पर क्या हुआ, विशेषतः अंग्रेजी कविता पर, अब हम यह देखें।

यदि अंग्रेजी कविता के वर्तमान दर्शन के पीछे मार्क्स और फ्रायड, क्रोचे और बर्गसाँ, आइन्स्टाइन और ह्वाइटहेड कम-अधिक परिमाण में उपस्थित हैं, तो आधुनिक अंग्रेजी समालोचक यथा, रिचर्ड्स और ईलियट भी इनसे निश्चय

प्रभावित हैं। यहाँ स्थान नहीं है कि इन सब की विशद चर्चा की जाय। अतः मैं केवल दो ही तीन प्रभावों की चर्चा करना चाहता हूँ। 'बीसवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य' नामक ग्रंथ में एच. वी. रूथ, फ्रेंच लेखक एदुआर्द दुजार्दिन के १६३१ में प्रकाशित 'ल मोनोलोग इंतीरियर' का प्रभाव जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ, एल्डस हक्स्ले के उपन्यासों पर कैसे पड़ा, इस सम्बंध में कहते हैं, 'चाहे आप फ्रायड, युङ्ग, एडलर, आर्न्स्ट जोन्स आदि मनोवैज्ञानिकों को न जानते हों पर एक बात तो आप जानते हैं कि हमारे मन की ऐसी विशेषता है कि गति में ही वह स्थिति प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, चित्रपट में कुछ संघटित कथानक होता अवश्य है, परन्तु वह कितने भागते, टुकड़े—बिखरे चित्रों द्वारा दिखाया जाता है। उसमें स्थान-स्थान पर fade-out, close-up और flash-back होते हैं। इंप्रेशनिस्ट चित्रों में भी विषय-वस्तु चाहे स्थिर हो, परन्तु इसका चित्र-प्रभाव आपके मन को अ-स्थिर कर देने वाला होता है। उन चित्रों में रंग और आकार एक प्रकार की योजनाबद्धता में चलते हैं। कभी-कभी तो इन चित्रों से ऐसे भाव ध्वनित होते हैं जिनकी अनुकरणशील वृत्ति होती ही नहीं, वे तो केवल एक संवेदना से दूसरी सहस्मृत संवेदना जगाते चलते हैं। कविता के क्षेत्र में भी कुछ ऐसी चीज घुस आई है, जिसका परमोच्च बिंदु है सररियलिज्म। इसमें बाह्यतः असंबद्ध दिखाई पड़ने वाले स्वप्न यों ही बेतरतीब छोड़ दिये जाते हैं, पर आप से आप रेखा-बद्ध होते चाले जाते हैं—कला के नियमानुसार। (surrealism—in which the apparent chaos of dreams are left to collect their outlines according to the morphology of art.)'

यहाँ पर काव्यगत कल्पना-चित्र और दिवा-स्वप्न आदि मनोवैज्ञानिक चर्चा चलाने के लिए पर्याप्त स्थल और अवकाश नहीं तथापि कवि की कल्पनाएँ कैसे बनती हैं, इस संबंध में टी. एस. ईलियट के 'कविता का उपयोग' नामक निबंध से एक विचार-सूत्र नीचे देता हूँ: 'एक लेखक के कल्पना-पुञ्ज का बहुत थोड़ा अंश ग्रंथों के अध्ययन से आता है। वैसे तो उसके शैशव से लेकर अब तक के अनुभूति-जीवन के समूचे संस्कार उसकी रचना में ढलते हैं और लेखक या कवि ही क्यों, हम सबके ही जीवन में जो कुछ हमने सुना, देखा, अनुभव किया है, उस जीवन-गत अनुभूति-पुञ्ज में से क्यों एक या कुछ संवेदना-चित्र विशेष रूप से बार-बार मन में उठते हैं? किसी पक्षी का गाना, किसी मत्स्य का पानी पर उछलना, किसी विशेष काल और देश में पुष्प-विशेष की सुरभि, जर्मन पहाड़ी रास्ते

पर एक बुढ़िया, एक छोटे से फ्रैंच रेलवे स्टेशन पर खुली खिड़की में से आधी रात के वक्त ताश खेलने में मशगूल छः शोहदे...इन स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है ; साथ-ही-साथ वे ऐसी गहरी अनुभूतियों को व्यक्त करती हैं जहाँ तक हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। हम जब अपने ही जीवन के अतीत में झाँकने लगते हैं तब हमारी स्मृति में जग उठते हैं कुछ तितर-बितर, बिखरे-उखड़े 'स्नैपशाट्स', मानों वे हमारे पुराने भाव-जीवन के बचे-खुचे स्मृति-चिह्न हों।...इसी आधार पर ईलियट यह मानता है कि हमारा मन पके हुए सूअर के मांस की बू, दाँते की भव्य कविता का पाठ और प्रणय-जाल में उलझने की मधुर अनुभूति एक साथ कर सकता है ! यानी ऐंद्रिय सुखानुभव, भव्यता का अनुबोध और आवेगों की अतिशयता हमारे मन में एक साथ चल सकती है। उदाहरणार्थ, 'निराला' की नये पत्ते में 'स्फटिक-शिला' नामक चित्रकूट-यात्रा का प्रसंग है। उसके अंतिम अंश में देखिये उत्तान शृंगार और अनन्य भक्ति का, रति और विरति का कैसा विचित्र मिश्रण है। इन उदाहरणों की चर्चा आगे मैं विस्तार से करूँगा। 'कैलाश में शरत्' भी एक सररियलिस्ट या फ्यूचरिस्ट कविता है जिसमें ऐसे कई चित्र-विचित्र मनोभाव एकत्र सिमट आये हैं।

अंग्रेजी कविता में सररियलिज्म फ्रांस से आया। फ्रांस में ब्रेटान, इलुआर्द, पेइरेत लाजीआमात, त्जारा आदि सररियलिस्ट कवि प्रसिद्ध हुए, जिनकी बहुत-सी रचनाओं को अंग्रेजी में रॉजर राफ्टन ने अनूदित किया। सन् १९३६ में 'समकालीन गद्य और पद्य' (कंटेम्पोरेरी पोएट्री एंड प्रोज़) नामक पत्रिका के दस अंक प्रकाशित किये गये, जिनमें लाजीआमात के 'माल्टोडोर के गाने' आदि अत्यन्त नवीन और युगान्त नवीन और युगान्तरकारी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं। ब्रेटान पर उसके आलोचकों ने आरोप लगाया कि ये कविताएं फ्रायड और उसके मानोविश्लेषण को लाना चाहती हैं। उत्तर में ब्रेटान को 'ल सररियलिज्मे आ सर्विस द ला रिवोल्यूशन' शीर्षक एक पत्र भेजना पड़ा। असल में कविता के क्षेत्र में सररियलिज्म मार्क्स-एंगेल्स, फ्रायड, युङ्ग को पचा कर एक नया रास्ता बना रहा था जिससे ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की जाय जो कि बोर्जुआ मनोवृत्ति का ही नाश कर दें, और इस प्रकार सच्ची साम्यवादी समाज-व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त और सुकर बने। कठमुल्ला साम्यवादियों ने इन सररियलिस्टों को और इस दावे को पलायनवाद कह दिया, क्योंकि भौतिक क्रांति को वे अभौतिक साधनों से मूर्त करना चाहते थे। इंग्लैंड के कम्यूनिस्ट कवि आडेन के आरंभिक कविता-संग्रह में यह आध्यात्मिक क्रांति वाली वृत्ति थी। उसकी अंतिम पंक्ति हैं :

'New form of architecture ; a change of heart'

(स्थापत्य के नये रूप, हृदय- परिवर्तन !)

परन्तु फ्रांस में भी प्रवृत्ति कहाँ से आई ? इसके लिए दो जर्मन कवि होइल्डेरलिन और रिल्के तथा एक पोलिश गद्य-लेखक काफ्का का उल्लेख करना आवश्यक है। होइल्डे रलिन का उदाहरण यहाँ इस लेख में इसलिये भी उपयुक्त है कि 'निराला' के मानसिक संतुलन के नाश की या 'मतवाला' बन जाने की जो चर्चा यत्र-तत्र चलती है उसकी तुलना में यह बात महत्त्व की है। होइल्डेरलिन एक जर्मन कवि था जिसने जीवन के अंतिम चालीस वर्ष पागलखाने में बिताये। उसके सबंध में समाज-मनोवैज्ञानिक, क्रेश्मर अपनी 'शरीर-रचना और चरित्र' में कहते हैं, "कवि और पागलों में जिस स्वकेंद्रित, स्वप्रेरित चिन्ता (autistic thinking) की प्रधानता होती है, उसकी चर्चा हम होइल्डेर-लिन टाइप से शुरू कर सकते हैं। घोर भावुक, असाधारण सुकुमार, निरन्तर उपेक्षित तथा नित्य-पीड़ित, छुईमुई के-से ये स्वभाव, जिन्हें 'all nerves' कह सकते हैं, वे एक तरफ—घोर भयानक ऐंठन से जकड़े हुए, मानसिक विमूर्च्छना से विजड़ित, बैलों की तरह बुद्धिशून्य, Dementia Praecox (मानसिक असंतुलन) के शिकार दूसरी ओर। विभक्त-व्यक्तित्व वाले मनुष्य (शिजोफ्रीन) को यदि ठीक तौर से शिक्षित किया जाय तो अच्छा होने के पहले वह एक अभिनेता या संगीतज्ञ भी हो सकता है। इस अवस्था में आत्म-विज्ञापन प्रिय विषय हैं। यह भी संभव है कि वह एक फ्यूचरिस्ट चित्रकार, एक अभि-व्यंजनावादी कवि या एक विध्वंसक वैज्ञानिक या आविष्कारक, अथवा किसी नई दार्शनिक विचार-धारा का उन्नायक बन जाय।"

इसी होइल्डरलिन की एक सररियलिस्ट कविता का हिन्दी गद्य अनुवाद नीचे दे रहा हूँ। कविता का शीर्षक है 'टेने-ब्राई'।

गिर्जे के प्रार्थनावाले कोने में पत्थर का पियानो
दिवस के प्रकाश के संगीत से गूँज उठता है,
जिसकी अनुगूञ्ज मेरे रक्त में गर्जन का ज्वार पैदा करती है;
उन अननुभूत, दूसरी दुनिया के गाने की बाढ़ से
मस्तिष्क में द्वादश सूर्य उमड़ कर फूटने लगते हैं
और फिर भी रात है
अंतहीन रात, जिसका एक-एक तारा
मेरी आत्मा में यों जम गया है जैसे सवेरे की बर्फ जम जाती है,

ऐसा सवेरा जिसमें सीपन की रंगीनी
और पहाड़ की हवा और घाटियों में बहने वाली नदियों की
सुरभित ताज़गी और प्रफुल्लता हो,
ऐसी नदियाँ जिनमें हंस तैर रहे हों,
स्वप्न के प्रवाह में संलीन,
कि हम सभी अपने सर पानी में डुबो देंगे।

मंदिर के घंटानाद को सुनकर एक आस्तिक के मन में भी कुछ ऐसे ही भाव उठेंगे न ! यह पागल का प्रलाप नहीं एक कलाकार के आत्माविष्कार का प्रश्न है।

होल्डरलिन के बाद वह दूसरी जर्मन कवि-प्रतिभा, जिसने योरुपीय कवियों की नई पीढ़ी को अत्यधिक प्रभावित किया है, रेनर मारिया रिल्के है। रिल्के और निराला की कला, प्रकृति और मृत्यु आदि के संबंध में मत बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। रिल्के कहते हैं, "कला हमारी कोशिश से दूसरे के काम की वस्तु नहीं बन सकती। दूसरे की तकलीफों को लेकर हाय-हाय मचाने से कला उच्च-कोटि की नहीं हो जाती। हम अपनी ही तकलीफों को कितनी गहराई से अनुभव करते हैं; अपनी नश्वरता को स्पष्टतर अर्थ कहाँ तक दे पाते हैं और उस वेदना को अपने ही भीतर व्यक्त करने की और उस पर विजय प्राप्त करने की क्षमता हममें कहाँ तक बढ़ती है, इस पर कला की सफलता बहुत कुछ निर्भर है... प्रकृति, हमारे आसपास की और उपयोग की चीजें नाशवान हैं; किन्तु जबतक हम इस लोक में हैं, ये सब हमारी हैं, हमसे मित्रता के सूत्र में बंधी चीजें हैं, हमारे पूर्वजों की भी ये विश्वासपात्र रही होंगी।...मगर हमें यहाँ और अब से उन्हें ऊपर उठाना है, उनमें परिवर्तन लाना है।...हमारा जीवन यदि सीधी रेखा, क्षितिज के समान है तो हमारा प्रत्येक परमानन्द का क्षण, कैवल्य या मरण का अनुभव भी खड़ी रेखा के समान है। परम आनंद और मरण-समानार्थक शब्द हैं। मरण की राह से ही हम प्रेम को जान सकेंगे, उसके प्रति न्याय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।...कला, जीवन सब का मूलस्रोत वही परम आनंद है।

यह आनन्द का स्रोत,
यह मानवमात्र को
बहा ले जानेवाला प्रवाह है।

और मनुष्य की 'नियतिकृतनियमरहितता' और फिर नियतिवाद के नागपाश से बचे रहने की विसंगति को रिल्के व्यक्त करता है :

अरे क्यों
मानवी बनना ही पड़ता है, और नियति को ठुकरा कर भी नियति की साध लगी रहती है ?

अंग्रेजी कविता में सररियलिज्म के संबंध में 'आडेन एंड आफ्टर' नामक फ्रांसिस स्कार्फ लिखित पुस्तक के तेरहवें और चौदहवें अध्यायों (व्हाट एबाउट सररियलिज्म और द ऍपाकॅलिप्स) की ओर संकेत कर देना पर्याप्त होगा। स्कार्फ के मतानुसार सन् १९३१ में योरप में जो भयानक आर्थिक संकट आया, बीस लाख लोग बेकार हो गये और योरोपीय समाज-व्यवस्था में जो भयानक दरारें पड़ीं, उस समय तरुण-दिमाग या तो मार्क्सवाद में या फासिज्म में रामबाण औषधि देखने लगे, कुछ तरुणों ने भागने का नया रास्ता निकाला-सररियलिज्म। इसमें अ-बुद्धिवाद होते हुए भी बौद्धिकता थी; दादाइज्म जैसी निरी नकारात्मकता नहीं थी। इस सररियलिज्म के विकास की भी सीढ़ियाँ थीं—पहली, हिप्नाटिक अवस्था, दूसरी, दिवास्वप्न की, तीसरी, चमत्कार तथा सहज विश्वास की, चौथी, सौंदर्यवादविरोधिनी, पाँचवी, अर्द्ध-वैज्ञानिक।

डेविड गॉस्कॉयनी की पुस्तक 'सररियलिज्म का संक्षिप्त विवरण' इस दृष्टि से उपादेय है। हिन्दी समीक्षा में तो सररियलिज्म पर अब तक एक ही लेख मेरे देखने में आया और वह प्रो० देवराज उपाध्याय ने 'हंस' में लिखा था।

फ्रांसिस स्कार्फ की अपनी पाँच मिन्ट में लिखी 'विलेत्-दाउ' नामक कविता है—

तुम्हारी आँखों के नीले कुंजी के छेद से देखते हुए,
तुम्हारे 'लॉन' में ऊँचा वृक्ष मेरी ओर चलता आया,
उसने मोटे-मोटे फल मुझ पर फेंके, वह मुझे कौड़ियों से खा गया।
मुझे चीटियाँ, खेत के चूहे, उल्लुओं की घर की याद दिखा गई।
क्योंकि प्रेम को क्षमा करना इतना कठिन है-इतना कठिन।
तुम्हारी आत्मा घास में से, रेंगती हुई मुझ तक आई और
मुझे अपनी डंकों से पकड़ कर, मुझे जिंदा दफन कर गई
तुम्हारे हृदय में आज मैं तुम्हारे ही सर्वोत्तम रक्त से लिख रहा हूँ।

अंग्रेजी कविता-क्षेत्र में अपेक्षाकृत तरुण और अत्यन्त सुकोमल आयरिश कवि टाइलन टामस की कई रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। उसकी एक पुस्तक, 'मैप आफ लव' मेरे अवलोकन में आई थी। उसकी अन्तिम कविता (सं० १६) इस प्रकार थी :

२४ वर्ष मुझे अपनी आँखों आँसुओं की याद दिलाते हैं।
(गड़े मुर्दों को गड़े ही रहने दो, वर्ना कहीं कब्र तक चले आएँ और
मज़दूरी माँगने लगें।)
प्रकृति के दरवाज़े की देहली पर मैं एक दर्ज़ी की तरह झुक कर बैठा था,
प्रकाश के लिए कंधा सीता हुआ,
मांसाहारी सूर्य के प्रकाश में।
यह चोला पहना ही इसलिये है कि मरना है, इंद्रियतृप्ति की यह
लँगड़ाहट भरी सफ़र शुरू हो गई है,
मेरी लाल-लाल धमनियों में पैसा बह रहा है,
मैं उसी मूल गाँव की अंतिम दिशा में बढ़ा जा रहा हूँ
मैं बढ़ता जाऊँगा जब तक, 'जब तक है' का अस्तित्व है।

सिग्मंड फ्रायड के एक निबन्ध में 'कवि का दिवास्वप्न से सम्बंध' वर्णित है। (सम्पूर्ण निबन्धावली, चतुर्थ खंड, पृ० १७८) उन्होंने कवि की मनोदशा की तुलना एक बच्चे से की है। दोनों ही एक सहज-विश्वास (मेक-बिलीफ) की दुनियाँ में रमते हैं। कवि ऐसे ही अवास्तव कल्पना-जगत् में शरण लेता है, जो कि शिशु-क्रीडा का ही एक परम्परित रूपमात्र है। कवि और शिशु दोनों में अपने अचेतन मन से सतत उलझने की प्रवृत्ति विद्यमान है। आगे चलकर फ्रायड ने कवि के मन की तुलना बर्बर तथा असंतुलित मन वाले मानवों के चित्तविभ्रम से की है। कविता और बर्बर मानवों का जादू में विश्वास, दोनों का काफी निकट सम्बन्ध है, बल्कि गिल्कस के आधुनिक कविता पर भाषणों में तथा जार्ज टॉमसन की 'मार्क्सवाद और कविता' पुस्तिका में इस मान्यता को पुष्टि मिलती है। 'सर-सर सिरि सिरि सुरु-सुरु नागानां जव-जव जिवि-जिवि जुवु-जुवु धारणियों के मन्त्रों में से एक है। अगर इसमें नागानां न होता तो पंत के 'सर-मर मर-मर रेशम के स्वर में' और उसमें कौन-सा रूपात्मक अन्तर है? कविता एक प्रकार का कुछ उच्च-कोटि का जादू या वर्ण-चमत्कार है। फ्रायड कवि तथा प्रमत्त की तुलना में आगे चलकर कहते हैं कि कविता कैसे एक प्रकार का 'साहित्यिक सन्निपात' ही है :

'We may say that hysteria is a caricature of an artistic creation, a compulsion neurosis a caricature of a religion, and a paranoiac delusion a caricature of a philosophical system. In the last analysis this

deviation goes back to the fact that "neuroses are a-social formations; they seek to accomplish by private means what arose in society through collective labour.'

हम कह सकते हैं कि मूर्च्छा कला-कृति की, बाध्यतोन्माद धर्म की, और शोषित-भाव दार्शनिक प्रणाली की विडंबना है। अंतिम विश्लेषण में इस विकृति का कारण यह है कि स्नायु-रोग असामाजिक परिणाम हैं; वे व्यक्तिगत रूप से वह काम करना चाहते हैं जो सामूहिक श्रम से समाज में संभव हुआ।

इस सम्बन्ध में थारवर्न की पुस्तक 'कला और अवचेतन' में 'ड्रीम और ड्रामा' प्रकरण तथा बर्गसाँ की छोटी-सी पुस्तक 'ड्रीम' तथा गेरट्रयूड स्टाइन की 'ड्रीमिंग' उल्लेखनीय हैं : यहाँ विस्तार में जाने का स्थान नहीं है तथापि बर्गसाँ का एक उद्धरण देने का मोह मैं संवरण नहीं कर सकता :

'Artists have been defined as adults party in the infantile stage. What has been called their infantilism would be more appropriately designated their primitiveness.' कलाकारों के बारे में यह परिभाषा दी जाती है कि वे ऐसे वयस्क व्यक्ति हैं जो अंशतः शैशवावस्था में ही हों। जिस बात को हम उनकी शैशवावस्था से अभिहित करते हैं उसे उनकी आदिम अवस्था कहनां ही ठीक होगा। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने वस्तु-जात की, विशेषतः प्राकृतिक शक्तियों की निर्धारणा को स्टाफ्फट्राइब, तथा आंतरिक सद्सद्विवेक को फार्मट्राइब कहा है और इन दो मानसी शक्तियों के द्वन्द्व के बीच एक प्रकार की कलात्मक क्रीड़ा-वृत्ति अथवा स्पाइल्ट-ट्राइब की संभावना सोचते हैं। कला तथा दिवा स्वप्न में कुछ इस प्रकार की शिशु-सुलभ सहजता; जादुई आभास-निर्मिति या एक काल्पनिक यत्न-सृष्टि निर्मित करने की क्षमता, एक प्रकार का चित्त-विभ्रम या आदिम वेगों की उद्दाम क्रीड़ा समान रूप से उपस्थित हैं। निराला की कविता में आरंभ से ही इस वृत्ति के कुछ लक्षण विद्यमान थे। वे दो परस्पर-विरोधी रसावलम्बनों को एक ही कविता में सहज रूप से प्रयुक्त करते थे। यथा :

'परिमल' की 'बादल राग' कविता में तथा 'दीन', 'धारा' आदि खंड दो की प्रायः सभी कविताओं में इस 'आधुनिकता' के बीज मौजूद हैं। 'सिर्फ एक उन्माद' में वे कहते हैं :

न चंचल शिशुता का अवसाद

किन्तु शिशु ही था था वह चंचल;
अपने लिये घोर उत्पीड़न,
किन्तु क्रीड़न था लोगों के लिये,
वहाँ कामना जीवन
हँसमुख किन्तु ममत्वहीन निर्दय वालों के लिये,
निरलंकार कवित्व अनर्गल
किसी महाकवि-कवित-कंठ से
झरता था जैसे अविराम कुसुम-दल।
वन-उपवन गूँजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फुर्सत—सुनता? था वह चूर।

'गीतिका' में भी कवि के भावकोमल मन के विविध 'मूड्स' की झाँकियाँ हैं। यथा :

तरि, धीरे बह री!
व्याकुल उर, दूर मधुर, तू निष्ठुर, रह री!
तृण थर-थर हरा तन-मन,
दुष्कर गृह के साधन,
लें घट श्लथ लाघवी, पथ
विच्छुरित, तू गहरी!

इन पंक्तियों के साथ यह ओजस्वी स्वर तुलनीय है :

गर्जित-जीवन झरना
उद्देश्य पार पथ करना।
ऊँचा रे, नीचे आता,
जीवन भर-भर दे जाता,
गाता, वह केवल गाता
"बंधु, तारना, तारना।"

'अनामिका' में तो आधुनिकता तथा भाव-विभावों के सतरंगे तारों को लेकर गुँथे कई पत्र हैं। यहाँ केवल सुविधा के लिए मैं गीतों के नाम ही पर्याप्त समझता हूँ : मित्र के प्रति, सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति, दान, दिल्ली, रेखा, वन-बेला, सरोज-स्मृति, खुला आसमान, ठूंठ, वे किसान की नई बहू की आँखें, नर्गिस आदि में निराला के कल्पना-चित्र अधिक सुस्पष्ट, मांसल, अरूप से रूपमय तथा हलके मगर फिर भी पैने व्यंग्य का पुट लिये हुए आगे बढ़ते हैं। विशेषतः

शिवनारायण राय ने सन् '२२ से सन् '३८ का विश्लेषण करते हुए बंगला कविता में सररियलिज्म के संबन्ध में कहा है—

The 30's have also tried to retrieve imagination from moral chaos by a conscious abjuration of all moral responsibility in art. This is the surrealist way. Surrealism implies a conscious and sustained effort to liberate the unconscious from the categories of consiousness and the directives of moral sense. That such an effort is bound to belie itself is fairly apparent for it prima facie implies a definite attitude and is therefore both conscious and moral in origin. However it lends countenence to purposive obscurantism in behaviour; in art, it makes a cult of disjointed expression. Among Bengali surrealists Amiya Chakravarti is decisively the most important.

अर्थात् १९३० से १९४० की अवधि में इस बात का प्रयत्न हुआ है कि कला में नैतिक दायित्व के सचेष्ट प्रत्याख्यान द्वारा कल्पना को नैतिक अस्तव्यस्तता से बचाया जाय। अतियथार्थवाद में यह अंतर्निहित है कि सचेष्ट और निरन्तर प्रयास कर अचेतन को चेतन की श्रेणियों और नैतिक भावना की प्रत्यक्षता से मुक्त किया जाय। ऐसा प्रयास अवश्य ही अपनी उद्देश्य-सिद्धि में असफल होगा क्योंकि इसमें स्पष्टतः निश्चित दृष्टिकोण है और इसलिए वह अपने मूल में ही चेतन भी है और नैतिक भी। फिर भी इतना तो है कि इसके द्वारा आचार सम्बन्धी उद्देश्यपूर्ण अस्पष्टतावाद को बल मिलता है, बंगाली अतियथार्थवादियों में अमिय चक्रवर्ती निःसंदिग्ध रूप से सर्वाधिक महत्व के अधिकारी हैं।

आगे चलकर अमिय चक्रवर्ती की कविता के सम्बन्ध में आपने कहा है कि वह बिन्दु और रेखाओं से बनी है। इम्प्रेशन्स के बिन्दु अस्पष्ट भावनाओं की रेखाओं में बीच-बीच में उभरते रहते हैं। बंगला कविता में भी तीखे व्यंग्य लिखने वाले हैं। 'एक पदशाय एकटि' सीरीज़ में 'राजधानीर तंद्रा' कविता-संग्रह की आरम्भिक कविता देखिए :

पढ़ फूलिस मूवमेंट
मिसेस दासेर साड़ित जेड़ेछे सेंट।

या 'आदिरस' कविता की यह चुटीली उक्ति देखिये :

ता'र नाम आमि जानिना
आमार ओ नाम जानिना से जेनेछे
इस्टेशनेर मिष्टि बातासे
दू जोनटि गान गेयेछि।
शून से दिलो ए ताकिये!
जेनेछि आमाके डाकिये
बोलेछिनुया! हठात् आमाय
सिपाह्या-रा दिलो हाँकिये!

व्यंग्य-कविता का दारोमदार बहुत कुछ उसके अन्तिम अंश पर रहता है। मराठी कविता में, व्यंग्यचित्रों की-सी कविताओं की, अत्रे आदि के साथ केवल बाढ़ ही नहीं आई बल्कि एक पूरा संग्रह पैरोडी और अन्य व्यंग्य कविताओं का छपा है। नाम है, उपहासिनी। इसके अलावा 'माधव ज्यूलियन' का 'सुधारक' नामक व्यंग्य-पूर्ण खंड काव्य उच्च-कोटि की रचना है। वैसे 'कालेज नें विश्व' तथा 'तोआगिनी' भी दो अन्य व्यंग्य खंडकाव्य हैं। गम्भीर व्यंग्य कविताएँ मुख्यतः अत्रे ने लिखी हैं : उदाहरणार्थ 'प्रेमाचा गुलकंद'। जयकृष्ण केशव उपाध्ये की 'चाल-चलाऊ भगवद्गीता' और स्व० गोविंदाग्रज की 'हुकुमे हुकूम' कविता इस ढंग की सुन्दर रचनाएँ हैं।

गुजराती में उमाशंकर जोशी, सुन्दरम्, मेघाणी तथा 'स्वप्नस्थ' आदि ने कुछ सुन्दर व्यंग्यमयी रचनाएँ की हैं।

उर्दू में महाकवि अकबर की परंपरा में जोश की व्यंग्य-कविता के नमूने मिल जायँगे।

हिन्दी की आधुनिक कविता में गम्भीरता अत्यधिक है; परिहास का पुट बहुत ही विरल है। कभी-कभी पंत की ग्राम्या में 'जाती ग्रामवधू पति के घर' के दर्शन हो जाते हैं; या 'दिनकर' की धूपछाँह में 'कवि के मित्र' के, अ... का जैसे नितांत अभाव है। कटु व्यंग्य है अंचल की 'हवेली', 'च... कविताओं में। निराला जी की इस दिशा में अपने ढंग की एक वि... 'मास्को डायलाग्स' के अन्तिम अंश का निर्वाह जैसा उन्होंने किया ... ही कोई दूसरा कवि कर पाता। व्यंग्य के ध्वनित रहने में ही उसकी वि... है।

गांधी भवन, मुबारक वादी
कल की सी घटना, शादी!
खुश होंगी पर सुनकर दादी!
तुम पोते को गोद खिलाओ!
मुन्ने आओ!

जो लोग पन्त जी को बहुत जटिल, कठिन, क्लिष्ट संस्कृतमयी भाषा लिखने वाला कवि कहते हैं वे ये कविता पढ़ जाँय! 'नया समाज' (फरवरी १६५०) के अंक में 'पंत काव्य में नारी' पर शांतप्रियजी द्विवेदी लिखते हैं: 'पंत नारी को रूपसी ही नहीं, प्रेयसी, श्रेयसी, यूयसी देखना चाहते हैं। (पृ० १२१) 'पल्लव' में पन्त जी को प्रेयसी के छूने में प्राण और 'संग में पावन गंगा स्नान' का अनुभव होता था, उस नारी के 'विचारों में बच्चों की सांस थी।' 'युगवाणी में आकर पंत ने अनुभव किया कि "क्षुधा-काम-वश गत मुझे पशुबल से कर जन शासित! जीवन के उपकरण सदृश नारी भी कर ली अधिकृत!" और "अंग-अंग उसका नर का वासना-चिह्न से मुद्रित। वह नर की छाया, इंगित संचालित चिर पदलुण्ठित!" इसलिए नर-नारियों को वासना के वसन खोलने को और स्वच्छ-स्वस्थ निश्छल 'चुम्बन' प्रिया के अधरों पर अंकित करने को पंत कहते हैं। 'ग्राम्या' में वे नारी के प्रति उनकी 'काया नैकस्य हीन प्रेम' (प्लैटॉनिक लव के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आलोचक डा० अमिय चक्रवर्ती का शब्द) वे व्यक्त करते हैं:

नारी की सुन्दरता पर मैं होता नहीं विमोहित?
शोभा का ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित?
विशद स्त्रीत्व का ही मन में नित करता हूँ पूजन।

पंत बचपन से ही एकान्तप्रिय रहे हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा और बाल्य संस्कार ही ऐसे रहे हैं कि उन्हें बाहरी टीम-टाम और साहबीयत से अधिक प्रेम नहीं। 'स्वर्णधूलि' की कविता में वे लिखते हैं:

सूट-बूट में सजे-धजे तुम
डाल गले फांसी का फंदा,
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अन्धा!

बचपन में पंत को बर्फ की परियों की कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक था। उन्होंने कसूरी भाषा के पहाड़ी ग्रामगीत भी खूब सुने, साधुओं की भी सोहबत

की। उनके बालपन के प्रिय ग्रंथ थे मेघदूत, रामायण, महाभारत, वैराग्य शतक। मतिराम, सेनापति, मैथिलीशरण गुप्त, रवीन्द्रनाथ और सरोजिनी नायडू की कविताओं से भी वे प्रभावित हुए। 'हरिऔध' के प्रियप्रवास में राधारुदन पढ़कर रो देते थे। वैसे तो ७ बरस की उम्र में ही पहिली तुकबंदी गजल के रूप में पंत ने लिखी, १९१६ में उनकी पहली कविताएँ—तम्बाकू का धुँआ और कागज का फूल 'मर्यादा' में छपी। तब पंत को 'हरिगीतिका' छंद बहुत प्रिय था। उस पहली प्रकाशित कविता में पंत लिखते हैं, तम्बाकू के प्रति :

सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में
रखता जहाँ बसे हैं भगवान विश्व स्वामी !

१९१७ में जब पंत ने मिडिल पास किया तभी एक उपन्यास भी लिखा, जिसका नाम था 'हार'। १९१९ में जयनारायण स्कूल बनारस से मैट्रिक करके पंत १९२१ के जुलाई २१ को म्योर कालेज इलाहाबाद में दाखिल हो गये। इन्टर में उनके विषय थे संस्कृत, इतिहास और तर्कशास्त्र।

१९२१ में गांधीजी प्रयाग आये। पन्त ने असहयोग आंदोलन के प्रभाव में कालेज की पढ़ाई छोड़ दी और कविता में डूब गये। तभी उन्होंने 'परिवर्तन' लिखा—जो हिन्दी भाषा या भारतीय साहित्य ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की एक अमूल्य निधि है। १९२४ में पंतजी का साम्यवादी पूर्णचन्द्र जोशी से सम्पर्क हुआ। 'पल्लव' का प्रकाशन खड़ी बोली के काव्येतिहास में एक युगांतरकारी घटना थी। 'पल्लव' की भूमिका हिंदी कविता के इतिहास में वैसी ही महाघटना है जैसे कालरिज और वर्ड्स्वर्थ का 'लिरिकल बैलेडस' की भूमिका का प्रकाशन, जिससे अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक कविता चल पड़ी।

परन्तु 'गुञ्जन' (१९३०) तक आते-आते पन्त गहरे आध्यात्मिक आत्ममंथन में और विचित्र कल्पनाकाल में फँसे से जान पड़ते हैं। 'तप रे मधुर-मधुर मन !' परन्तु क्यों? 'जीवन के उच्चादर्शों में···नित बूड़-बूड़ रे नाविक !' परन्तु क्यों? ये वे दिन थे जब वे उमर खय्याम का अनुवाद करने लू में घर से बाहर निकले और बीमार पड़े। १९२९ वाला अनुवाद बीस साल बाद 'मधुज्वाल' नाम से अभी हाल में छपा है। पंत अपने को गांधीवाद और मार्क्सवाद के बीच में खंडित पाते थे। कुछ समन्वय का प्रयत्न 'ज्योत्स्ना' नाटक में किया। परन्तु फिर 'युगांत', 'ग्राम्या'—'युगवाणी' में वे मार्क्सवाद की ओर अधिक आकृष्ट हुए। 'रूपाभ' के प्रकाशन काल के स्थल समय वे पूर्णतः भौतिकवाद की ओर झुके थे। 'रूप को मन' देने की उन्हें चिन्ता थी। परन्तु यह स्थिति

अधिक काल नहीं टिकी। १९३० में 'गुञ्जन' से १९३५ 'युगांत' तक यह मंथन उन्हें 'ग्राम्या' (१९४०) तक ले आया। जब गांधी पर उन्होंने 'कर्मयोगी' में कविता लिखी, आः यह सब कुछ तुम नहीं ! चर्खा हरिजनोद्धार ! और 'दो पेड़' जैसे सुन्दर गीत रचे।

फिर विश्व-युद्ध सामने आ गया। पंत जैसे सौंदर्यदर्शी, व्यक्ति वाद प्रधान कवि भौंचके रह गये। जैसे एक धक्का लगा, चेतना को ठेस पहुँची। भौतिकवाद का ऊपरी-ऊपरी विचार ढह गया। पंत फिर अन्तरोन्मुख हो गये। ७ वर्ष तक उन्होंने कुछ नहीं प्रकाशित किया। फिर निकली 'स्वर्णधूलि' 'स्वर्ण-चेतना', 'खादी के फूल', 'उत्तरा', 'युगपथ'—उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास वाले कविता संग्रह।

जिन प्रगतिवादी आलोचकों ने पहले उन्हें ऊपर चढ़ाकर क्रांतिकारी प्रगति-शील कवि बनाया, वे अब उनका यह गहन दार्शनिक रूप देख कर घबड़ा उठे। कहने लगे पंतजी की कविता में स्वर्ण शब्द का बार-बार आना इस बात का द्योतक है कि वे स्वर्ण के प्रेमी हो गये हैं।

स्वर्ण का सिक्का दुर्भाग्य से भारत में नहीं चलता। अतः इन प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि डाल पर गयी और भारत को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वर्ण भविष्य की प्रतीक कल्पना करने वाले पंत को, अमरीका का प्रचारक कहने से भी ये हमारे तथाकथित मार्क्सवादी बाज न आये।

असल में पंत चाहते हैं समन्वय ! 'उत्तरा' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा है (पृष्ठ २१ पर)—'मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि में वर्ग संतुलित) जनतंत्र तथा भारतीय जीवन दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानता हूँ, जैसा कि मैं अपनी रचनाओं में भी संकेत कर चुका हूँ :

अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से
निष्प्राण उसे प्रतिष्ठित करने जग में
दिया साम्य ने वस्तु विधान।

(युगवाणी-कार्लमार्क्स के प्रति)

पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो,
विकसित विविध-तंत्र में वितरित,
प्राची के नव अरुणोदय से,
स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित।

(स्वर्ण-किरण)

"ऐसा कह कर मैं स्वामी विवेकानन्द के सार-गर्भित कथन—मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन दर्शन चाहता हूँ," की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती जो मात्र सामाजिक होकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व संचरण ही वर्गहीन संचरण हो सकता है।

दर्शन के क्षेत्र में समन्वयवाद और नवमानवतावाद की स्थापना के साथ पंत ने भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद हिंदी को कई राष्ट्रीय गाने दिये हैं! 'भारतमाता ग्रामवासिनी!' 'जनभारत हे जाग्रत भारत हे!' के गायक पंत ने अनेक रूपों में गांधी युग के अवतरण, अवाहन और अभिवादन किया है। गांधी जी की मृत्यु पर 'बच्चन' के साथ उन्होंने अनेक चतुर्दशपद लिखे जो 'खादी के फूल' में संग्रहीत हैं।

एक छोटे से लेख में इस महाकवि के समूचे विचार विकास को दे पाना सम्भव नहीं। फिर भी कवि ने स्वयं 'प्रतीक' द्वैमासिक में 'युगवाणी पर एक दृष्टि' (प्रतीक संख्या ३) और 'मेरा रचनाकाल' (प्रतीक संख्या ४) में जो कहा है, वह 'आधुनिक कवि' की भूमिका और 'उत्तरा' की भूमिका के साथ पढ़ने से और स्पष्ट हो जाता है।

वस्तुतः किसी उत्तम प्रकाशक को चाहिए कि वह पन्त जी की 'पल्लव', 'युगान्त', 'ग्राम्या', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा', 'ज्योतिष्मती' (अप्रकाशित) इत्यादि भूमिकाएँ एकत्र कर दो 'प्रतीक' वाले लेखों के साथ-साथ प्रकाशित करे।

हिन्दी में पन्त जी की कोई जीवनी भी पूर्णतः नहीं मिलती सिवा 'युगांत' की भूमिका, राहुल जी के 'हंस' में प्रकाशित लेख और बच्चन के प्रतीक ६ वाले लेख के।

हम अपने ही कवियों की उपेक्षा कब तक करेंगे! 'प्रसाद' जी की मृत्यु हो गयी—उनकी एक भी प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं। 'निराला' जी प्रायः निर्वेद प्राप्त हैं। उनकी एक भी प्रामाणिक सम्पूर्ण जीवनी नहीं।

पंत जी इस शताब्दी का आधा पद-क्रमण कर चुके हैं—उनके साथ भी वही व्यवहार! वही मैथिलीशरण जी, माखनलाल जी और अन्य कविवरों की बात है। हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी हमारी जड़ता की यह नींद कब टूटेगी।

जो दशा जीवनियों की है, वही आलोचना ग्रन्थों की भी है। तिस पर भी पंत जी पर नगेन्द्रजी, श्री शची रानी और श्री विश्वम्भर मानव के विभिन्न आलोचना-ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'हमारे साहित्य निर्माता' पुस्तक में

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के कुछ लेख भी हैं; यह क्या बतलाता है ? हमारा औदासीन्य या हमारी संस्कृति शून्यता या हमारी साहित्य-कला के प्रति अकर्मण्यतापूर्ण वृत्ति ? आदि।

कविता, पंत के लिए प्रयत्नसाध्य नहीं। कीट्स के शब्दों में बेल पर जैसे फूल वैसे कवि में कविता फूटती है। इसी से :

संध्या का लुटपुट,
बांसों का झुरमुट,
चिड़िया चहक रही है टी पी टुट्-टुट् !'

जैसे ध्वनि शब्दों का गायक, 'एक तारा'—'नौका विहार'—'ज्योत्सना' जैसी मधुर चित्र-पटियों का अंकनकार, 'परिवर्तन' और 'युगवाणी' की कविताओं का चिन्तक मनीषी, 'ग्राम्य' में अहीरों, कहारों, चमारों, धोबियों के नृत्यों को वाणी देने वाला लोक-जीवन का छवि ग्राहक 'हे ग्रामदेवता राम-राम' कह कर भारत की जन-जन की संस्कृत में गण हुआ यह अभिनव भारतीय का कंठा-भरण और लोक-चेतना और अन्तर्चेतना का समन्वयकार, पंत चिरंजीवी हों, यही कामना है।

: १६ :

महादेवी वर्मा**************

"*Non voglio quello che esce da te, ma sol voglio te, O dolce amore.*"

(मैं तुमसे मिलने वाली चीज़ नहीं चाहती, परन्तु मैं तुझे ही चाहती हूँ, ओ मधुरतम प्रिय !) —संत अमस्तीना

देह भाव सर्व जाय ॥ तेव्हाँ विदेहीं सुख होय ॥१॥
तया निद्र्जे पहुडले ॥ भव जागृति नाहीं आले ॥२॥
ऐसी विश्रांति साधली ॥ आनन्द-कला संचरली ॥३॥
त्या एकीं एक होतां ॥ दासी जनी कैंची आतां ॥४॥

(देह-भाव सब विलम जाता है। तभी विदेह दशा में सुख होता है। उस निद्रा में जो एक बार सो गये वे इस भावजागृति में नहीं आये। उन्हें ऐसी विश्रांति मिली कि आनन्दकला संचरित हो गयी। उस एक के साथ एक हो जाने पर अब जनाबाई दासी कहाँ रह गयी ?)

नामदेव की दासी जनाबाई के आर्त्त अभंगों का मराठी में वही स्थान है जो हिन्दी में और गुजराती में मीरा के पदों का। वैसे तो विश्व-साहित्य में ही संख्या और गुण के परिमाण में लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ कम ही हुई हैं; परन्तु जो भी हुईं उन्होंने सदा मुक्तक गीति-काव्य को ही अपनाया। गार्गी वाचक्नवी हो या स्टैफो, मुक्ताबाई हो या ह्ला, घोषा हो या शीला-भट्टारिका, दयाबाई हो या ताज, सुभद्राकुमारी चौहान हो या सरोजिनी नायडू, क्रिस्चिना रोजेटी हो या एला वीलर विलकाक्स, एलिजबेथ ब्राउनिंग हो या

तोरूदत्त किसी कवयित्री ने कोई महाकाव्य लिखा हो, ऐसा उल्लेख साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता। यानी नारी की काव्य-प्रतिभा ही गीत-काव्य-परक है यह स्पष्ट है।

महादेवी के गीति-काव्य के कला-पक्ष की समीक्षा से पहले महादेवी सम्बन्धी दो-तीन भ्रांतियों का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है :

१. महादेवी इस युग की मीरा हैं।

२. महादेवी रहस्यवादिनी हैं।

३. महादेवी बौद्ध-दर्शनानुयायिनी अर्थात् 'दुःखवाद या शून्यवाद' की समर्थिका हैं।

समीक्षक-गण कुछ भी कहते रहे हों, अभी मुझे 'साहित्य-संदेश' में एक अनेक उपाधि विभूषिता भद्र महिला का लेख पढ़ने को मिला, जिसका शीर्षक भी उतना ही विचित्र था 'श्री महादेवी जी की आरती और मन-मन्दिर की भावना' (देखिये, संख्या १२, अंक ८)। उस लेख का आरम्भ और अन्त इस प्रकार से है :

'श्री महादेवी जी आधुनिक युग की मीरा हैं, इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है। उनका छायावादी दृष्टिकोण रहस्यात्मक है। वे ब्रह्मपूजन को मानती हैं, लेकिन उनकी भावना और पूजन एक अनूठे ढंग का है। प्रस्तुत काव्य उनकी पूजन की भावना व्यक्त करता है।······

इस प्रकार आरती और मन-मन्दिर की भावना को लेकर श्रीमहादेवीजी ने जीव और ब्रह्म की ऐक्यता को स्थापित करने का कौशल बतलाया है। साधनावस्था में साधक के हृदय में, जगत की रागात्मक वृत्तियों का प्रलोभन, और ब्रह्मप्राप्ति की निर्मोह वृत्ति के बीच में एक बड़ा संघर्ष उत्पन्न होता है, जिसका सुन्दर वर्णन गूढ़ भावों में किया गया है।"

साहित्य-समीक्षा के लिए परीक्षार्थियों में प्रमाण माने जाने वाली एक प्रतिष्ठित पत्रिका के बीसवीं सदी के मध्य भाग में छपे इस लेख में महादेवीजी की आरती उतारने की लेखिका-बहन की भावना का पूरा मूल्य जानते हुए भी मुझे कहने दीजिये कि इस भ्रांति का पोषण हिन्दी के अच्छे-अच्छे मान्य समीक्षकों ने भी किया है।

'महादेवी का दुःखवाद उन्हें वैयक्तिक सुख-दुःख से आगे बढ़ाकर लोक की ओर उन्मुख करता है। लेकिन भोली-भाली मीरा अपनी प्रणय-भावना को महादेवी की तरह बौद्धिक समय से नहीं बाँध सकती थी।'

कुछ उदाहरण लीजिए :

बरसै बदरिया सावन की,
सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा,
भनक सुनी हरि आवन की ॥ —मीरा

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन।
रोम रोम में होता री सखि
एक नया उर का सा स्पन्दन।
पुलकों से बन फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं। —महादेवी

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हेंल चढ़ि-चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी
कब आवैं महाराज।
दादुर मोर पपइया बोले
कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै
दामिण छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया
इन्द्र मिलण के काज।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर
बेगि मिलो महाराज। —मीरा

लाये कौन सन्देश नये घन
अम्बर गर्वित
हो आया नत
चिर निस्पन्द हृदय में उसके
उमड़े री पुलकों के सावन!
जीवन जलकण से निर्मित सा
चाह इन्द्र धनु से चित्रित सा

या

अब छाया है, मेह बरसता है,
जल्द आजा कि जी तरसता है !

(उर्दू कवयित्रियाँ, दोआब : शमशेर बहादुरसिंह पृ० १५६) और मराठी की नामदेव की समकालीन जनी ने भी कहा :

नाद पड़े कानीं ।। मृग पैज घाली प्राणी ।।
आवडी अन्तरीं ।। गज मेला पड़े गारीं ।।
चोख पाहे अंग ।। दीपें नाडला पतंग ।।
गोडी रसग का ।। मच्छ अड़कून गला ।।
गंधे अली नेला ।। मूणे जनी तोंचि मेला ।।

अर्थात्—नाद कानों पर आया, मृग ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी। प्रेम से गज कर्दम में धँसता गया, अपनी रुचि से भर गया। सुन्दर अंग देखा और दीपक में पतंग जाकर अटक गया। मीठा काँटे के किनारे देखकर मछली बंसी में फँस गयी। गंध अलि को ले गया। जनी कहती है वहीं भाग।

परन्तु कुछ कवियों के संकेत-विधान में रहस्यवादियों की प्रिय शब्दावली आ जाने मात्र से क्या वे रहस्यवादी हो जाते हैं ?

रहस्यवाद की भारतीय-स्थिति को समझाने का न तो यह स्थल है, न अवसर। परन्तु मैं एलबर्ट श्वाइट्ज़र के 'इंडियन थॉट एन्ड इट्स डेवलपमेंट' में पृष्ठ २६३ से आगे भारतीय रहस्यवाद की विकासावस्थाओं का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ। आरंभिक कुतूहलमय रहस्यवाद प्रकृति की विराट्-शक्तियों के प्रति भय-विस्मयपूर्ण (वैदिक-औपनिषदिक); मध्ययुगीन नैतिक रहस्यवाद और उसकी तांत्रिक अराजकता तथा उच्छृंखल सर्व-नियम-नकार में परिणति; राममोहनराय के 'प्रकृति में परमात्म-तत्त्व' देखने के नये दर्शन के पश्चात् रवीन्द्रादि का सर्वास्तिवादी रहस्यवाद—इस विकास-रेखा में बहुत से रहस्य खिले हैं। दर्शन की मोटी-मोटी बातें जिन्हें ज्ञात हों, वे जानते हैं कि परमतत्त्व, ईश्वर, जीवात्मा और जड़-जगत् के विषय में भारतीय दार्शनिक चिंताधाराओं का विभिन्न दृष्टिकोण रहा है।

इस मत मतांतर के झमेले में रहस्यवाद का इतना आसानी से निरूपण करना कि महादेवीजी ब्रह्म की उपासिका हैं, मुझसे यह कहने की हिम्मत नहीं होती। उन्हीं के शब्दों में कला के विषय में उनके विचार जानने से यही प्रतीत

होता है कि ये छायावादी (यानी रोमांटिक) कवयित्री हैं। परन्तु अन्य छायावादियों की भांति निरे सौंदर्य-शोध (यथा पंत) या आनंद-बोध (यथा प्रसाद) में वह खो नहीं गयीं परंतु आदर्शवाद की सूक्ष्म-छटा उन्हें प्रतीक-विधान में अटकाये रखती है।

उनके सर्वोत्तम ग्रंथ 'दीपशिखा' के 'चिंतन के क्षण से' नामक भूमिका में उन्होंने स्पष्टतः कहा है : 'बहिर्जगत से अंतर्जगत तक फैले और ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेषबिंदु पर ग्रहण करती है।' (पृष्ठ २)

और 'जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित-कलाओं का सम्बन्ध है, वे उपयोग की उस उन्नत-भूमि पर स्थायी हो जाती हैं जहाँ उपयोग सामान्य रह सके।... वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा संगी है जो अपनी आत्म-कहानी में हृदय-हृदय की कथा कहता है और स्वयं चल कर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। कांटा चुभाकर कांटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना कांटा चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्र मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है।' (पृष्ठ छः) और 'कवि का दर्शन' जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी संभव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असंभव ही रहेगी।' (पृष्ठ ६)

पृष्ठ आठ पर वे लिखती हैं : 'चरम सीमा पर जैसे यथार्थ विक्षिप्त गतिशील है वैसे ही आदर्श निष्क्रियता में स्थिर हो जाता है। एक विविध उपकरणों का बवंडर है और पूर्ण निर्मित पर अचल मूर्ति। साधारणतः जीवन में एक ही व्यक्ति यथार्थदर्शी भी है और आदर्शस्रष्टा भी, चाहे उसका यथार्थ कितना ही अपूर्ण हो और आदर्श कितना ही संकीर्ण।'

'नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामंजस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वासी ही उसका संबल है वहाँ वह जीवन के प्रति भी आस्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का सृजन के प्रति भी आस्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है।

इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।' (पृष्ठ १३)

इसीलिए सच्चे रहस्यवाद और निराशावाद का कोई जोड़ नहीं है। नीत्शे ने अपने 'गे साइलेंस' (आनन्द-मौन) में गरज कर कहा था :

"Where is God? he cried, well, I will tell You We have murdered him—you and I....But how did we do this deed?...whither are we moving?...Are we not falling incessantly?...Are we not staggering through infinite nothingness?...Is night not approaching, more and more night...?"

इसी भावना से, खंडित जनमत के भाव से महादेवी ने कहा :

'आज जीवन के निकट परिचय के साथ कवि में उस अखंडता का भावन भी अपेक्षित है जो मनुष्य-मनुष्य को एक ही धरातल पर समानता दे सके।' (पृष्ठ सत्रह)

'छायावाद को तो शैशव में कोई सहृदय आलोचक ही नहीं मिल सका।.... छायावाद एक प्रकार से अज्ञात-कुलशील बालक रहा, जिसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका।...

'कवियों में एक दो अपवाद छोड़कर शेष ऐसी अनिश्चित स्थिति में रहे और रहते आ रहे हैं जिसमें न लिखने का अनिवार्य परिणाम, उपवास चिकित्सा है।...नया कवि अपने अनेक वाणी में बोलने वाले नये आलोचक से उतना आतंकित है जितना दरबारी कवि राजा के षड्यंत्रकारी मंत्री से हो सकता था।' (पृष्ठ उन्नीस)

छायावाद की, मेरे मत से, सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह उत्तरोत्तर आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा आत्म-गोपन में, आत्म-संकोचन में विश्वास करने लगा। स्वभावतः वह आत्म-हनन में जाकर रुका। इसकी विस्तृत समीक्षा मैंने सन् १६३८ में 'अरमानों की चिता' नामक कविता-पुस्तक की लंबी भूमिका में की थी। डायलैन टॉमस नामक वेल्स कवि का कथन है कि :

"Poetry is the rhythmic inevitably narrative movement from our clothed blindness towards a naked vision."

संक्षेप में महादेवी की कविता की समीक्षा के भूमिका रूप में इतनी बातें

पढ़ने के बाद मैं उनकी कविता और चित्रकला की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करना चाहता हूँ।

१. उनमें आत्मार्पण तथा आत्म-पीड़न अत्यधिक है। यानी कहीं भी उन्होंने अपने-आपको उभार कर नहीं रखा है। और वैसे उन्होंने अपने सिवा और किसी के भावों की बात भी कहाँ की है?

२. उन्होंने अपनी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों और भ्रांतिमान, अन्योक्ति तथा सांग-रूपकों की भी एक परिधि बाँध ली है। उसी में उनकी कल्पनाएँ उड़ान भरती हैं, या चक्कर काटती हैं।

३. उनकी भाषा, चाहे गद्य हो या पद्य, साफ-सुथरी, सुघर, शिल्पित (Chiselled) है। कहीं खोजकर ही कोई शब्द-दोष मिले।

४. छंदों में विविधता का अभाव है, एकरसता जैसे उनकी रचनाओं में सर्वत्र संव्याप्त है।

५. उन्होंने गीत थोड़े ही लिखे हैं। परन्तु उनमें रचना का मँजाव-निखार बहुत ही संयत है। भावनाओं पर आत्म-संयम का आदर्श निर्वाह है।

६. कहीं भी उनकी कल्पना में यांत्रिकता अथवा हठाकृष्टता नहीं। अतः दूरान्वय या शब्द-अर्थ-दुरूहता की भी बाधा नहीं। ऋजु, प्रसाद-गुणमयी शैली है।

७. उनकी कविता गेय है।

कुमारी हेमलता जनस्वामी ने अपने प्रबन्ध 'महादेवी वर्मा का काव्य' में लिखा है: "भाषा में संगीतात्मकता अपनी विशेषता रखती है। इसके लिए वर्ण-मैत्री, शब्दमैत्री, पदमैत्री, कोमलता तथा उपनागरिका वृत्ति इन गुणों की आवश्यकता होती है। महादेवी जी के शब्द-प्रयोग में 'ट' वर्ग के वर्णों तथा कठोर वर्णों का बहुधा अभाव मिलता है। 'प' वर्ग तथा 'त' वर्ग के वर्ण म, र, ल, ण, न, तथा अनुस्वारयुक्त वर्णों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। उनकी रचना में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्दों को देखिये:

"मधु, मदिरा, मदिर, मादक, मादकता, विधु, मुसकान, सुरभि, सुरभित, समीर, स्पन्दन, पथिक, वेदना, पाहुन, तारक, लघु, सुधि, सुधि-सम्बल, पंथ, लहर, लास, लोल, झीना, करुणा की कोर, तुहिन-कण, अश्रुकण, करुणेश, तरिणी, नाविक, सुधि-वसंत, सुमनतीर, नवल, नेह-राग, स्मितपराग, मधुकन, अनजानी, बोझिल, तड़ित, इसमें म, र, ल, ण, न, अनुस्वारयुक्त, स्वर जैसे

संदेश, संकेत, आदि शब्दों के प्रयोग, उपनागरिक वृत्ति हमें मिलती है। 'त' वर्ग, 'प' वर्ग, 'च' वर्ग के वर्णों में स्वाभाविक कोमलता होती है। जैसे—तारक, नवल, पंथ, पथिक, बोझिल, चरण, चंचल आदि।"

यह दुहराना उनके 'नीरजा' के उपरान्त के गीतों में अधिक हुआ है। परन्तु आरम्भिक गीतों में विशेषतः 'रश्मि' के 'अतृप्ति' 'आत्म-परिचय' आदि गीतों में विलक्षण मौलिकता और सहज नवीनता के दर्शन होते हैं। बाद में धीरे-धीरे जैसे उनकी कविता एक काट में बँधने लगती है। और 'सांध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' में आकर तो इतना स्वयम् को पुनः-पुनः विभिन्न रूपों से उद्धृत करने की वृत्ति बढ़ती है कि उनका कविता के रूप के प्रति आग्रह एक स्वयं-निर्मित बन्धन बन जाता है।

ऐसे समय हमारे समीक्षक-गण यह नहीं विचार करते कि उनकी कविता की रसात्मकता कम होती जा रही है या बढ़ती जा रही है? 'पौनः पुन्य' के कारण क्या वस्तुतः रसनिष्पत्ति में बाधा पड़ती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसी दशा में कल्पना के आवर्त्तन में आनन्द-लाभ और रस का भावन उनकी रचना में कैसे होता है?

'शम' को भावाभाव मान कर चलें तो बचे उन्चास भावों को ही लें, जिनके बारे में भरत ने नाट्य-शास्त्र में पृष्ठ ७३ पर 'रसानां भावनां च नाट्याश्रितानां चार्थानाम् आचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति' कहा है। रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, शोक, भय और (शम) यह नव रसांतर्गत स्थायी भाव हैं। सात्विक भाव हैं आठ। इनमें से रोमांच, स्वर-भेद और कंप तो सभी भावों के साथ चलते हैं; स्तम्भ भय और विस्मय के साथ रहता है; स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय भय-शोक के साथ रह सकते हैं।

तैंतीस व्यभिचारी भावों में से मरण, व्याधि, ग्लानि, श्रम, आलस्य, निद्रा, स्वप्न, अपस्मार, उन्माद, मद, मोह, जड़ता, चपलता यह चौदह भाव तो शारीरिक अवस्थाओं के समान हैं।

स्मृति, मति, वितर्क हैं ज्ञानात्मक मनोअवस्थाओं से समानान्तर।

और हर्ष, अमर्ष, धृति, उग्रता, आवेग, विषाद, निर्वेद, औत्सुक्य, चिंता, शंका, असूया, त्रास, गर्व, दैन्य, अवहित्थ, और व्रीडा भावनात्मक मनोऽव-स्थाओं से समतुल्य हैं।

महादेवी की कविता में रति, विस्मय शोक और शम इन स्थायी भावों की और रोमांच, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय इन सात्विक भावों की प्रधानता

है। व्यभिचारियों में से मरण, ग्लानि, निद्रा, स्वप्न, उन्माद, भय, मोह, चपलता, स्मृति, वितर्क, आवेग, विषाद, निर्वेद औत्सुक्य, चिन्ता, शंका, त्रास, गर्व और व्रीड़ा—इस प्रकार से पचास में से सत्ताईस भावों का ही विशेष प्रयोग किया गया है।

स्पष्ट है कि इस कारण उनके चित्रों में और गीतों में एकांगीपन आ गया है। एकांगिता उनकी रचनाओं में कहीं भी विरोधी रंग (कांट्रास्ट) नहीं उपस्थित करती। जैसे विरह के अनंत चित्र हैं, मिलन के चित्र अत्यंत विरल हैं। दुःख, करुणा, वेदना, व्यथा का प्राधान्य है; सुख, हर्ष, आह्लाद, आनन्द का उस मात्रा में बहुत ही अभाव है। जैसे उनके काव्य-व्योम में उदासी की धुंधली बदली सदा, सर्वकाल छाई रहती है।

रस की निर्मिति के लिए कलाकृति के मूल में 'द्वन्द्व' बहुत आवश्यक है। महादेवी की कविता में सर्वत्र एकस्वरता, एकरसता मिलती है, जो कला की दृष्टि से रस-हानि-परक है। भामह ने तो कहा था कि काव्य के लिए कुछ भी वर्ज्य नहीं, पर महादेवी जी 'टीस' शब्द पसन्द नहीं करतीं। भामह की उक्ति है :

न स शब्दो न तद्वाच्यं न सन्यायो न सा कला।
जायते यत्र काव्यांगमहो भारो महान् कवेः।

इस एकरसता के कारण महादेवीजी की भावुकता में एक प्रकार की कुण्ठा, आत्मावरोध अतः विजड़ीकरण निर्माण हो गया है, जिसका मनोवैज्ञानिक फल है सतत प्रतीक्षा और निरन्तर शाश्वत टोह की भावना। फ्रायड की शब्दावली में इसी को 'वेरड्रानङ्गुग' (Verdrangung) से 'वेरडिकटुङ' (verdichtung) और उसी से 'वोलेन उण्ड स्ट्रेबेन' (Wollen und streben) कहा गया है।

अब वर्षा की प्रतिमाओं को ही ले लीजिए। अमरुक ने भी शृंगारपरक उसका प्रयोग किया है, पर गाथासप्तशती का कैसा नागर संस्करण है, देखिये :

धीरं वारिधरस्य वारिकिरतः श्रुत्वा निशीथे ध्वनिम्।
दीर्घोच्छ्वासमुदश्रुणा विरहर्णी बालां चिरं ध्यायता॥
अध्वन्येन विमुक्तकंठमखिलां रात्रिं तथा क्रंदितम्।
ग्रामीणैः पुनरध्वगस्य वसतिर्ग्रामे निषिद्धा यथा॥

जॉन डिवी ने 'आर्ट एण्ड एक्सपीरिअंस' ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय में अभिव्यंजना में कला तथा सहजता की विशद चर्चा की है। कलाकार की भावानुभूति अपने विषय के आसपास में यों आकृष्ट हो जाती है जैसे चुम्बक से लोह-

चूर्ण। परन्तु इस अनुभूति के प्रकटीकरण में भी एक प्रकार की अनिवार्यता, अपरिहार्यता, अनिर्बंध, अनवरतता होती है, जिसका प्रत्यय क्रमशः श्लथ होने वाली छायावादियों की कला-शैली में स्पष्ट है। महादेवी वर्मा इस नियम की अपवाद नहीं हैं। उनका वेदनावाद उत्तरोत्तर उनकी कला की सीमा बन गया है।

मेरी बात का प्रमाण उनकी आत्मकथात्मक कविता 'बीन हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!' में अन्तिम छंद देखिये :

दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ!
आग हूँ जिसके ढुलकते बिन्दु हिमजल के;
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के;
पुलक हूँ जो वह पला है कठिन प्रस्तर में;
हूँ वही प्रतिबिंब जो आधार के उर में;
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ!
नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भीः
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ!

इसमें उन्होंने जीवन के भद्र और रुद्र दोनों सत्य पक्षों का वैसा ही एक साथ उल्लेख करने का यत्न किया है जैसे शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने बाद में अपने एक गीत में—'मैं सुन्दर और असुन्दर दोनों साथ-साथ'। पर जीवन में मिट्टी और फूल, प्रलय और सृजन, नाश और निर्माण दोनों पक्ष होने पर भी महादेवीजी ने एक ही पक्ष पर क्यों जोर दिया है? इसका कारण उनकी 'रश्मि' की भूमिका में दुःखवाद के समर्थन पर उनकी उक्तियों में मिलेगा। देश परतन्त्र, दीन, दुःखी था; अतः महादेवी ने वेदनावाद अपनाया। 'दीपशिखा' के ५१ गीतों में प्रत्येक गीत में अश्रु का उल्लेख है।

महादेवी के चित्रों में करुण मुद्राओं का आधिक्य है। काँटों से बँधे हाथ, अनाथ शिशु, अँधेरा और टिमटिमाते दीप अधिक हैं। वे लिखती हैं :

'व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अंतर्जगत का ज्ञान ही नहीं, बाह्य आभास भी अपेक्षित रहता है।'...

"'चित्रकला में भी बहुत छोटे से ज्ञान-बीज पर मैंने रंग-रेखा की शाखाएँ फैला दी हैं।' दीपशिखा (पृ० इक्कीस)

'कुछ अजन्ता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्तिकला के आकर्षण से चित्रों में यत्र-तत्र मूर्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष, यह तो मैं नहीं बता सकती, पर इस चित्र-मूर्ति सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है।' (पृ० बाईस)

'मेरा चित्र गीत को एक मूर्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी संपूर्णता बाँध लेने की क्षमता नहीं रखता।' (पृ० बाईस)

यों उनके चित्र कविताओं के 'इलस्ट्रेशन्स' मात्र हैं। उनकी शैली पर अजंता का तो उतना नहीं जितना रोरिक, चुगताई और कनु देसाई का प्रभाव दिखायी देता है। वैसे ही शैल-रंग, लंबी-लंबी रेखाएँ और सिलहुट।

वे लिखती हैं :

'काव्य इतना मूल्यवान क्यों हो कि सब तक न पहुँच सके यह भी समस्या है।' (पृ० बाईस)

परन्तु केवल ५१ चित्र गीतों की पुस्तक 'दीपशिखा' के दाम बाईस रुपये हैं। इस ग्रंथ की जनता से दूरी पूरी करने के लिए शायद महादेवी जी ने ४३ में 'बंगदर्शन' भी प्रकाशित किया।

महादेवीजी की कविता के समान चित्र-कला की अपनी एक विशेषता है, व्यक्तिगत शैली है। कवि-चित्रकार रहस्यवादी विलियम ब्लेक ने लिखा था कि : 'Painting as well as music and poetry exist and exult in immortal thoughts'.

ऐसी ही अमर विचार-संपदा के कारण महादेवी की प्रतिभा ने ललितकला के इन रूपों को—स्थूल चक्षुरेन्द्रिय को आनन्द देने वाली चित्रकला तथा सूक्ष्म भाव-जगत् को छूने वाली कविता को एकाकार कर दिया है। वर्ण-वर्ण में पंक्ति बन गयी है। रंग रेखाकार हो उठे हैं। उनकी लगन और निष्ठा का यह अन्तर है कि जैसे कभी बहुत पहले संत-काव्य की परम्परा की कवयित्रि सहजोबाई ने कह दिया था कि :

उलटा सुलटा बीज गिरै ज्यों,
धरती माहीं कैसे।
उपजि रहै निहचै करि जानो,
हरि-सुमरन है ऐसे॥

वैसे ही किसी नियमित चित्रकला-शिक्षण, अथवा 'पर्स्पेक्टिव' के गणित और टेकनीक की बारीकियों के ज्ञान के अभाव में भी, उनके ये चित्र अपने-आप उद्गार हैं। उन्हें किसी परिचय की आवश्यकता नहीं।

महादेवी के व्यक्तित्व में अपार करुणा है, जिसका सदुपयोग वे साहित्यकार संसद् जैसी लोकोपयोगी संस्थाओं में कर रही हैं। हमें आशा है कि आज की युद्ध की आशंका से पीड़ित, संत्रस्त मानवता को 'बंग-दर्शन' की भाँति उनकी वाणी पुनः शांति का संजीवक हिम-सेक देगी। कविता और चित्रकला का जैसा सुन्दर उपयोग उन्होंने अपनी 'स्व' की भाव-व्यंजना में किया, वैसे ही लोक-मंगल की मर्यादा की रक्षा करते हुए हिंदी-कवियों की श्रेष्ठ परम्परा के अनुसरण में वे देश और संसार के शान्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाली रचनाएँ अपनी तूलिका और लेखनी से देंगी।

यद्यपि समीक्षक की बौद्धिकता से कुछ विश्लेषण मैंने ऊपर किया है, उनकी कला-साधना के प्रति मुझे बड़ी श्रद्धा है। अतः आज की विषमता और अन्याय से पीड़ित मानवता में मैं उनसे अलेक्सी सुरकोव नामक तरुण सोवियत-कवि की इस शब्दावली में अन्त में अपील करना चाहता हूँ :

Speak up !
The hour has struck when stern, severe
Truth's rights by truth must be seized.

बोलो ! घंटा बज उठा है। कठोर, कठिन; जब सत्य से सत्य का अधिकार छीनना है।

: १६ :

दिनकर

"कुरुक्षेत्र' के निवेदन में कविवर कहते हैं : 'कलिंग विजय' नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानों युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है।...युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है ? या उस पर, जो इस जाल का छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है...मैं जरा भी दावा नहीं करता कि 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक-ठीक महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म हैं। यद्यपि मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात नहीं निकल जाय जो द्वापर के लिए सर्वथा अस्वाभाविक हो। हाँ, इतनी स्वतन्त्रता जरूर ली गई है कि जहाँ भीष्म किसी ऐसी बात का वर्णन कर रहे हों जो हमारे युग के अनुकूल पड़ती है, उसका वर्णन नये और विशद रूप से कर दिया जाय।...दर असल, इस पुस्तक में मैं, प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल-सी गई हो। फिर भी, कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः, एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है, जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"

मैंने 'दिनकर' के निवेदन के अंश को विस्तार से इसलिए दिया कि कवि के दृष्टिकोण को समझने में इस प्रकार सुविधा होगी। शायद दिनकर का प्रबंध-काव्य की ओर यह पहला ही कदम है। वैसी लम्बी वस्तुनिष्ठ कविताएं वे पहले

लिख चुके हैं। परन्तु ख्याति है उनकी राष्ट्रीय और 'मेघरंध्र में बजी रागिणी' जैसी प्रगतिशील कविताओं के कारण। यद्यपि 'रसवंती' के बाद कवि कुछ कलावाद में खोते से जान पड़े, उदयपुर कवि-सम्मेलन के भाषण में उन्होंने कलाकारों की स्वतंत्र चिन्ता को पुनः ललकारा।

एक आलोचक के लिए दोनों प्रश्न विवाद्य हो सकते हैं: एक, क्या युद्ध काव्य का उपयुक्त विषय है? दो, क्या इतिहास पर समकालीन घटनाओं का प्रत्यारोप किया जाय? हाल में इंग्लैंड के एक समकालीन कवि लुई मैकनीस की एक बढ़िया किताब 'येट्स की कविता' मैंने पढ़ी है। उसकी शुरुआत में ही वे कहते हैं: 'मैंने यह पुस्तक लिखनी शुरू ही की थी कि जर्मनी ने पोलैंड पर धावा बोल दिया। उस दिन मैं गैलवे नामक स्थान पर था। मैंने रेडियो पर यह खबर सुनी। गैलवे मेरे लिए एक अयथार्थ वस्तु बन गया, येट्स की कविता भी अयथार्थ लगने लगी। यह नहीं कि गैलवे और येट्स दोनों अतीत की बातें हों; मगर यह कि शनैः-शनैः मुझे आधुनिक लन्डन, आधुनिकतम कला, वामपक्षीय राजनीति सब शून्य जान पड़ने लगा। मुझे जान पड़ा कि अगर युद्ध येट्स या और ऐसे 'पलायनवादी' कहलाने वाले कवियों को व्यर्थ सिद्ध करता है; तो 'यथार्थवादी' कहलाने वाले कवि भी उसकी चपेट से कहां बचेंगे? युद्ध तो दोनों तरह की कविताओं के लिए एक-सा हानिकारक है; चाहे वह 'अप्सरा द्वीप' की कविता हो, चाहे मजदूर और कारखाने की। ज्यों-ज्यों युद्ध के आघात से मैं कुछ सँभला, मैंने निष्कर्ष पाया कि दोनों प्रकार की कविता या तो साथ-साथ जीती हैं या साथ-साथ मरती हैं। युद्ध से यह नहीं सिद्ध होता कि अमुक प्रकार की कविता अधिक अच्छी है या बुरी; वह तो सभी प्रकार की कविताओं को प्रसिद्ध कर डालता है। और कविता प्रसिद्ध नहीं होनी चाहिये। यदि युद्ध यथार्थता की कसौटी है तो समस्त कविता अयथार्थ है—और यह अयथार्थता गुण है। यदि युद्ध यथार्थता का शत्रु है; यद्यपि वह स्वयं घोर तथ्य है; तो यथार्थता कुछ ऐसी चीज है जो तथ्यों से नहीं आंकी जा सकती।' अतः दिनकर ने भारत को विषय बनाया, इसमें कोई दोष नहीं; परन्तु उस पर समसामयिक समस्याओं का आरोप किया, इसमें मेरी अल्पमति में भीष्मादि पात्रों के साथ 'कुरुक्षेत्र' में अन्याय हो गया।

परन्तु यह प्रवृत्ति आधुनिक साहित्य में अत्यधिक है। इतिहास को इतिहास की भांति देखना हम भूलें। हमारे उपन्यासकार, राहुल के 'जय यौधेय' और यशपाल की 'दिव्या' में इतिहास का उपयोग, अपने मतवादों की उन घटनाओं

पर आरोप ही नहीं, बल्कि प्रचार करने के लिए करते हैं। काव्य में भी यह प्रचार शुरू हो गया है—फिल्मों में 'जय हिंद' कहते हुए राणाप्रताप और 'अकाल पीड़ितों की सेवा' करने वाला अमर सैयाम देखने को तो मिल ही जाता है। अगर कला इसी रफ्तार से चली तो आज '४२ की भूतिगत क्रान्ति-कारिणी-सी मल्लिका को छिपाने वाले कालिदास (विक्रमादित्य फिल्म) हम देख रहे हैं; कल मीरा किसी अस्पताल की नर्स बतलाई जायगी और परसों कबीर साम्राज्यवादियों की अन्तर-सांस्कृतिक हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य परिषद् के सभापति बने लाउड-स्पीकर पर बोलते हुए। 'दिनकर' ने इतिहास का इतना आधुनिकीकरण नहीं किया है, परन्तु वे अपने समय में सांस ले रहे हैं, जो बीच-बीच में भारत-काल में भी झुककर देख लेते हैं। १९४३ का बंगाल का अकाल अवश्चेतन में है। सप्तम सर्ग में भीष्म पितामह कहते हैं : "जब कभी दुष्काल, मर नर, जीवित का मन डोला। उनके किसी निभृत कोने से, लोभ मनुज का डोला।" (पृष्ठ ११२) और राजा-प्रजा, श्रमीजन आदि के संबंध के वाक्य तो भीष्म यों बोलते जाते हैं मानों क्रोपाटकिन या बाकुनिन (अराजकवाद के प्रणेता) बोल रहे हों।

दलील दी जायगी कि कवि जिस युग में लिख रहा है, उसकी छाप उसकी वाणी पर पड़ेगी ही। बेशक, मगर फिर उसके लिए ऐतिहासिक पार्श्व-भूमि क्यों? क्या यह केवल कलात्मक सहारा है? चिंतन के लिए प्रतीक हम वर्तमान से ही ले सकते थे। महाभारतकालीन समाज व्यवस्था का भी तो कुछ ख्याल रखना पड़ेगा। तब के प्रश्न निश्चित आज के प्रश्न नहीं हो सकते। यह सब प्रश्न मैंने इसलिये उठाये कि कवि ने इस काव्य को चिंतन-प्रधान कहा है। और देखा यह है भी। अब तक दिनकर की 'हुँकार' और रूप की थी; अब भावुक कवि सिर्फ 'गीत-अगीत कौन सुन्दर है?' के फेर में नहीं—कुछ बुद्धिवादी भी बन रहा है। परन्तु यह कवि का स्वभावगत विशेष नहीं। अतः यह काव्य उतना निखरा नहीं। कवि ने कुछ करना चाहा है; जिसमें बुद्धि-पुरस्सरता की पुट अधिक है। उतनी ही मात्रा में काव्यत्व विरल हो गया है।

फिर भी इस काव्य को कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं हैं—छन्दों के विविध प्रयोग—वर्णिक, कवित्त जैसे अक्षर-वृत्तों के साथ ही मुक्तछन्द भी हैं, वर्णनों का बाहुल्य न होते हुए वैचारिक वाद-विवादों को प्राधान्य है; नये-नये रूपकों का सहारा लिया गया है—विशेष रूप से विशेषण-विपर्यय के कई नये रूप बहुत ही आह्लाद-दायक हैं। एक आदर्शवाद सारे काव्य में परिव्याप्त है। 'यू.

के बीच में एक नया मार्ग ढूंढ़ लेता है, या यों कहिए एक समन्वय उपस्थित करता है।

कुरुक्षेत्र में मानवतावाद का एक विराट चित्र प्रस्तुत है :

रसवती भू के मनुज का श्रेय
वह नहीं विज्ञान कटु आग्नेय
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा का अधीर पुकार,
दिव्य भावों के जगत् में जागरण का गान
मानवों का श्रेय आत्मा का किरण अभिमान।
यजन अर्पण आत्म-सुख का त्याग,
श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध सौम्य पुनीत।

× × ×

श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह-सिंचित न्याय पर नवविश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक दृढ़ विश्वास
धर्म दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास,
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त
जब कि होगी सत्य ही वसुधा-सुधा से सिक्त।
श्रेय होगा सुष्ठ विकसित मनुज का वह काल
जब नहीं होगी धरा नर के लहू से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध ;

और अन्त में वह भगवान से प्रार्थी होता है :

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण।

यह मंगल-कामना ही कवि की इस सर्वोत्तम रचना को युग की महान् रचना का श्रेय देती है। प्रचलित अर्थों में यह कविता प्रबन्ध है भी नहीं। उसमें कथा की व्यंजना भर हो सकी है। उसकी प्रबन्धात्मकता विचारों को लेकर है। अतः श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की इस रचना को प्रबन्ध-काव्य की तुला पर तोलना समीचीन नहीं होगा। इसके साहित्य की विवेचना करते हुए हमें केवल यह देखना होगा कि इनके काव्यतत्वने चिन्तन-पक्ष को कहाँ तक सहारा दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से भी 'कुरुक्षेत्र' सफल काव्य है। ऐसे अनेक स्थल मिल जावेंगे जहाँ कवि की कल्पना और मूर्तिमत्ता ने उसके चिन्तन को बल दिया है। इस काव्य में कवि का चिंतन सूक्ष्म तर्क-वितर्क तक ही सीमित नहीं रहता, वह हृदयधर्मी बन कर ही सामने आता है और इस प्रकार वह नवयुग की काव्यधारा में एक नई सशक्त परम्परा की स्थापना करता है।

के बीच में एक नया मार्ग ढूंढ़ लेता है, या यों कहिए एक समन्वय उपस्थित करता है।

कुरुक्षेत्र में मानवतावाद का एक विराट चित्र प्रस्तुत है :

रसवती भू के मनुज का श्रेय
वह नहीं विज्ञान कटु आग्नेय
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा का अधीर पुकार,
दिव्य भावों के जगत् में जागरण का गान
मानवों का श्रेय आत्मा का किरण अभिमान।
यजन अर्पण आत्म-सुख का त्याग,
श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवगर्त
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध सौम्य पुनीत।

× × ×

श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह-सिंचित न्याय पर नवविश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक दृढ़ विश्वास
धर्म दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास,
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त
जब कि होगी सत्य ही वसुधा-सुधा से सिक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल
जब नहीं होगी धरा नर के लहू से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध;

और अन्त में नर भगवान से प्रार्थी होता है :

साम्य की यह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण।

यह मंगल-कामना ही कवि की इस सर्वोत्तम रचना को युग की महान् रचना का गौरव देती है। प्रचलित अर्थों में यह कविता प्रबन्ध है भी नहीं। उसमें कथा की व्यंजना भर हो सकी है। उसकी प्रबन्धात्मकता विचारों को लेकर है। अतः श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की इस रचना को प्रबन्ध-काव्य की तुला पर तोलना समीचीन नहीं होगा। इसके साहित्य की विवेचना करते हुए हमें केवल यह देखना होगा कि इसके काव्यतत्त्व ने चिन्तन-पक्ष को कहाँ तक सहारा दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से भी 'कुरुक्षेत्र' सफल काव्य है। ऐसे अनेक स्थल मिल जायेंगे जहाँ कवि की कल्पना और मूर्तिमत्ता ने उसके चिन्तन को बल दिया है। इस काव्य में कवि का चिंतन सूक्ष्म तर्क-वितर्क तक ही सीमित नहीं रहता, वह हृदयधर्मी बन कर ही सामने आता है और इस प्रकार वह नवयुग की काव्यधारा में एक नई सशक्त परम्परा की स्थापना करता है।

: १८ :

अन्य आधुनिक कवि*******

जानकीवल्लभ शास्त्री, गिरिजाकुमार माथुर,
अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भारतभूषण अग्रवाल

१. जानकीवल्लभ शास्त्री

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री संस्कृत पंडित हैं। 'गाथा' लिख चुके हैं, जिसकी मुक्तकंठ से हिन्दी-जगत ने प्रशंसा की थी। शिप्रा के शीर्षकहीन आमुख में प्रो० केसरी ने कहा है : 'आश्चर्य होता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन—विश्लेषण में उलझा रहने वाला यह व्यक्ति अनेकानेक कवियों की भाँति लीक से उतर क्यों नहीं गया ? बौद्धिक वातावरण की प्रवंचनाओं के बीच अपनी अनुभूति को अछूती कैसे रख पाया ? और यदि तसवीर टूटी थी तो यह विश्वासपूर्ण अभिव्यक्ति कैसी ?' आगे ड्रिकवाटर की 'लिरिक' की परिभाषा—(प्राडक्ट आफ प्योर एनर्जी) देकर केसरी पूछते हैं : 'कैसे इतनी कठिन रागिनी कोमल सुर से गाई ?' 'शिप्रा' की एक सुन्दर समीक्षा विश्वभारती पत्रिका में पं० हजारीप्रसादजी ने दी है। उन्होंने यह कहा है कि 'शिप्रा' का कवि इस अर्थ में सफल है कि वह हमें आज और यहाँ से कालिदास-कालीन वातावरण में ले जाता है। जैसे 'शिप्रा' नामक कविता में कवि कहता है :

यंत्र-चेतना मंत्र फूँकते,
मानव जड़ सा सुनता।
क्या परतन्त्र तन्त्र पशुता का,
नर फिर फिर सिर धुनता !

सब कुछ सुलभ हुआ इस युग में,
मूल्य का न कुछ मान।
दुर्लभ एक तुम्हारा केवल,
प्राण विमोहन गान!

इस प्रकार वह 'अत्युत्तुङ्ग के द्रष्टा को देखो अपनी मातृभूमि को!' का संदेश देता है। शास्त्रीजी की कालिदास के प्रति भक्ति अटूट है, वह बार-बार इस संग्रह में फूट उठी है। सुमित्रा की शेष स्मृति कुंद और उपगुप्त 'निराला' नया साहित्य में कुछ अंश प्रकाशित 'तुलसीदास' के छन्द में यतिभंग आदि में इसी 'निओ-क्लासिकल' (नव्य अभिजात) शैली के स्वर प्रमुख हैं। 'कपोत-कपोती' के आरम्भ में कवि ने आरंभ परिचय में स्वयं कहा है—'कालिदास के भाव और रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव से मेरा मन सदा सर्वदा श्रेय-प्रेय के पालने पर पेंग भरता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे जीवन में राग-विराग का समन्वय न होगा।' प्राचीन काव्यधारा की आत्मा की पुनःस्थापना के प्रयत्न पर प्रगतिवादी आलोचक सहज यह आक्षेप ला सकेंगे कि यह केवल पराजय है, यह केवल अतीत को पुनर्जीवित करना (रिवाइवलिज्म) है। शिप्रा के कवि ने इसका उत्तर कविताओं के आरम्भ में दिये हुए आत्म-निवेदनात्मक गद्य काव्यात्मक विवरणों में दे डाला है। एक तो वह प्राचीन को ज्यों-का-त्यों नहीं उतारना चाहता—'और जब ज़मीन खून से तर हो, अकालपीड़ित नरनारी महामारी से मर रहे हों तब 'सुन्दर' तो स्वर्ण-लेखनी का चमत्कार ही होगा!' 'सुनो भी, क्यों भागे जाते जीवन से!' 'जीवन का अर्थ न आत्महनन हो सकता!'

ढाँचा टूटा एक नेह का,
पुनः नया गढ़ना है।
खा खा कर नित ठेस ठोकरें,
फिर आगे बढ़ना है!

स्पष्ट है कि यह स्वर छायावादी आत्मरति से भिन्न और पलायन अथवा विस्मृति की चाह लिये हुए नहीं है। फिर भी कवि के गहरे में, प्राचीन साहित्य के—विशेषतः भारतीय दर्शन के (सर्वदुःखात्मवाद) निराशावादी संस्कार हैं, बल्कि कहें कि जगत की असारता के प्रति एक शून्यवादीका-सा तिक्त मोह है, जो कई गीतों में छलक आया है—'कैसी उदासी छा रही!' 'अब उदास सन्ध्या आती है' 'सूखी समवेदना दिखाने' 'बीत गया सारा दिन सूने जंगल ही

में रोते रोते !' परन्तु इस प्रकार का शून्यता का बोध, औदासीन्य, दिशाओं से आती हुई साँय-साँय की गूंज प्रगतिवाद की इतनी बात करने वाले विलायती कवियों में भी तो है : ईलियट का 'एश वेन्सडे' क्या है ? और येट्स के कई गीत, जैसे अँगीठी तापते समय का उसका भूरे दिनों पर प्रसिद्ध सानेट शायद इस प्रकार की विश्वासशून्यता, आज के संशयात्मक युग में सर्वव्याप है। उसे ही सहारने का प्रयत्न शास्त्रीजी ने 'बाँसुरी' 'चाँदनी' 'जीवनवन में आई बहार' 'नवशक्ति मिले हे !' आदि गीतों द्वारा किया है। परन्तु है वह सहारने का ही प्रयत्न, यह स्पष्ट है।

शास्त्रीजी की 'शिप्रा' में आधुनिक हिन्दी कविता के द्रुतविलंवित छायावाद-रहस्यवाद युग का यति-भंग होता है। सर्वत्र लयकारी हैं, परन्तु कहीं कुछ विसंवाद-सा पार्श्ववादन में बज रहा है। प्रगति के तांडव के कांस्यताल जैसे बज उठे हैं—शास्त्रीजी के अगले संग्रहों की प्रतीक्षा है। यह सारा संस्कृति बहुल (निराला जैसी कविताओं से भी अति दुरूह) पांडित्य का चट्टानी कलेवर, अपने भीतर एक कोमल भाव-उत्स छिपाये हुए हैं, जो अनाविल अजस्र सहस्रधारा बनने के लिए व्याकुल है। परन्तु वह गति तो तभी आयेगी जब कालिदासकालीन शिप्रा से उतर कर आज की दुर्दशा-ग्रस्त शिप्रा पर उतरा जाय। संभव है वास्तविक शिप्रा को देखकर स्वप्नकी शिप्रा का भ्रम टूट जाय। संभव है उस स्वप्न-भंग (डिसइल्यूजनमेंट) से सब कुछ पर अविश्वास मन में रहे। परन्तु फिर भी मुझे तो शाकुंतल के धीवर की युक्ति बार-बार याद आती है—'दुनिया के सब पेशे अच्छी तरह किये जाँय तो एक से सम्मान्य हैं। पेशे से मनुष्यता में कोताही नहीं आती'। और फिर कवि-कर्म युग-कर्म से कुछ भिन्न, ऊपर, श्रेष्ठतम है, यह अभिजात अहन्ता भी क्यों ? हमें यह कठोर सत्य स्वीकार करना ही होगा कि १९४७ कालिदास-रवीन्द्रनाथ का काल नहीं रहा, अब उनकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है।

२. गिरिजाकुमार माथुर

राग-विराग के जिस संघर्ष की चर्चा ऊपर आयी है उसे और स्पष्ट और जन-सुलभ शैली और भाषा में व्यक्त किया है गिरिजाकुमार माथुर ने। आरम्भिक वक्तव्य में कवि कहते हैं : 'मुझे अपनी कृतियों पर विश्वास है। इन दोनों कविताओं के बीच दो युगों का अन्तर है। और इन्हीं दो विरोधी शक्तियों के अनवरत संघर्ष का परिणाम हैं ये कविताएँ।' यहाँ द्वन्द्वात्मक तर्क को कवि ने उसी के शब्दों में समो-लिया है, फिर भी कवि को शिकायत है कि 'पिछली

छाँहें साथ नहीं छोड़ती' यह वही सभी रोमांस के कीटाणुओं का फिर-फिर उभर आना है। कवि किसी आदर्श निकुञ्ज की गुञ्जान छाँह में खो जाना नहीं चाहता। वह स्पष्ट, विनयपूर्ण स्वीकृति देता है : 'मेरा काव्य मेरी भौतिक परिस्थितियों का ही मान-चित्र रहा है।' इस युग के एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के सामाजिक, शारीरिक, मानसिक संघर्षों की सभी परिभाषाओं का इस संग्रह में चित्रण है। सन् ३८ से ४० तक प्रथम खण्ड की रचनाएँ हैं, सन् ४० से ४५ में द्वितीय अर्थात् 'निर्माणात्मक' जीवननाश की। 'कौन थकान हरे जीवन की!' 'तुमने झूठे चित्र बनाए!' 'आँसू तक न बने नैनों में' 'सपना था वह प्यार नहीं था' 'मैंने दिन के शाम सहे हैं' 'जीवन भर मन में रोना है' इत्यादि गीतों में निराशनिमग्न की-सी निराशावादिता व्यापे हुए है। वह 'आओ सो जायें, मर जायें' वाला; पुरा देने वाला स्वर है। आधुनिक हिन्दी कविता में वेदनावाद की विकृति पर मैंने विस्तार से सात-आठ वर्षों पूर्व दीनानाथ व्यास के कविता-संग्रह 'अरमानों की चिता में' लिखा था, जिसमें सोदाहरण हिन्दी के नये कवियों का वह रोदनवाद स्पष्ट किया था। 'नारी और निर्माण' में पंद्रहवीं कविता मुक्तछंद में है और वहाँ से नाश और निर्माण का अन्तर शुरू होता है : प्यार कहाँ रह गया, कहाँ जीवन आ पहुँचा, मिलन विदा दोनों ही में अब मेरा हृदय न काँप सकेगा। सत्रहवीं कविता से कवि की 'साँस लेते प्रेत चलते पिरामिड ममीवाली रुग्णता जन्म-मृत्यु-छाया की कल्पनाएँ शुरू हो जाती हैं। टाइफायड में वे बहुत हैं (जो अपूर्व ही है)। इस खण्ड की बीस कविताओं में मंजीर के कोमल गीतात्मक कवि का अंतःसंघर्ष चल रहा है जैसे वह नयी राह के लिए छटपटा रहा है, पर वह उसे मिल नहीं रही है।

'निर्माण' का स्वर स्पष्ट प्रगतिवादी है। कवि राह पा गया है, वह प्रशस्त है। वहाँ उसकी रुग्ण, जर्जर, पुरानी कल्पनाएँ (इमेजेज) छूट जाती हैं, वह नये उत्साह और नयी आशाओं से भर गया है।' आज अपरिचित बल आया है···· परन्तु मध्यवर्गीय सुखैषणा (मेरे सपने बहुत नहीं हैं।) कीट्स की सी इंद्रियगोचर सौंदर्य प्रियता जो वायवी नहीं, मांसल और भौतिक है; जैसे, इस रंगीन साँझ में तुमने—अब कुछ उर्दू रंग भी कविता को निखार देने लगा,—लो खुली आज जवान रातें···पूछने पर बन रहा मुख क्यों लजीला चाँद ! वसन्त पंचमी, रेडियो कविसम्मेलन, चूड़ी का टुकड़ा, एसोशिएसन्स तार-सप्तक में छपी ये कविताएँ सुहागरात का सा सौरभ (एरोमा) अपने में सिमटाये, रजनीगंधा सी मदिर और 'बायरनिक' हैं। परन्तु बीच-बीच में 'दौहार्द' का स्वर भी है—मेरे

लघु एकांत ग्राम में (३३) या धूप भरी इस दोपहरी में (३६) अधूरा गीत (४५)।

हिन्दी के इस डाइलैन टामस वेल्स के किशोर कवि, जो शब्दों में व्रण-चित्रों को देने में बहुत सफल है। 'मैप आफ लव' के लेखक में एक और स्वस्थ, सजग स्वर है। मशीन का पुर्जा, युग प्रवर्तक दीवारें, नया वसंत और अंतिम गीत जन-जन का जीवन गीत बने! इस स्वर में आधुनिक युग की विषमता और विद्रूप के प्रति चुनौती है। हंस में एक लेख में डा० रामविलास ने अपने ढंग से उस प्रगतिशील, विद्रोही स्वर की पुष्टि की है। 'वैशाली' कबीर, बुद्ध, राम, यद्यपि रेडियो की आवश्यकता से उपजे गीत जान पड़ते हैं, परन्तु उनमें कवि का नवीन दृष्टिकोण स्पष्ट है। वह 'विवाह बलिष्ठ' प्राचीन के पुनर्जागरण का हिमायती नहीं है। परन्तु गिरिजाकुमार माथुर की नवीन राष्ट्रीय कविताओं की अपेक्षा मुझे उनका 'आज है केसर रंग रंगे वन' वाला रूप ही अधिक प्रिय है। मैं मानता हूँ कि कवि का सच्चा प्रामाणिक रूप उन्हीं रोमैन्टिक कविताओं में अधिक खिला-बिखरा है। युग की पाषाणी आवश्यकताओं का तकाजा और निरंतर उलझती जाने वाली परिस्थितियों के बोध का बोझ गिरिजाकुमार की वाणी का वह शरदीला चाँदनी धुला, रागात्मक वातावरण कुचल न डाले, ऐसी कामना है। प्रगतिवाद रोमांस का विरोधी है, या वह रोमांसमात्र को नाश मानता है, यह विचार गलत है। रोमांस का जो आदर्शवादियों का स्वप्न है, वह गलत है, छूछा है, प्रगतिवाद उसे नहीं मानता, परन्तु वास्तववाद से संयुक्त रोमांस जन-जन के स्वास्थ्य और सुषमा प्रियता का द्योतक है। वह सौंदर्य-प्रेम परिणाम में बदले, गुणात्मक रूप से उसमें वैसा परिवर्तन नहीं होता। समाजवाद के आने से सभी लोग रूखे, शुष्क, डाइलेक्टिशियन्स और कभी न हँसने वाले (या जबर्दस्ती फोटो खिंचाने के लिए फोटो में हँसनेवाले) अर्थ-शास्त्र की थ्योरियों से भाराहुत अकालवृद्ध पंडित नहीं बनेंगे। मैंने एक रूसी फिल्म में देखा था खारकोफ के खंडहरों में भी एक बड़ा सा सूरजमुखी जैसा फूल खिलखिलाता खड़ा था। 'आमि जहन्नुमेर आगुने वशिया हाँशी पुल्पो हाँशी!' (काजी नजरुल इस्लाम।) गिरिजाकुमार इस बात को जानते हैं, इसलिये उनसे बहुत आशायें हैं।

३. अज्ञेय

'अज्ञेय' ने इत्यलम् मुझे दी और उस पर लिखा: 'प्रभाकर जी, लीजिये, पढ़िये, न खीजिये, संवेदना दीजिये। हाँ, जब आलोचना कीजिये, तब

जरा न पसीजिये !' इस अर्द्धपरिहासपूर्ण पुस्तकदान में मेरा गुरु-प्रेम तो लक्षित है ही परन्तु 'त्रिशंकु' पर मैंने जिस तटस्थता से लिखा था उसकी परोक्ष प्रशंसा भी है, ऐसी मेरी मान्यता है। 'इत्यलम्' मैं पढ़ गया, तब मेरा यह विश्वास और भी दृढ़तर हुआ कि अज्ञेय एक प्रगतिशील लेखक है जो कि कई कठमुल्ला डागमैटिक प्रगतिवादी नहीं भी मानते। जो व्यक्ति घृणा का गान (पृ० ५८) इतने आवेश से लिख सकता है, उसे अ-प्रगतिशील कैसे कह सकते हैं ?

तुम जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में।
तुम जो रक्त चूसकर ठठरी को देते हो जलदान,
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान।
तुम जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
'मरने दो बच्चे ले आओ खींच पकड़ कर केश !

नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान,
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !
तुम जो पाकर शक्ति कलम में हर लेने का प्राण,
'निरशक्तों' की हत्या में कर सकते हो अभिमान !
जिनका मत है, नीच मरें दृढ़ रहे हमारा स्थान,
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

केवल 'घृणा का गान' ही नहीं, 'कीर की पुकार', 'जीवनदान', 'बन्दी गृह की खिड़की', 'अखण्ड ज्योति गा दो', 'एकस्रात वह मेरा साकी', 'मत माँग', 'बन्धन और स्वातन्त्र्य', 'उद्धारकों से', 'बंधुत्व' 'मैं वह धुन हूँ' 'विश्वास' आदि बन्दी स्वप्न-भंग की कविताएँ बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रगतिमयी स्फूर्ति-दायक कविताएँ हैं। 'हिय हारिल' में भी कुछ ऐसे ही गीत हैं। रहस्यवाद, धूल भरा दिन, ओ मेरे दिल, उड़ चल हारिल, परन्तु अब हृदय चिन्तामय हो गया है, 'द्वितीया' में वह खो रहा है। इस संग्रह में अज्ञेय की रचनाओं में निरालोक शैथिल्य आ जाता है। जेल जीवन की जितनी उत्तम उन्मादमयी रचनाएँ 'नवीन' आदि में पाते हैं, वैसे ही अज्ञेय के बंदी स्वप्न में थी। परन्तु 'हारिल हिय' के बाद कवि जैसे अन्तर्द्वन्द्व के गुञ्झर खोलने में डूब गया। वंचना के दुर्ग (तार-सप्तक में छपी कविताएँ) में शिशिर की राका, निशावर्ग, भावना-सटीक, पार्क की बेंच, कंकरीट का पोर्च जैसे सख्त व्यंग हैं, परन्तु प्रेम कविताओं में स्पष्टतः दो दल पड़ गये हैं। एक ओर तो आत्ममंथनात्मक मनोविश्लेषणशील

कविताएँ हैं। जैसे, मेहरा उदास, नापका गजर, [illegible], [illegible] आदि। एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह पश्चिम छायावादी [illegible] के [illegible] पद-चिह्न हैं, जैसे टेनीसन ब्राउनिंग की आत्म-गीतात्मक लम्बी कविताएँ, एक प्रकार से पद्यबद्ध निबन्ध ही हैं। 'चिन्ता' के [illegible] की [illegible] आवृत्तियाँ। परन्तु दूसरी जो गीत पद्धति अज्ञेय में दिखाई देती है, उसका [illegible] अधिक है। रात होते—प्रात होते, फूल कँगनार के, [illegible], [illegible] बरसः माघ-फागुन-चैत, मन आकाश में दीपा। परन्तु [illegible] की ओर जो प्रवृत्ति है, वह पुनः कविता से अलग जा पड़ती है। यह उत्तम सूक्तियाँ हो सकती हैं, परन्तु कविता केवल विट के सहारे नहीं जी सकती।

गोएटे ने एक जगह लिखा है कि 'आजकल के कवि अपनी स्याही में बहुत-सा पानी डाल देते हैं, (न्यूरे पोएटेन थुन वाइल वासेर इन डी टिन्टे)। और आधुनिक हिन्दी कविता में तो वह पानी या तो आँसुओं का होता है, या 'कागजी क्रांति की शाब्दिक सिपाहीगिरी' के आक्रोश के पसीने का। 'अज्ञेय', हिंदी के आधुनिक कवियों में, उनमें से हैं, जिन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अनुभूति की गहराई के प्रति प्रामाणिक होकर, किसी प्रकार के बाह्य आग्रह के वशीभूत होकर नहीं, चाहे वह श्रोतृ-पक्ष का हो या पाठक-वर्ग का। इसी कारण से उनकी काव्य-कला में एक प्रकार की निरन्तर खोज विद्यमान है।

इस संग्रह में आकर उनकी कविता हरी घास पर क्षण भर रुक गई है, शबनम की तरह नहीं कि जो दूसरे क्षण में ढुलक जायगी; परन्तु 'अतीत के शरणार्थी' की भांति 'जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन' करने, आत्म-मंथन रत होकर। इस संग्रह की सबसे सुन्दर और लम्बी कविता इसी नाम से है—हरी घास पर क्षण भर। दूसरी उतनी ही शक्तिमयी कविता है—नदी के द्वीप। दोनों में कवि अपने व्यक्तिवाद की एक नयी व्यंजना करता है। वह शहराती तथा कथित सभ्यता से ऊबा हुआ है; वह बनावटी उपमानों का, घिसी-पिसाई अलंकार-नियोजना का कायल नहीं; वह अनुभव करता है कि सुख का आविष्कार मानव के प्रत्येक अहं में सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका है; अब केवल मौन ही नयी कहानी कह सकता है। इसी अर्थ में 'क्षण भर' शब्द की महत्ता है; अभी तो हम धारा नहीं हैं, द्वीप हैं, धारा से हमारा आकार बढ़ा है—परन्तु बाढ़ आने पर क्या होगा? होने दो, जो होगा सो होगा। डी. एच. लारेंस ने तीस वर्ष पूर्व अपनी नयी कविताओं की भूमिका में इसी प्रकार लिखा था—'आरम्भ की और अन्त की कविता में चाहे पूर्णता हो, हमारी कविता तो निकटतम वर्तमान

की है। इसी क्षण की, अभी की। जीवन इसी प्रकार से चिर-वर्तमान है, वह अन्त नहीं जानता!'

इस प्रकार से अज्ञेय की कविता में इम्प्रेशनिस्ट चित्रकारों का-सा क्षण-निरूपण प्रधान है। इसी से उसकी अनुभूति में अन्तर्निहित मूक-व्यथा, एक घुटा-सा दर्द, कुण्ठित पीड़ा होने पर भी, वह भावुकता का प्रदर्शन नहीं करता, उसकी स्याही में आँसुओं का पानी नहीं है। उसकी करुणा प्रगाढ़ है। 'वह हरहराते ज्वार-सा दद सदा छाया एक हाहाकार' है। उसमें परिताप की जलन है अतृप्ति का निरा धुँधवाना नहीं। इसी आत्म-विश्वास से वह लिखता है :

समर्पण लय, कर्म है संगीत; टेक करुणा—सजग मानव प्रीति !

कुल मिलाकर यह संग्रह स्मृतियों का एक अलबम-सा है, जिसमें के कुछ चित्रों पर के रंग उड़ गये हैं; कुछ चित्र फीके पड़ गये हैं, कुछ खंडित हो गये हैं। और उस मनावशेष की दीवालों से उठती एकाकी गुहार की अनुगूञ्ज यहाँ के अवकाश में समा गयी है। प्रत्यभिज्ञा सदा ही मधुर नहीं होती। और कहीं-कहीं हरी घास में से भी सूखी घास झलकती है, जैसे 'एक आटोग्राफ' 'शरद' की तुकें (पृ० ३६), कवि, हुआ क्या फिर, पुनराविष्कार आदि। 'सवेरे-सवेरे' और दीखती है दीठ आदि कविताओं में वही 'शिशिर की एका निशा' वाली कड़वाहट है। कहीं-कहीं हठाकृष्ट रचना भी है, मानों प्रयोग कहीं लड़खड़ा गया हो। कहीं दुरूहता घनी हो उठी है।

परन्तु इन दोषों के बाद भी इस संग्रह में हरापन है। 'ओ रे आभार सबूज, ओरे आमार कॉचा' कह कर रवीन्द्र ने और विटमन ! ने 'लीव्ज़ आफ ग्रास' में हिलते हुए हरे-हरे छोटे रुमालों से धरित्री मानो बादलों को बुला रही है, कह कर इस दूब को याद किया था। भूमिका में कुछ अतिरक्त निकटता से कवि ने 'संसार में उद्यानों की कमी के कारण जहाँ-तहाँ बची हरी घास की थिगालियों को भी उखाड़ फेंकना' चाहने वालों के कुण्ठित अकरुण मन को व्यर्थ ही कोसा है। वस्तुतः कवि का मन स्वयं उद्यान-प्रिय, जान पड़ता है उसकी अलंकृता रचना से। पहले का वन्य 'भग्नदूत' अब आकर बहने से डरता है—"पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाँय।' क्योंकि उसकी चेतना ठिठक कर द्वीप रूपिणी बन गयी है। यायावरत्व का मोह भी ऐसी ही एक प्रतीक ईहा है। परन्तु हम चाहते हैं 'अज्ञेय', जो कि आधुनिक हिन्दी कविता को अंतर्राष्ट्रीय रूपी गद्य प्रायः वर्तमान कविता की धारा से जोड़ने वाली एक स्रोत-स्विनी हैं, द्वीप न बन जाँय ! और फैदेरिको गार्शिया लोर्का की भाँति वे कहें :

हरा—मैं तुम्हें हरा चाहता हूँ
हरी हवा। हरी शाखें।
समुद्र पर जहाज़
और पर्वतों में घोड़ा।

(मूल इस्पाहानी : वेर्दे क्वी ने क्वीरो वेर्दे
वेर्दे वीन्तो। वेर्दे रामास।
ईल बार्को सोब्रे ला मार।
या ईल काबालो ईनला मोन्ताना।)

इस प्रकार इन तीन संग्रहों को देख कर हिन्दी कविता में जो आधुनिकतावाद शीघ्रता से क्या टेकनीक और क्या विषय में बढ़ता जा रहा है, उसके प्रति मन आश्वस्त होता है। रूढ़िवादी आलोचक चाहे जितना नाक-भौं सिकोड़ें, नई हिन्दी कविता अब वेदना और आत्मरति, मरणप्रेम और क्षयी रोमांस अतीद्रिय सौंदर्य-रहस्य के संकेत और बेलबूटेवाली हलकी अभिव्यंजनावादी वृत्ति से कहीं आगे बढ़ आई है। नये कवि में राग-विराग का, नाश निर्माण का, प्रलय-सृजन का, मिट्टी और ईहा का चिरंतन संघर्ष युगीन सत्यों के नवीन विचार-संघात से नया रूप लेकर प्रस्तुत हो रहा है, वह अब केवल 'रूप के मन' और 'मन के रूप' से संतुष्ट नहीं रह सकता। वह दोनों के विरोध विकास को समझ कर क्षण में युग और बिंदु में सिंधु की रत्नराशि और उसकी अनेक रूपता को व्यक्त करता है। नया कवि एक 'प्रिज्म' के समान है, जिसमें से युगीन सत्य पृथक्कृत होकर सतरंगे बन कर हमारे मन को आह्लाद देते हैं। सत्य नंगी सूर्य किरणों के समान चौंधियाने वाला है ही परन्तु अब खिड़की बन्द कर नकली अंधेरे में कविता उलटी लटक कर ऊँघ नहीं सकती।

४. केदारनाथ अग्रवाल

कवि केदारनाथ ने हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा में अपनी विशिष्ट शैली के कारण और कविता में व्यक्त एक सुनिश्चित विचार-धारा के कारण अपना विशेष स्थान बना लिया है। उनके कविता-संग्रह 'युग की गंगा' का हम स्वागत करते हैं।

हमने इस गंगा में निमज्जन कर प्रसन्नता तथा ताजगी का अनुभव किया। यह गंगा 'हर की पैंडी' और 'चित्रकूट' वाली तीर्थ-बद्ध गंगा नहीं, जहाँ पवित्रता की झूठी आशा से गोते लगाने अन्धश्रद्धालु प्रवासी पहुँचते हैं या जिसके बल पर

पंडे-पुजारी अपना पेट पालने का प्रयत्न करते हैं। यह सीधी पर्वतों से निःसृत, फुफकारती, किलकारियां भरती, अपने स्रोत के समीप लहराती, चट्टानों से टकराती हुई गंगा है। आगे चल कर वह सामाजिक दो-आबे को भी सींचती जाती है। उसमें प्रवाह है, प्राणमय वेग है।

इस 'युग की गंगा' को चार भावधाराओं में बाँट सकते हैं। (१) लैंडस्केप्स और ग्रामीण रेखाचित्र—इनमें शुद्ध यथार्थवाद है। जीवन को खुली आँखों से खुली-खिली धूप में एक प्रकार के प्रसन्न कैशोर भाव से देखा गया है। इसके अन्तर्गत 'चन्द्रगहना से लौटती बेर', 'बसंती हवा', 'सावन का दृश्य', 'चित्रकूट के यात्री' 'बुन्देलखण्ड के आदमी', 'चन्दू', 'दीन कुनबा', 'महुआई', 'गाँव में' आदि कविताएं आती हैं, जो हमें सबसे अधिक प्रिय जान पड़ी हैं। इनमें काव्यत्व (रोमैण्टिक कंटेण्ट) विशेष है। (२) दूसरी श्रेणी में वे कविताएं आती हैं जो इस यथार्थवाद में सामाजिक पुट मिलाकर, सहेतुकता निर्मित करती हैं। यह प्रगतिवादी कविताएं हैं; जैसे 'युग की गंगा', 'गेहूँ', 'प्रलय के पूर्व', 'धन-जन', 'कोहरा', 'गुड्डा', 'चैतू', 'रनिया', 'डाँगर', 'मोमबत्ती और सूरज', 'पैतृक सम्पत्ति', 'कटुई का गीत', 'बुनाई का गीत'। 'दो जीवन', 'रनिया' और 'अमीनाबाद' के अन्त वाले हिस्से में सामाजिक विषमताएं विरोध रूपमें दिखा देना-भर काफी समझ लिया गया है। इसलिए वे कमजोर कविताएँ बन गई हैं। यहाँ तक कवित्व पारस्परिक अर्थ में भी निभ पाया है। अब बची हुई कविताओं में (३) सामाजिक, राजनीतिक, कटु एवं व्यंग्य-चित्र—गंदा नाला, देश की आशाएं, वरदान, मिट्टी का वैभव, जनता का जीवन, आर्डिनेंस, सोने के देवता, देव-मूर्ति, देवताओं की आत्महत्या, मूलगंज, कानपुर (जिसमें चौथी कोटि की प्रचारात्मकता विशेष है), गुम्मा ईंट, राष्ट्रीय प्रतिध्वनि (हँस में छपे रूप से इस कविता पर से 'कांग्रेसी माँग' शब्द शायद हटा दिये गये हैं), देवागमन (इस कविता का स्थायित्व कहाँ तक है? त्रिमन्त्री-मिशन को लोग भूल भी जाँयगे) चितकबरा कुत्ता आदि। इन कविताओं में से गुम्मा ईंट और वरदान विशेष अच्छी बन पड़ी हैं। मगर जनता का जीवन, मजदूर, शहर के छोकड़े, मूलगंज, चित्रकूट के यात्री में परिलक्षित व्यंग्य केवल जीवन के एक बीभत्स या विकृत पहलू को दिखाने तक सीमित रह जाते हैं। यों वे प्रगतिवाद पर किये जाने वाले एक आक्षेप, विकृति से प्रेम (मार्बिडिटी) से नहीं बच पाते। स्टैचू में तो 'क्षयी . . .' वाली अतृप्त वासना के भी दर्शन हो गये हैं :

और कन्धों से तनिक नीचे उतर कर
वासना के हाथ से अब तक अछूते औ' अदोलित
दो मृदुल दलदार वृत्ताकार कुच थे,
क्षीण कटि थी
पीन जाँघें ।
नग्न नारी प्राण प्यारी चुप खड़ी थी !!

परन्तु यह केवल एक ही स्थल है, जहाँ नारी-रूप का वर्णन है। समूचे कविता-संग्रह में नारी का अन्य कोई उल्लेख नहीं, सिवा गाँव की गरीबिन रनिया के (४) चौथी कोटि में वे कविताएं आती हैं जिन्हें 'नारावादी' कह सकते हैं। शुद्ध प्रचारात्मक, उपदेशात्मक, कोरस आदि। तीसरी और चौथी श्रेणी की कविताएँ गद्य-प्रायः क्या, निरी गद्य ही हैं। पता नहीं कवि ने उन्हें काट-काट कर (प्रोज़ कट इण्टू ईक्वल लेंग्थ्स) वर्ड्सवर्थ की-सी यह रचनाएं पद्य कहलाने को क्यों छापी हैं। वह उन्हें गद्य-रूप में भी छाप सकता था। उदाहरणार्थ :

अ. अधिकाँश जनता का जीवन रद्दी की टोकरी का जीवन है। संज्ञाहीन, अर्थहीन, बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है ! एक दिन, एक बार आग के छूने की देरी है—राख हो जाना है !! ('जनता का जीवन' नामक पूरी कविता सिर्फ एक पंक्ति का अन्वय बदल कर यहाँ लिख दी है।)

आ. झीनी बिनी खाट पर रात दिन लेटा हुआ आदमी, एक हाथ नीचे की उपजाऊ धरती को त्याग कर स्वप्नों के महलों की परियों के प्यार की खोज में निर्गुण आकाश के (?) चक्कर लगाता है (और) असफल हो घुलता है। (उसी) झीनी बिनी खाट पर पागल होकर मरता है। मिट्टी का वैभव यों मिट्टी में मिलता है। ('मिट्टी का वैभव' नाम की यह एक दूसरी कविता है।)

इ. छोटी-सी देवमूर्ति आले में रखी थी। बेचारी, औचक ही चूहे के धक्के से नीचे दासा के पत्थर पर गिर, टूट गई। मुझको तो ताज्जुब है (कि) करुणा के सागर के अन्तर की एक बूंद (भी) भूमि पर छलकी नहीं। ('देवमूर्ति' नामक तीसरी कविता किंचिन्मात्र अन्तर से यहाँ लिखी गई है।)

ई. 'आज तो इतवार है जी। कौन-सी आफत पड़ी है जो सवेरे से मैं उठूँ, मेल से भी तेज दौड़ूँ और टक्कर खा कहीं पर एक एक्सीडेंट कर दूँ ! छै दिनों तो मैं बराबर भीड़ में चलता रहा हूँ। चौमुहानी आफतों से (और) मौत से लड़ता रहा हूँ। अब थक गया हूँ, तन चूर है। सातवाँ दिन मिला है तो आज सुस्ता रहा हूँ। शान से लेटा हुआ हूँ। (मुझे नाहक तंग मत करो जी ! मैं सुन्दर

स्वप्न देखता हूँ : तीन देवता आ रहे हैं। हिन्द अब आज़ाद होने जा रहा है।' ('देवागमन' नामक चौथी कविता)।

ऐसे इस संग्रह में कई टुकड़े हैं जिन्हें हम मजे से गद्य में भी रख सकते हैं। कवि का आग्रह है, इसो से चाहे तो उन्हें आप पद्य कर लें, वरना उनमें कवित्व कहाँ और कैसा क्या है। यह कल्पना को पर्याप्त ढील देकर भी समझ में नहीं आता।

इस गद्यमयता के अलावा जो दूसरा दोष हमें 'नारावादी' कविता में मिलता है, वह वृथा भावुकता-जन्य सरलता और पुनरावृत्ति। सोहनलाल द्विवेदी की राष्ट्रीय कविता में जो टेकनीक है—वही यहाँ प्रगतिवादी (साम्यवादी) कविताओं में लगा दी गयी है। तेरी ही हिम्मत पर किसान, तेरी ही कुव्वत पर किसान का केदारनाथ अग्रवाल वाला रूप है 'नहीं किसी की, नहीं किसी की धरती है केवल किसान की' या 'कानपुर की सारी सत्ता श्रमजीवी की ही सत्ता है! कानपुर की सारी माया श्रमजीवी की ही माया है!!' या 'न डर, न डर, न डर, न डर, जमीन आसमान को हिलाये चल, हिलाये चल, हिलाये चल!' इसी स्वर में मैथिली-शरणजी के 'नर हो न निराश करो मन को ; कुछ काम करो, कुछ काम करो' जैसा स्वर भी है—हरेक नौजवान को यही-यही पयाम है, मनुष्य ही मनुष्य का बिका हुआ गुलाम है।' बच्चन वाली पुनरावृत्ति की टेकनीक, जिसकी अति बंगाल के काल में मिलती है, यहाँ भी है, 'तपकर, गलकर, जीकर, मरकर,' 'काटो, काटो, काटो, करवी,' 'मारो, मारो, मारो, हँसिया,' इस पुनरावृत्ति वाली टेकनीक का अतिरेक ये पंक्तियाँ हैं—'आगे, आगे, आगे, आगे, सरांता है ; आओ, आओ, आओ, आओ, अरांता है ; जीतो, जीतो, जीतो, जीतो नरांता है'—या 'मूलगंज' में 'रात है' की आवृत्ति, यह कुछ बच्चों की कविता-जैसी चीज़ जान पड़ती है। माना कि सामाजिक सामूहिक उपयोग—यथा, सभा-सम्मेलनों में संघ-गायन की दृष्टि से ऐसी पुनरावृत्ति या सरलता अच्छी होती है, परंतु केदार की कविता वैसी निरी Bardic poetry (चारण-काव्य) नहीं है। उससे अधिक ऊँची कविता के गुण उसमें हैं; इसीलिए यह दोष अखरता है।

कुछ गौण दोष भी हैं ; यथा, विना किसी सूचना के एक ही कविता में, छन्दों का सहसा परिवर्तन अच्छा नहीं माना जाता ; जैसे पृ० १०-११ पर चन्द्र-गहना से लौटती बेर नामक अत्यन्त सुन्दर कविता में 'मैं यहाँ स्वच्छन्द हूँ जाना नहीं है' (गीतिका—मात्रिक छन्द का मुक्त रूप—'फ़ाउलातुन फ़ाउलातुन फ़ाउलातुन') के आगे एकदम निराला वाले कवित्त—अक्षर छन्द का-सा मुक्तवृत्त

प्रयुक्त है—'चित्रकूट की अनगढ़ चौड़ी, कम ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ।' इससे उलटे 'गुड्डा' कविता में पृ० २६ पर 'मन के अमोल भाव सीधे-साधे शब्दों में खोल-खोल रखती है !' के आगे एकदम वही गजल-चामरवाला मात्रिक छन्द आ गया है—'सृष्टि में इसी प्रकार विश्व का समस्त धर्म पा गया विचार-जन्म !' शब्दों के भी कुछ चिन्त्य प्रयोग हैं। मुहावरेबाजी और देशज शब्दों के अपभ्रंश रूप या 'स्लैंग' का प्रयोग तो देहाती रंग लाने में बहुत उत्तम है ही, परन्तु कुछ स्थल पर 'बन्द', 'यौवन', 'हंस-ग्रीवा' (पृ० ५२) 'सुख', 'चौमुहानी' (पृ० ४८), 'दिक्‌बन्धुओं' (पृ० १७), जोर से (पृ० १५) 'मद्दर', 'कंडा हो रही थीं आँखें' (पृ० २६) 'सिकहरे' (पृ० २६); 'वह निच्छवसित' (पृ० ३१) इत्यादि। परन्तु इन सब दोषों के सम्बन्ध में प्राक्कथन में केदार ने लिख दिया है: 'इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है, न 'अलंकार' की इच्छुक है; और न 'संगीत' की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ है। आज जिसके कि राजा शासक हैं; पूंजीपति शोषक हैं। अब वह चाहती है—किसान की वाणी, मज़दूर की वाणी और जन-जन की वाणी।' (पृ० ८ ग)

अब तक 'युग की गंगा' की जो रूपात्मक—केवल 'फार्म' को लेकर—आलोचना की गई है उसमें से यह प्रश्न मुख्यतः उठते हैं: (१) गद्य और पद्य की सीमारेखा क्या है ? (२) क्या कविता रस-अलंकार संगीत-तुकान्त-विहीन हो सकती है ? इन प्रश्नों पर मैं इसलिए और विस्तार से यहाँ लिख रहा हूँ कि केदारनाथ अग्रवाल ने 'पारिजात' मासिक में एक लेखमाला लिखकर अपने मत को और भी विशद किया था। वर्ड्‌स्वर्थ ने यह प्रश्न १७६८ में उठाया था—कविता की भाषा गद्य की भाषा के निकटतम होनी चाहिए। उस पर खूब वाद-विवाद मचता रहा और वाल्ट विटमैन और एजरा पाउंड, जिन्हें ईलियट ने 'मुक्तवृत्त' के उन्नायक कह कर गौरान्वित किया है—दोनों ने गद्य जैसी कविताएं लिखी हैं। उर्दू में चूंकि छन्दःशास्त्र के बंधन अत्यन्त कड़े हैं, यह प्रवृत्ति जोरों पर है। परन्तु हिन्दी कविता की परम्परा इससे भिन्न है। बच्चनजी ने जैसे एक बार मुझ से वार्तालाप में कहा था, आधुनिक हिंदी कविता का प्रवाह या तो 'आल्हा' से अपनी प्रेरणा पाता है या 'कवित्त' से। दोनों में एक प्रकार की 'लय' है जिसे गद्य और पद्य की सीमारेखा मानना होगा। यह अंतर्गत लय, या तालबद्धता (रिद्‌म) कहीं-कहीं केदार की कविताओं में है और कहीं वह एकदम गायब है। जैसे ऊपर उनकी तीन-चार कविताएँ गद्यरूप में लिख कर

बतलायी गयी हैं। 'निराला' अंक में केदार का एक गद्यकाव्य-सा छपा है— उसे भी सुविधापूर्वक यों टुकड़ों में बाँट कर लिखा-छापा जा सकता है; परन्तु इसीसे तो वह कविता नहीं कहलायेगी? केदार की कविता की अनुकृति यदि बढ़ेगी तो हिन्दी कविता एकदम गद्य हो जायगी, समतल।

दूसरा प्रश्न पहले प्रश्न से सम्बद्ध है। क्या रस-अलंकार-संगीत-तुकादि प्रगतिवादियों द्वारा अवहेला से देखी जानेवाली बातें कविता में एकदम अनावश्यक हैं? क्या कविता एक ललित कला नहीं है? यदि है तो अन्य ललित-कलाओं की भाँति उसका भी एक शास्त्र या तन्त्र (टेकनीक) अवश्य है। उसमें पूर्णता पाना क्या कवि के लिए आवश्यक नहीं? यह माना कि रीतिकाल की भाँति केवल शब्दजाल आवश्यक नहीं। जैसे केदार के संग्रह में ये पंक्तियाँ पढ़िए :

प्यार पारावार बारम्बार पाकर अब न तार सितार तनते।
लीन अन्तर्गीत के मदपीन में हो बीन के न विहाग तरते।
राव-रंगी, भाव-भंगी, केलि-संगी, स्वर सरंगी के न सजते।
आज बर्बर क्रूर कर्कश विश्व-भर में सभ्यता के गाल बजते॥

परन्तु उनका सम्पूर्ण बहिष्कार एक खतरा उत्पन्न करता है और वह परंपरा की अच्छाइयों को भी गाड़ देने वाला है। शुद्ध द्वन्द्वात्मक दृष्टि से भी कविता में रूप और आशय ('फार्म एण्ड कन्टेन्ट') का परस्पर संघात होता रहता है। उसमें का रूपात्मक पक्ष या कला पक्ष अवहेलनीय नहीं। 'कन्टेन्ट' या काव्य-वस्तु के प्रवाह-प्रभाव में 'रूप' या कलापक्ष का क्षीण हो जाना कोई आवश्यक बात नहीं है। ऐसे भी श्रेष्ठ कवि हो गये हैं और प्रगतिवाद में भी हुए और होंगे, जो दोनों का महत्त्व जानते और कविता में उतारते हैं। जहाँ तक अच्छी कला का प्रश्न है, हमें कला के ही मान-दंड लेकर चलना होगा, मार्क्स के अर्थ-शास्त्रीय प्रमेय और वर्द्धित मूल्य का सिद्धान्त वहाँ निर्णायक नहीं हो सकते। उल्लास में कितनी मात्राएँ हों और रोला में कितनी; या जीवनपुरी रागिनी में कौन-सा स्वर शुद्ध लगता है या कोमल; या शिल्प में प्रमाण क्या रहें; या नृत्य की मुद्राओं के अर्थ क्या हों, यह सब चूँकि वस्तु-जगत-अर्थनीति से संयोजित-परिमित है, अतः अर्थशास्त्र की पुस्तकों से नहीं प्राप्त हो सकता। केदार की कविता अभी इस दृष्टि से कच्ची है।

परन्तु यह सब कच्चापन उसमें के 'कण्टेण्ट' ने ढँक लिया है। वह अत्यन्त सशक्त, स्पष्ट और सविशेष है। उसमें काव्य-वस्तु इतनी विस्फोटक और क्रान्त-दर्शी है कि उसकी प्रवहमानता की तुलना किसी उष्ण जल-प्रपात से ही की जा

सकती है। न केवल उसमें बर्न्स-जैसे सुन्दर ग्रामीण जीवन से घुलमिलकर लिखे जानपद गीत ही हैं; ऐसे सुन्दर वर्णन :

एक काले माथवाली चतुर चिड़िया,
श्वेत पंखों के झपाटे मार फौरन,
टूट पड़ती है भरे जल के हृदय पर,
एक उजली चटुल मछली
चोंच पीली में दबाकर
दूर उड़ती है गगन में

चढ़ी पेड़ महुवा,
थपाथप मचाया;
गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में कू,
उतरकर भगी मैं
हरे खेत पहुँची—
वहाँ, गेहुँओं में
लहर खूब मारी;
पहर दो-पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं!
...हवा हूँ, हवा मैं,
बसन्ती हवा हूँ,

सावन की गुदगुदी हवा से मस्त हुआ पठ्ठे का चोला
पेड़ तले महुए के बैठा, लगा बजाने मउहर मन की
बेकाबू हो गयीं बिजलियाँ, ओ, नये बादल के परदे में
चंचल होकर ऐसी तड़पीं कूदेंगी पृथ्वी पर जैसे।

प्रत्युत नयी हिन्दी कविता में कुछ नेपाली की और कुछ नरेन्द्र शर्मा की रचनाओं में छोड़ कर अन्यत्र कम मिलेंगे।

प्रकृति के केवल यथार्थवादी वर्णन ही नहीं हैं, प्रतीकात्मक संयोजना भी

सकती है। न केवल उसमें बर्न्स-जैसे सुन्दर ग्रामीण जीवन से घुलमिलकर लिखे जानपद गीत ही हैं; ऐसे सुन्दर वर्णन :

एक काले माथवाली चतुर चिड़िया,
श्वेत पंखों के झपाटे मार फौरन,
टूट पड़ती है भरे जल के हृदय पर,
एक उजली चटुल मछली
चोंच पीली में दबाकर
दूर उड़ती है गगन में

चढ़ी पेड़ महुवा,
थपाथप मचाया;
गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में कू,
उतरकर भगी मैं
हरे खेत पहुँची—
वहाँ, गेहुँओं में
लहर खूब मारी;
पहर दो-पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं!
...हवा हूँ, हवा मैं,
वसन्ती हवा हूँ,

सावन की गुदगुदी हवा से मस्त हुआ पठ्ठे का चोला
पेड़ तले महुए के बैठा, लगा बजाने मउहर मन की
बेकाबू हो गयीं बिजलियाँ, ओ, नये बादल के परदे में
चंचल होकर ऐसी तड़पीं कूदेंगी पृथ्वी पर जैसे।

प्रत्युत नयी हिन्दी कविता में कुछ नेपाली की और कुछ नरेन्द्र शर्मा की रचनाओं में छोड़ कर अन्यत्र कम मिलेंगे।

प्रकृति के केवल यथार्थवादी वर्णन ही नहीं हैं, प्रतीकात्मक संयोजना भी

करण करने के हेतु 'कलंकी' की उपाधि भी लेनी होगी। आनेवाली पीढ़ी के लोग उन्हें क्षमा नहीं कर सकते।'

यद्यपि इस भूमिका में भी कुछ ऐसे सामान्यीकरण (स्वीपिंग जनरलाइज़ेशन्स) हैं, जिनसे सहमत होना कठिन है, यथा—'पिछला समस्त भारतीय साहित्य केवल मात्र ईश्वर, भूपति, पुरोहित, नगपति और व्यापारियों के संसार की मानसिक प्रक्रिया का साहित्य है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, तब लोकसाहित्य का क्या होगा?

और 'कवि अथवा उसके व्यक्तित्व को अर्थ-नीति का ही अंश समझना चाहिए। कवि की विचारधारा और भावधारा दोनों ही अर्थ-नीति से निःसृत होती हैं।' यह भी ऐकान्तिक मान्यता है। कवि-व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली यह अर्थ-नीति, किंबहुना समीक्षा-क्षेत्र में यह वाक्य पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की द्योतक है। हमेशा के लिए इसी एक मापदण्ड को मान लेना अनैतिहासिक होगा। परन्तु यह सब विवादास्पद चर्चा उठाने का यह स्थल नहीं।

५. भारतभूषण अग्रवाल

'मुक्ति-मार्ग' पुस्तक में 'छवि के बन्धन' और 'जागते रहो' के कवि भारतभूषण अग्रवाल की सन् १९४४ से १९४७ तक की चालीस कविताएँ संग्रहीत हैं। कवि ने अपनी ओर से कोई वक्तव्य नहीं दिया है; केवल विलियम मौरिस का एक उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है—'तुममें से कई मुक्ति के इच्छुक होंगे, तुम में से कई इस आपाधापीवाले व्यावसायिक जगत से आहत और पराजित होंगे···परन्तु तुम्हारी सच्ची मुक्ति मजदूरों, सर्वहारा श्रमिकों के साथ एकाकार होने में है; उन्हीं की आशा में तुम्हारी आशा सन्निहित है, उनके बिना तुम भी असहाय और निराश होकर जियोगे-मरोगे!'

प्रथम कविता 'तार-सप्तक' में दी गयी कवि की अन्तिम रचना है, जिसमें वह 'क्वः पंथा' कहकर कुण्ठित-मति चौराहे पर खड़ा है। उसकी समस्या यह है कि 'महाजनो येन गतः स पंथा' कहे तो उतने साधन-वाहन उसके पास नहीं, अन्तरात्मा की पुकार सुने तो वह अनिश्चय-संशय-ग्रस्ता है और क्रान्ति की गति इतनी तेज है कि उसके अनुगमनयोग्य सामर्थ्य पैरों में नहीं। ऐसी स्थिति में बटोही आकुल, अधीर, आतुर है कि वह किधर जाय? संग्रह की अन्तिम कविता में कवि ने वह मार्ग जैसे पा लिया है। वह 'सब्जेक्टिविज़्म' के छूँछे अतीन्द्रिय कुहासे से बाहर निकल आया है, और उसे नया सम्बोध मिल गया है:

अन्तर का आह्वान आज बाहर से आया
युग-युग की पीड़ा ने जग में एक नया सम्बोध जगाया
व्यापक संस्कृति, और उच्चतर जीवन-स्तर की नींव
जमाने हम जाते हैं।

कविताओं में कई प्रकार हैं। सानेट्स हैं; सूक्तियाँ हैं; गीत हैं; विभिन्न मनःस्थितियों के चित्र भी हैं। यह एक विवाद्य वस्तु है कि सूत्रबद्ध दो-दो, चार-चार पंक्ति की सूक्तियों को कविता कहाँ तक माना जाय? वे उत्तम कथन हैं, 'क्लेवर विटिसिज्मस' हैं; परन्तु वे कविता की कोटि मे कैसे आ सकेंगे? वैसे दोहे और कई शेर भी आज लोकोक्तियो मे बहुप्रचारित हो गये हैं; उनमें मार्मिकता भी पर्याप्त पायी गयी है; परन्तु 'विट' या सूझ मात्र श्रेष्ठ कविता का मान-दंड नहीं हो सकती। भारतभूषण की इस संग्रह की कई रचनाएँ ऐसे सुभाषित या सूक्तियाँ हैं : कविताएँ नहीं। उदाहरणार्थ, ये रुबाइयो जैसी चीजे देखिए :

तुम धरा हो
झील, पर्वत, नद, विटप, मैदान, मरु में लुप्त—हुयीं !
और मैं आकाश हूँ
बादलों से भरा, फिर भी मुक्त-अम्बर !!

इससे मुझे याद आया कि 'रिल्के' की एक इससे भी बढ़िया रूपक-योजना है :

We in the wrestling nights
Fall from nearness to nearness :
She is a thawing pond.
I am a startling stone.

मुसकराना भी मना, यह देश कैसा है!
ढल चुका उत्साह यह आश्लेष कैसा है!
छलक आया जब नयन में दान जीवन का,
पूछता है कौन 'यह आवेश कैसा है?'

यह नहीं होगा कि मेरा स्नेह मुरझा जाय
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाय
और यह भी तो नहीं हो पायगा सम्भव—
परिधि सिमटे, औ' सिमटकर केन्द्र में सो जाय

खो गया जब पथ, थके जब पैर मेरे हार
चुक गया जी का सभी उत्साह जब उस बार
तब तुम्हीं ने तो किया था, अरे मन के मीत !
सुप्त मेरी धमनियों में स्नेह का संचार

या यह 'कामनप्लेस' (अति साधारण) विरोधाभास—'क्योंकि दोनों सत्य हैं : तम भी उजेला भी । मैं तुम्हारे साथ भी हूँ, प्रिय ! अकेला भी ।' इन सूक्तियों में अनुभूति खण्ड हैं। कहीं-कहीं बड़ा चमत्कारपूर्ण अन्त भी मिल जाता है, जैसे,

फिर भय क्या, तू भी बाँध कमर, ले धनुप तान
सब अटकल से ही यहाँ लगाते हैं निशान

कुछ गीतों में छायावादी कुण्ठा है : जैसे 'प्यार मेरे भार मत बनो !' इस गीत में तो अभिव्यक्ति भी वही छायावादियों की-सी है; 'उन्मुक्त द्वार, पाँव में शक्ति भरपूर' में भी वैसी ही गृहावद्ध भावुकता है; वही 'दौहार्द्र-भाव' (नौस्टेल्जिया) की निराशा 'अपना ही मन खो बैठे जब, औरों की क्या बात है !'; 'रात-भर रोता रहा है मेघ'; 'प्रतिध्वनित होते नहीं अब गीत मेरे किसी अन्तर से'; 'बन्द जब होने लगा था इस गुहा का द्वार'; 'उन्मुक्त आज मैं, किंतु दीन, आकुल मलीन' आदि कविताओं में और गतिरोध-जन्य व्यर्थता का भान (फ्रस्ट्रेशन) ऐसे कवितान्त पदों से कि :

उत्तर में किन्तु बस सिर पर यह आसमान
मटमैला रेतीला,
और यह दरवाजे फटफटाती आँधी,
झलकता है ।

परन्तु सभी कविताएँ ऐसी नहीं हैं। 'मुक्तिमार्ग के हम सहयात्री, हम सहयोगी !'; 'कुछ दिनों से भर रही है हृदय में अति तीव्र अकुलाहट'; 'खोल सीना बाँधकर मुट्ठी कड़ी'; 'प्यार से सींचूं तुझे ओ बीज मेरे !'; 'खोदो, खोदो, खोद—'; 'घोंट दूँ गला'; 'झंझावात आता है'; 'गमन के क्षण'; 'सो रहा है पूर्व गहरी नींद में पीकर उदासी' जैसी लम्बी, मुक्त-छंद में लिखी कविताओं में पर्याप्त और प्रखर प्रगतिशील स्वर है। कवि की यह प्रगतिशीलता जैसे अक्सर आज के कई कवि केवल समाचार-पत्रों की सनसनाती खबरों से प्रभावित होकर जल्दी से नारावादी रचनाएँ गढ़ डालते हैं; वैसी क्षणजीवी और क्षिप्र-प्रेरणाजन्य नहीं। वह जन-जन की आशा-आकाँक्षाओं की सच्ची, गहरी, ठोस और व्यापक

अनुभूति की नींव पर बनायी जानेवाली 'नये सम्बोध' की इमारत का नक्शा देती हैं। यह स्तालिन की वह उक्ति सार्थक करती है कि—'कवि जनता की आत्मा के इंजीनियर होते हैं।' गतयुद्ध के साम्राज्यवादी अथवा जन-युद्धात्मक स्वरूपों पर बहस-मुबाहसा करने से सिर्फ तर्क की गर्मी बढ़ सकती है, परन्तु भारतभूषणजी की यह पंक्तियाँ पढ़ कर, जो कि सीधी मन में गहरी बैठ जायँगी—जनक्रांति की एक विलक्षण सुखद और आशा-भरी ऊष्मा की प्रतीति होती है :

मुक्ति के इस मार्ग में हम-तुम अकेले ही नहीं हैं,
हैं हमारे साथ लाखों, करोड़ों, अरबों, असंख्य
स्वदेश और विदेश के भाई
कि जिनके तेज कदमों की सबल आहट निरन्तर
गूँजती है बन प्रबल आह्वान
आज चारों ओर—
गगनभेदी घोष से, लो, डोलता है लोक-पारावार
पूर्व से पश्चिम तलक बस आज देती है
सुनायी एक ही आवाज
जिससे काँपता है जीर्ण भूमि-प्रदेश, नभ का गात,
छल का राज-सिंहासन
'मुक्त हैं, हम मुक्त हैं, हैं मुक्त सारे विश्व के
जन-गण'—
फ्रांस के तट से उठी यह मुक्त-कंठों की अमर-
ध्वनि आज देती है सुनायी
पीत-सागर की तरंगों में,
सीन, राइन, ऐल्ब, पो, डैन्यूब, वोल्गा पार
करती उमड़ती है
सिन्धु-सीक्यांं की विफलता में—
वह विफलता जो बनी इन दग्ध घड़ियों में
हमारे लोक-जीवन की
अमूल्या व्योम-व्यापी क्रांति-वाणी!

भारतभूषण अग्रवाल की कविता के दो गुण मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ जान पड़ते हैं : एक उनकी व्यंजना की सरलता या प्रसाद-गुण; और दूसरा उसके पीछे की

सहजता या प्रामाणिकता। यद्यपि यह कहा जायगा कि आज जब साहित्य को शस्त्र की भाँति प्रयुक्त किया जा रहा है, 'सादगी' या 'रवानी' या इस तरह की भावनाओं की ईमानदारी अपने आप में कोई गुण नहीं—उन सबका परिणाम या प्रभावोत्पादकता प्रधान है; फिर भी मेरा अभी विश्वास है कि इन दोनों बातों में कार्य-कारण सम्बन्ध है, एक के बिना दूसरी बात संभव नहीं। अप्रामाणिक प्रचार अधिक खतरनाक होता है बनिस्बत अप्रभावोत्पादक प्रामाणिकता के! कवि की वाणी से स्पष्ट होता है कि उसने टेक्नीक के प्रयोग टेक्नीक के प्रयोगों के लिए नहीं किये हैं; वरन् वह राह खोज रहा है—उसे द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का पथ स्पष्टतः दिखायी दे रहा है; वह उससे बल और संबल प्राप्त कर रहा है। इसी कारण मुक्ति का यह मार्ग प्रशस्त और विस्तृत और ऐतिहासिक अनाद्यन्तता तथा अनिवार्यता लिये हुए है।

बँगला भाषा ही के साहित्य में नहीं, सारी भारतीय भाषाओं के साहित्यों में, चाहे आप हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया जैसी उत्तर की इण्डो-यूरोपीय भाषाओं को लीजिए, या दक्षिण की तेलगू, कन्नड़ जैसी द्राविड़ भाषाओं को। मैं यहाँ सबसे अधिक बोली जाने वाली, तथा बारह सदियों से सुन्दर समृद्ध साहित्य रखनेवाली हिन्दी भाषा का उदाहरण देता हूँ। बीसवीं सदी के द्वितीय दशाब्द में पहुँचने पर उसके पथ में कई समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, ऐसी समस्याएँ, जिनको दूर किये बिना वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती थी। ये समस्याएँ थीं शब्दों के चुनने-सजाने के सम्बन्ध में, छन्द और अलंकारों के रुढ़िबद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में, विश्व-साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में। हिन्दी की इस समस्या का हल किया 'निराला' और उनके साथी कवियों 'प्रसाद' और 'पन्त' ने। इस कार्य में पथप्रदर्शन किया रवीन्द्र की कविता ने। हाँ, पथप्रदर्शन का अर्थ अनुकरण नहीं समझना चाहिए। अनुकरण के बल पर उच्च-साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हमारे नवयुग-प्रवर्तक कवि हिन्दी कविता में कुछ त्रुटियों का अनुभव कर रहे थे, उन्हें पहचानने में रवीन्द्र की कविता ने सहायता की। फिर इन्होंने भी उन्हें दूर करने का सफल प्रयत्न किया। यही बात दूसरी भारतीय साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध में है।

रवीन्द्र ने सारे आधुनिक भारतीय काव्य-साहित्य को एक नई दिशा दी जिसमें यद्यपि प्राचीन को तिरस्कार की वस्तु नहीं समझा गया तथापि सदियों की संकीर्णता और दुरभिमान के लिए वहाँ कोई स्थान न था; प्रगति और विश्व-प्रेम इस नवीन कवितायुग का प्राण हैं।"

रवीन्द्रनाथ का यह प्रभाव भारतीय साहित्य के हर पहलू में लक्षित है। वे एक महान् शांति-प्रेमी मानवतावादी लेखक थे। परन्तु उनका मानवतावाद केवल मधुर आशीर्वादों तक ही सीमित नहीं था। उनके मानवतावादी सिद्धान्तों का विकास भी हुआ। मानवतावाद के कारण ही वे विश्व के महत्त्वपूर्ण शान्ति-कामी थे। उनकी शान्ति की कामना सिर्फ शान्ति चाहने तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने दृढ़ कंठ से युद्ध का विरोध भी किया।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही, जब कि पाश्चात्य साम्राज्य-लोभी जातियों में युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, तभी रवीन्द्रनाथ ने उस युद्ध का आभास पाकर, १९०१ ई० में ही अपने "नैवेद्य" नामक काव्य-ग्रन्थ में कहा था :

दयाहीन सभ्यता-नागिनी ने
गुप्त विषदन्त में तीव्र विष भर कर,
अपने कुटिल फण को एकाएक उठा लिया है।
स्वार्थों का संघात शुरू हो गया है।
लोभियों में संग्राम छिड़ गया है।
प्रलय मंथन से क्षुब्ध होकर—
भद्रवेशी बर्बरता कीचड़ में से निकल रही है।

इसके बाद जब पाश्चात्य राष्ट्र द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारी कर रहे थे; और जब युद्ध के कारण पहले की अपेक्षा और भी स्पष्ट हो गये थे, उस समय भी मानवतावादी रवीन्द्रनाथ ने युद्ध का विरोध किया। जापानी कवि नागूची के अन्धराष्ट्रवाद से अभिभूत युद्धोन्माद का उन्होंने जिस ऊर्ध्व-कंठ से विरोध किया, वह इतिहास की एक अपूर्व निधि है। युद्धोन्मत्त मुसोलिनी से मिलने से भी उन्होंने इन्कार कर दिया था। उनकी कविताओं में उनका यह स्वर-गान बनकर निकला। १६३८ में "प्रायश्चित" नामक एक कविता उन्होंने लिखी, जो उनके "नवजातक" संग्रह में सुरक्षित है। उस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

शक्ति के भोज में जिन लोगों ने बलिदान किया था,
उन दुर्बलों के दलित और चुसे-पिसे प्राणों को लेकर
नर-मांस-भोजी आपस में छीना-झपटी कर
दुर्बलों की अंतड़ियों को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं।
तीखे दाँतों द्वारा सर्वत्र नोच-खसोट व्याप्त हो गया है।
खूनी कीचड़ से पृथ्वी लिप गई है! ....
पर इस विनाश के प्रचंड महावेग से ही
एक दिन अन्त में विपुल वीर्यमयी
शांति का निर्माण होगा।

इस शान्ति प्रेम का एक और उदाहरण है रोलाँ के पत्र। फ्राँस के विश्व-विख्यात साहित्य कलाकार और मनीषी स्वर्गीय रोम्याँ रोलाँ को भारत से बहुत प्रेम था। वह रवीन्द्रनाथ और गांधी दोनों के बहुत बड़े प्रशंसक थे। पर स्वयं भी कलाकार होने के नाते रवीन्द्रनाथ की ओर उनका झुकाव स्वभावतः अधिक था। प्रथम महायुद्ध में ही वह युद्ध-प्रेमी राष्ट्रों के खिलाफ पूरी ताकत से आवाज़ उठाते रहे और स्वयं अपने देशवासियों की संकीर्ण मनोवृत्ति का विरोध करने से

न चूके। रवीन्द्रनाथ की कला से मुग्ध होकर और उनके विचारों से अपने विचारों का साम्य पाकर उन्होंने उनके साथ कई वर्षों तक पत्र-व्यवहार किया था। उनके एक पत्र का अनुवाद देखिये :

विपीनव
स्विट्ज़रलैण्ड
१० अप्रैल, १६१६

प्रिय बंधु !

कुछ मुक्त आत्माओं ने, जो आज के युग में बुद्धि के विश्व-व्यापी दमन और दासत्व के विरुद्ध संयुक्त रूप से खड़े होने की आवश्यकता महसूस करते हैं, आत्मा की स्वतंत्रता की घोषणा की योजना तैयार की है। उसकी एक नकल मैं आपके पास भेज रहा हूँ। क्या आप इस घोषणा पर हस्ताक्षर करके हम लोगों का साथ देकर हमें कृतार्थ करेंगे ! मेरी यह निश्चित धारणा है कि हमारे विचार आपके विचारों से मेल खाते हैं। हमें इन मनीषियों की स्वीकृति इस संबंध में मिल चुकी है : आँरी बारबुस, पाल सिन्याक, डा० फ्रेडेरिक फान एडेन, प्रोफेसर गियोर्ग निकोलाइ, हेनरी फान डे फेल्डे, स्टेफान त्स्वाइग। इसके अलावा हमें बर्टेण्ड रसेल, सेलमा लागरलाफ, अप्टन सिंक्लेयर, बेनेदेतो क्रोचे आदि अन्य महापुरुषों की स्वीकृति मिलने की भी आशा है। हमारा विचार है कि प्रारम्भ में प्रत्येक देश से तीन या चार विशिष्ट व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किये जाँय, जिनमें एक साहित्यकार, एक तत्त्ववेत्ता और एक कलाकार हो। उसके बाद हम घोषणा को प्रकाशित करेंगे, जिसमें विशेष रूप से सभी देशों के चुने हुए मनीषियों से अपील की जायगी। यदि आप भारत, जापान और चीन के कुछ उपयुक्त व्यक्तियों के नाम हमें सुझा सकें तो मैं बहुत अनुगृहीत हूँगा। मेरी आकांक्षा है कि अब से एशिया की बौद्धिक प्रतिभा यूरोपीय सांस्कृतिक विचारधारा के प्रचार और प्रदर्शन के कार्यों में अपना अधिकाधिक योग देती रहे। मेरा यह स्वप्न है कि एक दिन इन दो भूभागों की आत्माएँ एक रूप में मिल जाँयगी। इस ओर आपके प्रयत्न सबसे अधिक सराहनीय रहे हैं। अन्त में मैं आपको यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि आपकी कला और ज्ञान के प्रति हम लोग अत्यन्त श्रद्धालु हैं। मेरा अंतरतम सौहार्द स्वीकार करें।

रोम्याँ रोलाँ

पश्चिम के प्रति रवीन्द्रनाथ सब कुछ पश्चिमीय ग्राह्य है, ऐसा दृष्टिकोण नहीं

रहते थे। उदाहरणार्थ, सन् १९३० में श्री एच. जी. वेल्स के साथ रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की बातचीत का यह अंश देखिये :

वेल्स : पश्चिम के प्राधान्य की कहानी किसी भी रूप में अधिक पुरानी नहीं है। लेपान्टो की लड़ाई के पहले पश्चिम में तुर्कों का ही बोलबाला था। कोलम्बस की इतनी लम्बी यात्रा सिर्फ तुर्कों से बचने के लिए ही हुई थी। एलिजाबेथ के जमाने के लेखक और उनके परवर्ती लेखक पूर्व का ऐश्वर्य तथा भौतिक सम्पदा का ऊँचा आदर्श देख कर चकित थे। पश्चिम की शान अभी कल की चीज है।

रवीन्द्रनाथ : उन्नीसवीं सदी के भौतिक विज्ञान ने ही कदाचित् पश्चिम में अधिकतर श्रेष्ठता की यह भावना जगाई थी। जब पूरब के देश भी विज्ञान की इस उन्नति को हजम कर लेंगे तो बाजी लौटेगी और संतुलन ठीक हो जा सकेगा।

वेल्स : आधुनिक विज्ञान वस्तुतः यूरोपियन नहीं है। कुछ आकस्मिक संयोगों से तथा विशेष परिस्थितियों से पूर्व के देशों को उन नई खोजों का प्रयोग करने से वंचित रहना पड़ा, जिन्हें हर मुल्क के मानवता-प्रेमियों ने प्राप्त किया था। एक जमाना था जब इन पूर्वी देशों ने भी अनेक ज्ञान-विज्ञानों की उद्भावना की थी—उन्हें परिणति दी थी; पीछे पश्चिम ने उन्हीं को लेकर अधिक पूर्णता प्राप्त की और लाभ लिया। आज जापानी, चीनी तथा भारतवासी वैज्ञानिकों के नाम वैज्ञानिक क्षेत्र में क्रमशः अधिकाधिक स्वागत लाभ कर रहे हैं।

रवीन्द्रनाथ : भारतवर्ष बड़ी प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ा है।

वेल्स : जब अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर घटिया साहित्य और शिक्षापद्धति का जंजाल लादा तो भारतवासियों ने स्वभावतया उसका विरोध किया। कोई इन्सान स्कर्ट के काज पर ही जिन्दा नहीं रह सकता। आशा करता हूँ कि यह हालत अब बदल रही है। लेकिन इतना विश्वास आपको दिला दूँ कि हम अंग्रेज भी कुछ ज्यादा बेहतर अवस्था में नहीं थे। औसत हिन्दुस्तानी से हमारी शिक्षा कम खराब नहीं थी—शायद और भी खराब थी।

रवीन्द्रनाथ : हमारी कठिनाई यह है कि पश्चिम की महान् सभ्यता के साथ हमारा संबन्ध सहज-स्वाभाविक नहीं है। जापान ने पश्चिमी संस्कृति की आत्मा को कहीं अधिक आत्मसात् किया क्योंकि उसे अपने प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करने न-करने की स्वाधीनता थी।

वेल्स : बड़े अफसोस की बात होगी अगर पारस्परिक परिचय के इतने सुन्दर सुयोग इसी तरह व्यर्थ चले जायेंगे।

रवीन्द्रनाथ : और जिसपर हमारी शिक्षा के नाना प्रवाह आज सूखी नदियों के समान रसहीन हो चुके हैं, क्योंकि उनमें जिन साधनों से भाग बहता था वे भी उन्हें आज अन्य दिशाओं की ओर बहा दिया जाता है।

वेल्स : मैं भी पराधीन जाति का ही एक सदस्य हूँ। मुझ पर भी तरह-तरह के टैक्स लगे हुए हैं। मुझे भी बराबर चेक भेजने होते हैं : सब फौजी उद्देश्यों के लिए, यह सरकार के परराष्ट्र विभाग के लिए! सो ऐसा समझिये कि हम भी उन्हीं दोषों के शिकार हैं। भारत में सरकारी अफसरों की परम्परा इंग्लैंड यहाँ से कहीं अधिक अस्वाभाविक है और कहीं अधिक समय से चली आ रही है। अंग्रेजों के पूर्ववर्ती मुगल सम्राट् भी शायद इतने ही स्वेच्छाचारी रहे होंगे।

रवीन्द्रनाथ : और फिर भी दोनों में सुस्पष्ट फर्क है। मुगल सरकार में किसी हद तक वैज्ञानिक योग्यता और सुव्यवस्था का शायद अभाव था। वे लोग चाहते थे धन; इसलिए जब तक वैभव-विलास में रहने में उन्हें बाधा नहीं पड़ती थी, वे भी गाँवों के प्रगतिशील समाज के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते थे। दरबारी शासकों के बावजूद भी जातीय जीवन की धारा सहज भाव से चली आ रही थी। मुसलमान शासकों ने कोई शर्तें नहीं घोषित कीं और न भारतीय शिक्षादाताओं या ग्रामवासियों को जबर्दस्ती अपने आदर्श पर चलाने के लिए पीड़ित किया। लेकिन आज तो देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के सभी संगठन पूर्णतया मिट गये हैं और इस क्षेत्र में हमारी अपनी चेष्टाओं को सरकारी स्वीकृति का मुहताज होना पड़ रहा है।

वेल्स : सरकारी 'स्वीकृति' का अर्थ ही होता है : सुशिक्षा को अन्तिम नमस्कार कर लेना।

रवीन्द्रनाथ : मुझसे अक्सर पूछा जाता है : तो आपकी अपनी योजनाएँ क्या हैं? मैं जवाब देता हूँ : मेरी कोई योजना नहीं। अन्य देशों के समान हमारा देश भी अपना विधान स्वयं खोज निकालेगा, प्रयोगों की स्थिति में से गुजर कर वह क्रमशः जिस स्थिति को पहुँचेगा, बहुत मुमकिन है कि हमारी योजनाओं से वह स्थिति बिल्कुल ही भिन्न हो।

* * *

बहुत लोगों का आरोप है कि रवीन्द्रनाथ केवल अतींद्रिय स्वप्नसृष्टि में ही विचरण करते थे और उनमें सामयिक प्रश्नों के प्रति कोई हल नहीं जागता था। यह बात ग़लत है। कवि-गुरु अपने तौर पर उन समस्याओं पर सोचते थे,

जैसे कि सन् १६२२ में श्री कालिदास-नाग को लिखे काव्यमय पत्र के अंश से स्पष्ट होगा कि हिंदू-मुसलमान के विषय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर क्या सोचते थे :

"घनघोर बादल उमड़ आए हैं। इसी से मेरा मन आज मानव-इतिहास की शताब्दियों द्वारा निर्दिष्ट घेरे को तोड़कर बाहर भाग गया है। आज मेरी प्रत्येक शिरा में आकाश की रंगभूमि पर अभिनीत आँधी-पानी की उन्मत्तता का युग-युगान्तरवाहित स्मृतिस्पन्दन मेघमल्लार की मन्द्र मीड़ पर खींच रहा है। मेरी कर्तव्य-बुद्धि मानो-कहीं बह गई है; इस समय मैं सामने के पंक्तिबद्ध शाल-ताल, महुआ और कटहलों वृक्षों के दल में जा मिला हूँ। प्राणों के राज्य में उनका अपना दिव्य बुनियादी हिस्सा है। वे लोग न जाने किस आदिकाल की धूपछाया और पानी-बादल का उत्तराधिकार-सूत्र से भरपूर उपभोग किये जा रहे हैं। मनुष्य की तरह वे लोग आधुनिक नहीं हैं, इसीलिए चिरनवीन हैं। मानवजाति में केवल कवि लोग ही कल्पना के अवलम्बन के प्रभाव से आदिकाल के उत्तराधिकार को बिल्कुल बेबाक उड़ा नहीं बैठे हैं। इसीलिए तरु और लताओं का आभिजात्य कवियों को केवलमात्र 'मनुष्य' कहकर उनकी अवहेलना नहीं करता। यही कारण है कि हर साल जब बरसात आती है तो मुझे इस तरह चंचल कर देती है, सब तरह की जिम्मेदारियों के बन्धनों के प्रति उदासीन बनाकर प्राणों के आमोदमन्दिर में बुलाया करती है। हमारे मर्म में जिस शिशु का निवास है—जो हमारा सबसे प्राचीन पूर्वज है—वही हमारी कर्मशाला पर कब्जा कर बैठता है। इसीसे बारिश शुरू होते ही मैंने हवा-पानी और झाड़-पेड़ के साथ होड़ लगाई है, कामकाज को ताला-पन्ताक रखकर गीत बनाना शुरू कर दिया है। सो इस तरह आदमियों में मैं सबसे कम आदमी रह गया हूँ; मेरा मन घास की तरह हिल रहा है—पत्तों की तरह झिलमिला रहा है। कालिदास ने शायद इसी प्रसंग में कहा था : 'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः'। अन्यथावृत्ति का अर्थ है मानववृत्ति के दायरे के बाहर की वृत्ति।

जिस समय वातायन पर बैठकर मैंने गीत शुरू किया :

आज नवीन मेघेर सुर लेगेछे
आमार मने;
आमार भावना यत उतल होलो
अकारणे।

अर्थात्, आज मेरे मन को नवीन मेघ का सुर छू गया है; आज मेरी सारी चिंता अकारण चंचल हो उठी है

—ठीक उसी समय सागर-पार से प्रश्न आया : भारतवर्ष की हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान क्या है ? सहसा स्मरण हुआ कि मानव-संसार में मेरा भी कुछ काम है—केवल मेघमल्लार के सुर में मेघ के आह्वान का प्रत्युत्तर देने से काम नहीं चलेगा, मानव-इतिहास में जो मेघमन्द्र प्रश्नावली गर्जित है, उसका भी जवाब सोचना होगा। अस्तु : अम्बुवाची की मजलिस छोड़कर बाहर निकल आना पड़ा।

एक समय भारतवर्ष में ग्रीक, पारसीक, शक इत्यादि नाना जातियों का अबाध समागम और सम्मिलन हुआ था। किन्तु याद रखना, यह बात 'हिन्दू'-युग से पहले की है। जिसे हम 'हिन्दू'-युग कहते हैं, वह है प्रतिक्रिया का युग। इस युग में बड़ी सचेष्टता के साथ ब्राह्मण्य-धर्म की इमारत दृढ़तापूर्वक चुनी गई थी। दुर्लंघ्य आचार की चहारदीवारी खड़ी करके उसे दुष्प्रवेश्य बना डाला गया था। यह बात उस समय भुला दी गई थी कि किसी प्राणवान् वस्तु के अंग-प्रत्यंग को कसकर जकड़ देना उसकी हिफ़ाज़त करना नहीं—वह है उसे मार डालना। खैर, मुद्दे की बात यह है कि किसी विशेष समय में, बुद्धपरवर्ती युग में, राजपूत इत्यादि विदेशी जातियों को अपने दल में खींचकर, विशेष अध्यवसाय के द्वारा—अपने को परकीय संस्रव और प्रभाव से सम्पूर्णतया सुरक्षित बनाये रखने के लिए ही—भारतवासियों ने हिन्दूधर्म को एक प्रकार के विशाल परिवेष्टन का रूप दे डाला था ; उसकी प्रकृति में ही निषेध और प्रत्याख्यान प्रधान है। मिलन के हर क्षेत्र में इस तरह सुनिपुण चतुराई द्वारा रची हुई बाधा का उदाहरण जगत् में शायद मिल सके। यह बाधा सिर्फ हिन्दू-मुसलमानों के बीच ही हो, सो नहीं। हमारी-तुम्हारी तरह आचार की स्वाधीनता के रक्षक और हामी व्यक्ति भी, सच पूछो, तो पृथक् हैं—बाधाग्रस्त हैं। यह तो हुई समस्या, मगर इसका समाधान कहाँ से आएगा ? मन के परिवर्तन से—युग के परिवर्तन से। जिस तरह यूरोप सत्य की साधना और ज्ञान की व्याप्ति के द्वारा मध्ययुग के भीतर से गुज़रकर आधुनिक युग तक आ पहुँचा है, उसी तरह हिन्दुओं-मुसलमानों को भी अपने-अपने संकीर्ण दायरों से निकलकर बाहर की ओर यात्रा करनी होगी। धर्म को क़ब्र की तरह चुनकर, समूची जाति को हमेशा के लिए भूतकाल के भीतर दफ़ना देने से उन्नति के पथ पर चलना असंभव हो जायगा; उस रास्ते कभी कोई किसी के साथ मिल नहीं सकेगा। हमारी मानसिक प्रकृति के भीतर जो अवरोध क्रमशः दृढ़ हो गया है, उसे संपूर्णतया बिना मिटाए हम किसी प्रकार की कोई स्वाधीनता उपलब्ध न कर सकेंगे। शिक्षा के द्वारा—साधना के द्वारा—हमें यही बुनियादी परिवर्तन घटित करना

होगा ; पुराने की रक्षा किया बड़ा है—इस संसार को हमें उलट ही देना होगा। तभी हमारा कल्याण संभव है। हिन्दू-मुस्लिम-मिलन युगपरिवर्तन की बाट देख रहा है। मगर इस बात का भय करने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि अन्य देशों में मनुष्य ने साधना के द्वारा युगपरिवर्तन अनूठी घटित किया है—अंधेरे रात्रि की अवस्था से पार करके उगने की अवस्था को चरितार्थ किया है। हम लोग भी अपने मानसिक अवरोध को काटकर बाहर निकल आयेंगे। अगर नहीं आये तो 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।"

रामानन्द चटर्जी ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था :

"केवल नीतिकार के नाते उन्होंने स्वदेशी-आन्दोलन में भाग नहीं लिया। उनके सामाजिक-राजनीतिक भाषण और जो वार्षिक मेले उन्होंने मनाये, वे सब इसी राष्ट्र-सेवा के अंग हैं। उन्होंने देश के दस्तकारों के पुनरुज्जीवन में बड़ा भाग लिया, शिक्षा को भारतीय और मानवतावादी बनाने में अपना पूरा योग दिया। ग्रामोद्धार और ग्राम-संजीवन के उनके कार्यों की स्तुति तो सरकारी रिपोर्टों तक में है।

"उनकी रचनात्मक असहयोग अथवा रचनात्मक आत्म-निर्भरता की योजना तथा ग्राम पुनरुद्धार की योजना तीस वर्ष पूर्व की उनकी कृतियों और भाषणों में व्यक्त हुई है। २२ जुलाई १९०४ को स्वदेशी समाज में उनके दिये हुए भाषण में यह है। उसी प्रकार ने पबना में १९०८ में बंगीय प्रान्तीय सम्मेलन में उनके सभापति पद से दिये गये भाषण में यह व्यक्त है। लगान न चुकाने के आन्दोलन का समर्थन 'प्रायश्चित्त' और 'परित्राण' नाम के नाटकों में मिलता है। उन नाटकों का नायक धनंजय बैरागी सहर्ष कारावास का कष्ट झेलता है। यह दोनों नाटक उनकी एक पूर्व-कृति 'बऊ-ठाकुरानीर हाट' (प्रकाशन, १८८४) के नाट्य-रूपांतर हैं। इनमें से प्रथम 'प्रायश्चित्त' मई १९०९ में प्रकाशित हुआ। उसमें के संवाद और गीतों के (रामानन्दजी के किये हुए) अंग्रेजी अनुवाद उदाहरण के तौर पर नीचे दे रहा हूँ।

पहले उदाहरण में धनंजय बैरागी और माधवपुर के कुछ किसान राजा के पास जाने से हिचकिचाते हैं। यहाँ सामंतवाद से रवीन्द्र की मानसिक-मुक्ति का उत्तम उदाहरण है :

(Dhananjaya Bairagi, a Sannyasi, and a number of the villagers of Madhabpur, going to the King.)

Third villager.—What shall we say, Father, to the King?

Dhananjaya.—We shall say, we won't pay tax.

Third villager.—If he asks, why won't you ?

Dhananjaya.—We will say, if we pay you money starving our children and making them cry, our Lord will feel pain. The food which sustains life is the sacred offering dedicated to the Lord; for he is the Lord of life. When more than that food—a surplus, remains in our houses, we pay that to you (the King) as tax, but we can't pay you tax deceiving and depriving the Lord.

Fourth villager.—Father, the King will not listen.

Dhananjaya.—Still, he must be made to hear. Is he so unfortunate because he has become King that the Lord will not allow him to hear the truth ? We will force him to hear.

Fifth villager.—Worshipful Father, he (the King) will win, for he has more power than we.

Dhananjaya.—Away with you, you monkeys ! Is this a sample of your intelligence ? Do you think the defeated have no power ? Their power stretches up to heaven, do you know ?

Sixth villager.—But, Father, we were far from the King, we could have saved ourselves by concealment,—we shall now be at the very door of the King. There will be no way of escape left if there be trouble.

Dhananjaya.—Look here, Panchkari, leaving things unsettled in this way by shelving them, never bears good fruit. Let whatever may happen happen, otherwise the finale is never reached. There is peace when the extremity is reached.

और एक उदाहरण धनंजय संन्यासी और राजा प्रतापादित्य के संवाद से लीजिये, जिसमें कर न चुकने की बात है :

Pratapaditya.—Look here, *Bairagi*, you can't deceive me by this sort of (feigned) madness of yours. Let us come to business. The people of Madhabpur have not paid their taxes for two years. Say, will you pay ?

Dhananjaya.—No, Maharaj, we will not.

Pratapaditya.—Will not ? Such insolence !

Dhananjaya.—We can't pay you what is not yours.

Pratapaditya.—Not mine!

Dhananjaya.—The food that appeases our hunger is not yours. This food is His Who has given us life, how can we give it to you?

Pratapaditya.—So it is you who have told my subjects not to pay taxes?

Dhananjaya.—Yes, Maharaj, it is I who have done it. They are fools, they have no sense. They want to part with all they have for fear of the tax-gatherer. It is I who tell them, "Stop, stop, don't you do such a thing. Give up your life only to Him Who has given you life."

इन उदाहरणों से रवीन्द्रनाथ की कृषकों के प्रति सहानुभूति व्यक्त होती है। उनके स्वदेश-प्रेम के अन्य कई उदाहरण उनके उपन्यासों में बिखरे पड़े हैं। काज़ी नज़रुल इस्लाम को रवीन्द्रनाथ ने ही विप्लवी-कवि की उपाधि दी थी।

इसी प्रकार से उनकी राष्ट्रीय भावना का सबसे बड़ा उदाहरण उनकी भारत-तीर्थ नाम की प्रसिद्ध कविता है, जिसके कुछ अंश और अनुवाद उद्धृत करने का मोह मैं संवरण नहीं कर सकता :

हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे,
एइ भारतेर महा-मानवेर सागर तीरे ।
हेथाय दाँड़ाये दु-बाहु बाड़ाये नमि नर-देवतारे,
उदार छन्दे परमानन्दे वन्दन करि तांरे ।
ध्यान-गम्भीर एइ ये भूधर, नदी जपमाला-धृत प्रान्तर,
हेथाय नित्य हेरो पवित्र धरित्रीरे ।
एइ भारतेर महा-मानवेर सागर-तीरे ॥
एसो हे आर्य, एसो अनार्य, हिन्दु मुसलमान,
एसो एसो आज तुमि इंराज, एसो एसो ख्रीष्टान ।
एसो ब्राह्मण, शुचि करि, मन धरो हात सबाकार,
एसो हे पतित, होक अपनीत सब अपमानभार ।
मार अभिषेके एसो एसो त्वरा मंगलघट हयनि ये भरा,
सबार परशे पवित्र-करा तीर्थनीरे ।
आजि भारतेर महा-मानवेर सागर-तीरे ॥

अर्थ : हे मेरे चित्त, जागो! इस पुण्य तीर्थ में—इस भारतवर्ष के महामानव-समुद्र के तट पर—धीरे भाव से जागो। यहाँ खड़े होकर हम दोनों हाथ फैलाकर

मनुष्य रूपी देवता की वंदना करते हैं, उदार छंदों से, परम-आनन्द सहित हम अपनी प्रणति उनको निवेदन करते हैं। यह जो ध्यान-गम्भीर पर्वत है, नदी की जपमाला धारण करनेवाला विशाल मैदान है—यहाँ, इस भारतवर्ष के महा-मानव-समुद्र के तट पर—तुम नित्य पवित्र धरती को देखते रहो।

हे आर्य आओ, हे अनार्य आओ, हे हिन्दू और मुसलमान, आओ। अजी अंग्रेज, आज तुम भी आओ, हे ख्रीष्ट धर्म के मानने वाले, आओ! हे ब्राह्मण अपना मन पवित्र करके आओ और सबका हाथ पकड़ो। अजी ओ पतित कहे जाने वाले दलित, तुम भी आओ, आज तुम्हारा समस्त अपमान दूर होवे। आज माता का अभिषेक है, आओ, जल्दी करो, अभी भी सबके स्पर्श से पवित्र किये हुए तीर्थ-वारि से मंगल-घट नहीं भरा जा सका है—इस भारतवर्ष के महामानव-समुद्र के तट पर।

तांबे
चन्द्रशेखर
बी
माधव ज्यूलियन्
यशवंत

: २० :

मराठी के पाँच कवि

दोआबे के उर्वर प्रान्त को महाराष्ट्र की रूक्ष कष्टप्रियता की कल्पना कदाचित् ही होगी। जीवन की, कटु-कठोर जीवन-कलह की प्रत्यक्ष चेतना जैसे महाराष्ट्र-भाषा और मराठी-साहित्य में सदैव एक विधायक शक्ति के रूपमें जागरित रही है, हिन्दी के साहित्य को भौगोलिक पारतंत्र्य की चेतना के साथ सर्वव्यापी जीवन की दुरवस्था का भान उतने ज़ोरों से नहीं हो पाया। इसका कारण शायद यह भी हो कि महाराष्ट्र सत्ताधारी शासक रह चुका था ; पर हिन्दीभाषी स्वयम् शासन-सूत्रधार कभी न बन कर इस्लामी राज्यकाल के शासित रहे। इस्लामी प्रभाव के कारण हो या और किन्हीं कारणों से हिन्दी-साहित्य और हिंदी-कविता क्रमशः जनता-जीवन से विमुख, सम्बन्ध-रहित बनते चली; सामन्त-संस्कृति की विलास-प्रियता और इस्लामी काव्य की कल्पनाजीवी रीतिप्रधानता हिन्दी में अनजाने घर कर गई; पर इन सब प्रभावों के विरोध में आंदोलन-सा लेकर चल पड़ा हुआ महाराष्ट्र सजीव, आघात-उद्यत, वास्तव-संलग्न और जीवन की अपेक्षाओं का हमेशा ही ध्यान रखनेवाला रहा। मनोभूमि के इसी भेद से मराठी और हिन्दी की कविता का आन्तरिक अन्तर पहचाना जा सकता है।

विकास-क्रम की दृष्टि से जहाँ हिन्दी की 'कविताई' वाह्यालम्बी, वासना-वाहिनी, मात्र काया की कविता हो गई थी, उसने बीसवीं सदी के मुख दर्शन ही से रीति-प्रणाली से जबर्दस्त पलटा खाया और आज लोग बड़ी आसानी से कविता में भी नई पुरानी का फर्क देखने, जानने लगे। हिन्दी की नई कविता, रीति-कविता के

रियलिज़्म से ऊबकर मानो प्रतिक्रिया रूप में रोमांटिक (कल्पनाश्रित) होते चली है। इसके बिल्कुल उल्टे पेशवाओं के उन्नति-काल से अवनति-काल तक जो लावनियाँ रची, गाई गई थीं, वे अखिल जनता के कुछ सदभिरुचि-सम्पन्न जीवों को छोड़ सभी की लोक-प्रिय वस्तु, अति उद्दाम-प्रणय के श्लीलता-शून्य गान जो रुके तो मराठी में हिन्दी जैसी अतीन्द्रिय अनुभूति, अरूप और असीम का ऐसा जादू न चल सका। कारण भी था, महाराष्ट्र अपने बुद्धि-प्रधान व्यक्तित्व को सदैव बंगाल की भाव-प्रधानता से अलग और निराला रखते आया है, क्या चित्र-कला के क्षेत्र में और क्या साहित्य के भी; पर हिंदी-भाषी प्रान्तों को रविबाबू तो बहुत निकट के वरद महर्षि मानो। और कलकत्ता जब तक राजधानी रही, तब तक बंगालियों ने हिन्दीवालों से कुछ न सीखा हो तो भी हिन्दी के साहित्य का मस्तिष्क अनूदित और अप्रत्यक्ष छायाओं से जैसे रुग्ण हो गया। हिन्दी की आज की कविता ने बोलपुर से बही बहन-बँगला को ऐसी ही अप्रत्यक्ष 'मलय-बयार' माना। हम यह नहीं कहते कि यह प्रभाव इष्ट है या अनिष्ट, हम तो केवल प्रभाव के अस्तित्व की चेतना मात्र देना चाहते हैं। हाँ, तो मराठी में यह रहस्यवाद का अलौलिक प्यार न जग सका; काव्य जड़-जीवन से आबद्ध भौतिक मात्र रहा। ब्रजभाषा और खड़ीबोली जैसा कोई फर्क मराठी में न होने पर भी पुरानी और नई पद्य-रचना-पद्धति में अवश्य बड़ा भेद है। हिन्दी कविता ब्रज के बिन्दु से शुरू होकर आज अखिल भारतीय-राष्ट्र की माँग का बोझ सँभालने वाली सागरिका बनने चली है; वैसा सौभाग्य या दायित्व मराठी पर कभी न होने पर भी वह अपने प्रान्त की माँग पूरी करने को सदा कटिबद्ध रही है। हिन्दी पर जिस प्रकार से बँगला का, वैसे ही मराठी पर अँग्रेजी कविता का न्यूनाधिक बिम्ब पड़ा है। हिन्दी कविता के इतिहास-ज्ञाता जानते होंगे कि महावीरप्रसाद द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मक कविता के द्विवेदीजी आचार्य थे। ध्यान में रहे, यह दुर्गुण उनके संस्कृत और मराठी के अध्ययन का सीधा परिणाम था। मराठी में यथासम्भव तत्सम शब्द प्रयोग की रुचिरीति रही है, उसकी भाषा और उसके काव्य-विषय अति प्रान्ताभिमानी रहे हैं। जो हो, इन सबका विवेचन एक साथ और साधारण रूप से न करके, आज की मराठी कविता के पाँच सर्वमान्य जीवित कवि चुनकर उन पर एक-एक कर विवेचना करना युक्त होगा। वे ये कवि हैं:

(१) तांबे (२) चन्द्रशेखर (३) बी (४) माधव ज्यूलियन् (५) यशवन्त।

श्री भास्कर रामचन्द्र ताम्बे, ग्वालियर के निवासी, (अब) करीब-करीब वृद्ध, जिनकी साठ वर्ष की जन्मतिथि समारोह के साथ मराठी-साहित्य-संसार में मनाई

गई, सर्वमान्य, प्रथम श्रेणी के कवि हैं। कवि के साथ ही वे एक उत्कृष्ट संगीत-ज्ञाता भी हैं। उनकी कविता उनके जीवन के छाया-प्रकाश के अस्फुट-उत्कट रेखा-चित्र हैं। उन्होंने प्रायः गीत ही लिखे हैं, बचपन में ईश-स्तुति के; तरुणाई में मधुर प्रणय के, प्रौढ़ावस्था में रहस्यवादी भावुकता के साथ आर्त्त-जीवन की चीख के। अपने 'स्व' के विंदु में सम्पूर्ण विश्व की कसक-मुसुक के आत्म-दर्शन की क्षमता जिन थोड़े से अंगुलि पर गिने जानेवाले व्यक्तित्वों में होती है, उनमें से एक भास्करराव हैं। वे महाराष्ट्र के लिए उतने ही प्रिय हैं, जितने गुजराती वालों को नान्हाराम दलपतराम या कि बँगला को रवि ठाकुर। उन्होंने ऐसा विशेष लिखा नहीं है, अभी तक उनके गीतों के केवल दो भाग छोटे-छोटे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं; पर 'ताम्बे की कविता' का वह दूसरा भाग मराठी साहित्य का एक अमर अंश है। भाव-कोमल, गीत-मधुर, सरल-सुन्दर ऐसी उनकी गीत-निर्झरणी इतनी मन्द-मन्थर, गम्भीर-नर्त्तनशीला गति से महाराष्ट्र के पार्वत्य-प्रदेश में, प्रतिध्वनि गुञ्जाती, जीवन डालती बहती है कि रसिक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। वे प्रेम और मरण, जीवन की दो मीठी भूलों के चिरन्तन गायक हैं। उनकी कविता की बानगी के रूप एक उनकी नितांत सुन्दर रचना 'मरणांत खरोखर जग जगतें' 'हंस' में प्रकाशित हो चुकी है और यद्यपि इस छोटे लेख में विस्तार-भय से और उद्धरण नहीं दिये जा सकते, तो भी तीन-चार कविताओं की यह प्रथम-पंक्तियाँ, गीतों के ध्रुपद (Burden) दिये बिना जी नहीं मानता :

प्रीति ना वसे कधींहि उंच त्या गडावरी !
उतर-उतर ! ये प्रीति हवि तरी,
रुचति खालच्याच तिला मोकलया, निलया दरी !

अर्थात् : प्रीति न बसती कभी किले पर ऊँचे
चाहिए प्रीति हो तो आ उतरो नीचे
भा रही उसे तो खुली-खुली ये उपत्यकाएँ नीली !

संसार-सतारीवर तारा।
तूं मीहि, मदन वाजविणारा
मधुर गुलाबी राग थरथरे !
अकाल ये जणु उषा मद भरे !
वायू निज चांचल्या विसरे !
प्राणही विसरला निजकारा !

अर्थात् :
संसार-वीन के तार संग
में तुम केवल, वादक अनंग।
सिहरा मधु-आकुल राग-तीर
मदभर उषा असमय अधीर
भूला निज चंचलता समीर
भूलते प्राण बंधन असंग।

ऐसी मस्ती उनके सभी गीतों में चिर-स्पंदित रहती है और उम्र के छाया-काल तक आज आ पहुँचने पर वह अनुपम है। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी कविता का आपका अध्ययन बेजोड़ है और गद्य के रूप में एक बड़ा निबंध 'कला और नीति' और कितने ही काव्य-पुस्तिकाओं की भूमिकाएँ सरस और हृदय-हारी हुआ करती हैं। इनकी लोकप्रियता के प्रमाण तो उनके शिशु-गीत, मीठी लोरियाँ और रेकार्ड में गाये जाने वाला उनका 'डोले हे जुलमी गडे' वाला गीत पर्याप्त है। हिन्दी में तुलना करते हुए उनका सानी ऐसा एक व्यक्ति न मिलेगा, तो भी पन्त की गीति-प्रधान सुकुमार भावना में प्रसाद की भव्य-गम्भीर कल्पना का सम्मिश्रण कर ताम्बे के गीत तोले जा सकेंगे। वे मराठी के रविबाबू हैं।

दूसरे हैं चन्द्रशेखर। आप बड़ोदा के राजकवि, वृद्ध, सरल, मधुभाषी काव्याभ्यासी हैं। पुरानी परिपाटी के वृत्तों में आपने वह मधुरीला चमत्कार कर दिखाया, जो शायद कोई और कभी न दिखा सकता। ताम्बे नव्य-भावना-पोषक, कला को रूढ़ नीति के अमाननीय है कहने वाले कलाकार हैं, तो चन्द्रशेखर की कविता अपनी सीमाओं, संकोचशीला मर्यादाओं में ही अति चारु हो उठती है। वैसे तो चन्द्रशेखर ने बहुत अधिक लिखा है, बड़े-बड़े बन्द और कसीदे रचे हैं, पर उनका एक संग्रह चार-पाँच साल पहले 'चन्द्रिका' नाम से छपा है। उसमें उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ समाविष्ट हैं। चन्द्रशेखर ने 'काय हो चमत्कार' (ये क्या चमत्कार!) नामक एक छोटा-सा, बहुत ही सुन्दर, खण्ड-काव्य लिखा है, उसमें ग्रामीण पात्रों के मुँह से ग्रामीण भाषा ही बुलवाई है, जिससे उसकी मधुरता और ममतामयी हो जाती है। 'सुगी' नामक एक काव्य-संग्रह, अधुनाधुन कवियों ने रचे हुए ग्राम-गीतों—(Pastoral Lyrics) अर्थात ग्रामीण विषयों पर बड़ी आर्द्र सहृदयता से लिखे हुए गीतों का खासा अच्छा संचय है, उसमें चन्द्रशेखर ने एक और पद्य-कथा मात्र ग्राम भाषा में दी है। वह भी प्रकृति-वर्णन, सुघर रचना-शैली और मधुर शब्द-चयन के लिहाज से

अति रुचिकर है। चन्द्रशेखर की एक कविता है कवितारती, वे इस अकेली कविता को लिख कर ही साहित्य में अमरता प्राप्त कर लेते, ऐसा कतिपय आलोचकों का कहना है। उसमें कविता-देवी के प्रति कवि ने जी खोलकर स्तुति, अनुनय, उसके लिए की गई दीवानगी का बेजोड़ नक्शा खींचा है। उसमें न केवल कविता-सुन्दरी का अति सजीव मानवीकरण (Personification) ही हुआ है, वरन् वह ग्रे के 'ओड ऑन दी प्रोग्रेस आफ़ पोएसी' जैसी ही संक्षेप में काव्य-परिपाटी के इतिहास की रेखा-सी खींचने के कारण भी बहुमूल्य है। उसमें के दो छन्द :

प्रसाद घडतां तुझा, सहज नाभि-मूलांतुनी।
अनन्य लहरी उठे, तनुस टाकिते व्यापुनी॥
तिच्या प्रसरणासवें सकल देह हेलावतो।
क्षणैक चपलौघ कीं जणु' शिरांतुनी वाहतो॥
मुखामधुनि एकदा गदगदा तदा ये ध्वनी।
स्वयें उचमलोनि ये हृदय, नीर ये लोचनीं॥
न काव्य-विपयाविणा इतर भानही राहतें।
रसात्मक पदावली नग मनोहरा वाहते॥

अर्थात्—'तुम्हारा प्रसाद होते ही, सहज, नाभि-मूल में से अनन्य लहरियाँ उठती हैं। वे सारे तन को व्याप्त कर डालती हैं। उन लहरियों के प्रसरण के साथ ही सारी देह जैसे हिलोरें लेने लगता है और माथे में क्षणभर जैसे चपला चमक जाती है।

तब मुँह में से गद्गद् होकर शब्द बाहर निकल पड़ते हैं। आप-से हृदय उमड़ आता है। आँखें भर आती हैं। तब कविता के विषय के दूसरी किसी बात का भान नहीं रहता और तब मनोहर रसात्मक पदावली लगती है।

आपकी तुलना हिन्दी में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के साथ ठीक-ठी सकती है। यद्यपि 'रत्नाकर' अब जीवित नहीं हैं, तो भी उनकी की धाक मानने वाले लोग अभी बहुत हैं। उसी प्रकार चन्द्रशेख भी लोग बहुत मानते हैं। साहित्य-सम्मेलन के कविता-विभाग के वे अध्य चुके हैं। मुन्शी अजमेरी जैसे वे राजकवि होने के कारण जो भी थोड़ कविताई 'आर्डर पर सप्लाई' करना पड़ती है; तो भी उन्होंने कविता रीति भी कहा है, कि 'मैं गुलाम बना, तथा बन्धन में फँसा तो भी तुम्हारे ही खा

बी (Bee) तखल्लुस से मराठी में लिखने वाले कवि एक सच्ची प्रतिभा हैं। आजीवन उन्होंने शायद केवल तीस या चालीस से ऊपर कविताएँ नहीं लिखीं; पर कीर्ति से वे ऐसे बचते रहे और लोकादर से इस कदर घबराते रहे कि गडकरी-केशवसुत (मराठी के पुराने सर्वश्रेष्ठ स्वर्गीय कवि) के समय के ये महानुभाव ऐसे छुपे-छुपे से रह कर आखिर १६३४ में उनकी कविताओं का एक संग्रह बड़ी कठिनाई से बन कर छप पाया। संग्रह का नाम है 'फुलांची ओंजल' (फूलों की अञ्जलि)। जब उस संग्रह के लिए आपका चित्र माँगा गया, तब खानदेश के इस एकांतवासी; परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से पुरानी कविता में नवयुग के निर्माण-कर्ता कलाकार ने कविता की दो पंक्तियाँ लिख कर भेज दीं :

का आग्रह ? रसिका ! नांव सांग मज म्हणसी
नांवांत मोहिनी भासो सामान्यांसी।

ये पंक्तियाँ बी ने बीस बरस पहले जब साहित्य-संसार उनके 'वेडगाणे' (पगले का गीत) पर सचमुच पगला हो उठा था और उनका असली नाम क्या है, इसका पता लगाने के लिये कुछ पत्र छपे थे, उनके उत्तर में लिखी थीं। उनका अर्थ है—'रे रसिक, नाम कह, नाम बता, यह आग्रह क्यों कर? नाम की मोहिनी तो साधारण (सामान्य श्रेणी के लोगों से तू तो अधिक रस-ग्राही है) लोगों को भासित होती है।' बी की कविता पर उस संग्रह के प्रस्तावना लेखक ने एक वाक्य लिखा है कि 'सरस रचना-कौशल्य, रमणीय-कल्पना-विलास, असामान्य भाषा प्रभुत्व, अभिनव विचार-दिग्दर्शन आणि तेजस्वी प्रतिभाशक्ति', इन गुणों से बहुत थोड़े समय में और थोड़ा-सा लिखने पर भी साहित्य में उनको अचल स्थान मिल गया है। उनकी कविताएँ दार्शनिक स्नेह-स्पर्श लिये हुए, राष्ट्रीयता की माँग पर चिर-सजग मधुर कल्पनाओं की दीपमाला-सी, पर बरसों की उपेक्षा की तनिक भी परवा न करनेवाली, उस अपने एकान्ती निर्जन कोने में स्वयं-संतुष्ट कलाकार के साफल्य का सर्वोत्तम [illegible] हैं। उनमें चुभ जाने की विलक्षण क्षमता है, उनमें संगीत के और सर्व-सुलभ गलेबाजी से बढ़कर वह सरलाई से भरा आकर्षण है, जो [illegible] कविता में होता है। व्यक्तिशः मैं, यदि कलाकार की कृतियों को उनके जीवन के पैमाने से नापना कुछ मानी रखते हों, तो उन्हें मराठी का सर्वश्रेष्ठ कलाकार कवि मानता हूँ। मैं इस लेख में ताम्बे, बी और माधव ज्यूलियन,—इन तीन का ही जिक्र करनेवाला था; पर साहित्य-परिचय केवल [illegible] तक [illegible] नहीं रह सकता, इसी से यशवन्त और चन्द्रशेखर को भी मैं

इसी लेख में ले आया। वी जो कुछ लिखते हैं संयत, संचित और संवेदना-मय। 'कला केवल स्वयंजीवी है, न केवल स्वयंजीवी पर वह विश्व की आदि जननी है, वैसे ही कवि यह प्रकृति का दुलारा, दुनिया की नाराजी के बाद प्रकृति की शान्त गोद में मुँह छिपाये आशावादी स्वर से विश्व-जागृति के गीत गाने वाला होता है, यह उनकी कविता के सन्देश हैं। भाव-कोमल एक ऐतिहासिक प्रेम-कथा, 'कमला' नाम की, आपने अपने कवि-जीवन की शुरुआत में लिखी थी; पर अब तो उनकी वाणी अतिशय प्रौढ़, उनकी अभिव्यक्ति अतिशय मुक्त हो गई है। मराठी-कविता के इतिहास में पुरानी परिपाटी में रहकर भी नवीन रीति से रचना करने का साहस इन्होंने ही किया था। अंग्रेजी की कहावत का सहारा लेकर यों भी कहा जा सकता है कि पुरानी बोतलों में उन्होंने नया काव्य-मद भर दिया। उनकी रहस्यवादी कविताओं में सर्वश्रेष्ठ 'चम्पा', 'पगली का गीत', 'क्षण भर', 'बुलबुल' आदि हैं, और राष्ट्रीय कविताओं में 'डंका', 'क्रांतिकारी', 'भगवा झण्डा' आदि हैं। एक उद्धरण दिये बिना न रहा जा सकेगा :

ही दंगल जेव्हां होते
नाकलेचि कोठुनि की ते
येतात बंडवाले ते
जग हाले; स्वागत बोले
आम्ही त्या दिलजानांचे
साथी-ना मेलेल्यांचे
हे डंके झडती त्यांचे
ऐकोत कान असलेले

अर्थात्—यह द्वन्द्व जब होता है, तब न जाने कहाँ से क्रान्तिकारी आते हैं। जग हिलता है और स्वागत बोलता है।

हम तो उन दिलजानों के साथी हैं—मरे हुओं के नहीं। यह नौबत उन्हीं की बज रही है, जिन्हें कान हों, वे सुनें।

काल की सत्ता पर, क्रान्ति के यथार्थ अर्थ पर, स्वातन्त्र्य की सीमाओं पर वी ने बहुत कुछ कहा है, वह कहाँ तक गिनायें। चुपचाप एक कोने में पड़े-पड़े वी की कलम ने वह जादू किया, जिसने समाज के जीवन में एक नई चेतना का आन्दोलन पैदा कर दिया। हिन्दी में तुलना करते हुए 'एक भारतीय आत्मा' से ये बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं, यद्यपि दोनों के प्रेम-दर्शन

में अन्तर है। साथ ही महादेवी का रहस्य-प्रेम भी वी में प्रस्फुट है। 'फूलों की अंजलि' उनका एक आरम्भवन्ध है; पर लासानी है। वे मराठी के डाक्टर इकवाल हैं।

माधव ज्यूलियन् और भी दिलचस्प व्यक्ति हैं। वी. ए. तक आप संस्कृत के विद्यार्थी थे और एम. ए. में किन्हीं निजी कारणों से आपने फारसी ले ली और फारसी के उद्भट विद्वान् हो गये। (तव) राजाराम कालेज, कोल्हापुर में वे फारसी के प्रोफेसर थे। रसीले जीव हैं, जीवन का प्रेम-रमणयास, उत्कटता के साथ गजलों में उतारते हैं। पर साथ ही प्रखर बुद्धि की देन प्रभु ने उन्हें दी है, इससे उनके शृंगार-गीत साहित्य की एक सुस्वस्थ सम्पदा वन गये हैं। उनकी भावुकता उर्दू, फारसी के इश्क के मर्ज से प्रभावित उत्तान (Byronic) और संस्कृत की ललित-अलंकृति और कल्पना-विलास से अनुरंजित हो मधुर हो गई है। ओज और माधुर्य के इस प्रेम में काव्य का तीसरा गुण प्रसाद उनसे भूल जाता है; पर इतने सुन्दर पद्य-चित्र खींचने में वे कुशल हैं, कि यह सव छोटे-मोटे दोष उनके सामने ढँक जाते हैं। डाक्टर माधव त्रिंवक पटवर्धन जैसा कि उनका पूरा नाम है—मराठी में न केवल अपनी पद्धति के अकेले कवि के नाते निराले होकर प्रसिद्ध हैं; पर 'अ' में ही सव स्वर (जैसे अी अे) लिखने वाले वै. सावरकर के साथ इस लिपि का अवलम्ब करने वाले गद्य के, विशेषतया छन्द-शास्त्र और काव्य-समालोचन के आचार्य, आलोचक माने जाते हैं। पूना में सात नवीन कवियों की एक छोटी-सी संस्था 'रवि-किरण मण्डल' के नाम से इन्हीं के उद्योग का फल है और छोटे-मोटे आज तक वहाँ से, वीस से अधिक कविता-ग्रन्थ छप चुके हैं। आपका दूसरा काव्य था एक कथात्मक समाज-सुधार पर व्यंग्य के रूप में 'सुधारक' खण्ड-काव्य, जो विशेष लोकप्रिय हुआ। उसके पहले वे एक प्रेम-कथा, सम्पूर्णतया यथार्थवादी, 'विरह-तरंग' के नाम से प्रकाशित करा चुके थे, जो उनके जीवन की मराठी-साहित्य को एक स्थायी-देन है। उसमें एक विद्यार्थी परजातीय विद्यार्थिनी के स्नेह-पाश में पड़कर विवाह न हो सकने के कारण जो विछोह का दुःख झेलना है, जवानी की जिन्दादिली की जो एक सर्वसाधारण निशानी है, वह वड़ी खूवी के साथ चित्रित किया गया है। उनका असली सुन्दर काव्य-संग्रह तो १९३३ में निकला, नाम था 'गज़लांजली' अर्थात् 'गजलों की अंजलि।' इस नाम ही में उनके पांडित्य-प्रधान संस्कृत, फारसी, अर्द्धमिश्रित व्यक्तित्व का निचोड़ आ गया था। इसमें कवि ने अरवी-फारसी के छन्द को मराठी में प्रचलित करने के

उद्देश्य से एक सौ आठ गजल लिखे। यौवन की उद्दाम भावनाओं के उच्छ्वास-निश्वास प्रतिध्वनित हैं, उनमें कुछ बड़े मार्मिक और भावरम्य हैं। सुन्दर सृष्टि-चित्र, छवि-चित्र, रूपसियों के यथार्थवादी चित्र इतने चुनीन्दा शब्दों में वे खींचकर रख देते हैं कि अंग्रेजी के रियलिस्टिक लिरिक्स उसके सामने फीके लगने लगते हैं। ग़ज़लाँजली पर 'प्रतिभा' के सम्पादक (जनता में 'महात्मा' पट-चित्र के कथा-लेखक के नाते जो अधिक परिचित हैं) मराठी के निष्पक्ष समालोचक के. नारायण काले ने लिखा था कि यद्यपि कहीं-कहीं जान-बूझकर उनकी भावोत्कटता रस-मारक बन जाती है, तो भी शब्दों के साथ अर्थ ध्वनित करने की उनकी अद्वितीय शक्ति के सामने उर्दू, फारसी जैसा एक-ही-एक प्रेम-विषय का बाहुल्य इतना नहीं अखरता। 'स्वप्नरंजन' उनकी सबसे नई काव्य पुस्तिका है, इसमें उनके जीवन-भर की स्फुट-रचनाएं संग्रहित हैं, उसमें सुन्दर शिशुगीत हैं, दार्शनिक कविताएँ हैं, प्रौढ़ रचनाएँ हैं, बाल्यकाल की रचनाएँ हैं, यौवन के अधूरे उद्गार हैं। ये भी मराठी साहित्य-सम्मेलन की काव्य-परिषद् के प्रमुख बन चुके हैं और उनके व्याख्यान (वे एक अच्छे वक्ता भी हैं) सदा ही बड़े विद्वत्तापूर्ण और गम्भीर रहा करते हैं। यद्यपि नींव वी जैसे लोगों ने डाली, तो भी कविता के नवयुग के स्वरूप निर्माण में प्रमुख शिल्पी माधव ज्यूलियन् हैं। उनकी उपमा हिन्दी में एकमात्र सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' से दी जा सकती है—केवल निराला का शब्द-प्रेम छोड़कर और बातों में, मस्ती में, पाण्डित्य में, शृंगार लिखने में वे निरालाजी जैसे ही निराले, नामी और बदनाम जो कह लो, हैं। माधव ज्यूलियन् ने एक 'मैं और तुम' लिखा है, वह निराला के 'मैं और तुम' से कुछ कम नहीं। उनकी कविता के उद्धरण इतने अधिक हो सकते हैं कि कौन-कौन दिये जाँय? वे मराठी के बायरन और ब्राउनिंग, हाफिज और उमर एक साथ हैं।

यशवन्त दिनकर पेंढारकर रविकिरण मंडल के दूसरे प्रथितयश सदस्य, यरवदा के बच्चों की जेल (Reformatory school) के मुख्याध्यापक थे। विद्रोही युवक थे, दूसरे विवाह के पूर्व आपने एक खण्ड-काव्य 'जय-मंगला' प्रकाशित किया था। यह एक ऐसी पद्य-कथा थी, जो केवल स्फुट नाट्यात्म गीतों में व्यक्त हो गई थी; पर रीति के चमत्कार (Marvel of technique) के अलावा उसमें जो वस्तु थी, वह राजतरंगिणी के कवि बिल्हण का काश्मीर के राजा की लड़की के साथ काव्य शास्त्राध्यापक के नाते जो प्रेम प्रस्थापित हुआ था, उसपर आधारित एक रोमैंटिक चीज थी। वैसे उनकी

अनेक काव्य पुस्तकों में मुझे 'जयमंगला' बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। पर इससे कलेवर में बड़ा एक खण्ड-काव्य है 'बन्दी-शाला', जिसमें उनके यरवदा-सुधार-स्कूल के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की छाया के साथ समाज की एक मर्म-स्पर्शी समस्या बाल-बन्दियों पर नवीन प्रकाश डाला गया है। उसकी शुरुआत ही में, शारदा की स्तुति में कवि कहता है :

: दाग लगा हो तो भी मेरा फूल तुझे भा जाये;
उदार-हृदये स्वीकृत मेरी भेंट हो, न मुरझाये।

और उसी में जगह-जगह पर यही पंक्ति अनेक बार दुहराई जाती है कि 'जीवन यानी एक और है विस्तृत वंदीशाला !' वह जयमंगला के पहले की कृति थी। इन दो खण्ड-काव्यों को छोड़ 'भाव-लहरी', 'यशवन्ती', 'यशोधन' और 'यशोगन्ध' इनकी स्फुट-कविताओं के ग्रहों के क्रम से नाम हैं। 'भाव-लहरी' उसमें सबसे कोमल है, यशोधन सबसे अधिक लोकप्रिय ; यशवन्त ने जैसा कि उनका कविता-क्षेत्र में नाम है, कुछ ग्राम-गीत (जिन्हें मराठी में जानपद गीत कहते हैं) भी लिखे हैं और एक-दो तो रिकार्ड में भी उन्होंने गाये हैं। हिन्दी कविता और हिन्दी के साहित्यकार जनता तक कब पहुँच सकेंगे, यह प्रश्न यहाँ उठता है। यशवन्त सरल प्रेमगीतों के, तेज राष्ट्रीय गीतों के अच्छे कवि हैं। सारल्य उनका सबसे बड़ा गुण है, प्रसाद उनके साथ-साथ चलता है। अंग्रेजी नाटकों के क्षेत्र में जो फर्क शॉ और गाल्सवर्दी में हम देखते हैं, यानी वे ही प्रतिभा की चिनगारियाँ पूरे स्वाभाविक वेग से शॉ में चमकती हैं ; पर गाल्सवर्दी में जग-जीवन से मार्दव (Smoothen) पा, उनकी तेजी कम हो जाती है, वैसे ही समाज-सुधार और प्रेम की भावना माधव ज्यूलियन् में जिस कदर फव्वारे-सी हृदय से निकलती है, वही यशवंत में भीनी फुहियों में परिणित हम पाते हैं। यशवन्त की विशेषता उसका सरल भाषा पर अधिकार में निहित है। यशवन्त कभी पाण्डित्य के बोझ को कविता की परी के पंखों पर नहीं लादना चाहते। यशवंत वर्न्स इतने मोहक जो भी न हो सके हैं तो भी लोक-प्रियता और सभी दृष्टियों से यशवन्त मराठी के 'कलापी' हैं।

यह फिर से न कहना होगा कि जब मैं मराठी के यह पाँच प्रतिनिधि कवि चुनता हूँ, तब और भी कितने ही कविवर छूट रहे हैं या होंगे। राजनीति के क्षेत्र में क्रांतिकारी कीर्ति के बड़भागी बॅ. सावरकर की पाण्डित्यमयी राष्ट्रीय रचनाएँ, 'अज्ञातवासी' के गीत, 'गिरीश' (प्रो. कानेटकर) के समाज-सुधार पूर्ण गीत-पद्धति की सुन्दर कविता, भ. श्री. पंडित, 'निशिगंध', आ. रा.

देशपाण्डे, अनंत काणेकर सभी उदीयमान प्रतिभाएँ हैं। और अभी इन सबसे आगे आशाएं अधिक हैं। मौलाना अकबर और हिन्दी के बेढब के ठाठ के हैं 'केशव कुमार' तखल्लुस के प्रि. प्र. के. अत्रे, बी. ए., बी. टी., टी. डी. जिनके 'गेंदे का गजरा' (झेंडूची फुलें) साहित्य-क्षेत्र में फाग का अपना ही समा बाँधता है। अलावा इसके हमें हर्ष है कि दु. आ. तिवारी, (एक हिन्दी मातृ-भाषा वाले मराठी साहित्यिक) आ० कृ० टेकाडे, और कोल्हटकर आदि लोग महाराष्ट्र में खूब प्रचारित पुराने 'पोवाडे' वीर-कविताओं, आल्हा के ढंग के जोशीले आख्यानों (Ballads) का पुनरुद्धार करने में जुटे हैं। और भी बहुत लोग होंगे, जो छुट गये हों; पर यहाँ साथ ही यह भी कहना होगा कि सच्ची कवियित्रियों का मराठी में हिंदी जैसा ही या रत्ती-भर अधिक अभाव है। कु. संजीवनी मराठे, रहस्यवादी गीतों की लेखिका कुछ-कुछ महादेवी से तुलनीय हैं।

इतना सब कहने पर भी यह सवाल हमेशा पूछा जाता है, जो कि एकदम बेमतलब है कि हिन्दी की कविता अच्छी है या मराठी की? यद्यपि इस सवाल का पूरा विवेचन इस लेख का उद्देश्य नहीं तो भी इतना जरूर कहा जा सकेगा कि राष्ट्र के संस्कृति-गठन में प्रत्येक भाषा का अपना-अपना स्थान, अपनी-अपनी परिस्थितियाँ और अपना-अपना मूल्य रहा है। उपादेयता की दृष्टि से सभी श्रेष्ठ हैं और उसमें ऊपर-नीचे का क्रम नहीं दिया जा सकता, चूंकि समानान्तर, समतल रेल की पटरियों में कौन नीची, कौन ऊँची? और इसी दृष्टि से प्रत्येक भाषा की कविता को दूसरे भाषा की कविता से अवश्य बहुत-कुछ लेने को, सीखने को हो सकता है; पर उसकी चर्चा इस लेख में न हो सकेगी। रही वैयक्तिक रुचि और सौंदर्य दर्शन की बात, सो तो अपना-अपना मन है, कोई यह कविता पसंद करे, और कोई वह। इस दृष्टि से भी कोई निश्चित उत्तर असंभव है।

सुब्रह्मण्य भारती (तामिल)
वल्लथोल (मलयालम)
दे. कृष्ण शास्त्री (तेलुगु)
द. रा. बेंद्रे (कन्नड)

: २१ :

सुब्रह्मण्य भारती (तामिल)****

भारती तामिल भाषा के भारतेन्दु और रवीन्द्रनाथ की भांति श्रेष्ठ युगप्रवर्त्तक कवि थे। उनकी रचनाओं की महत्ता समझने से पहले तामिल कविता के ऐतिहासिक विकास को समझना जरूरी है।

'तामिल' का अर्थ है 'मधुर'। उदाहरण के लिए अपनी देवस्तुति में तामिल-भाषी कहते हैं—'आनिमुडि अमरंद देवनै एत्ति एत्ति तोलुवोम् यामे।' अर्थात्—'उस गणेश की जय-जय हो जो कि दूर्वा की माला पहने हुए है। तामिल या तमिऴ् द्राविड भाषावंश की प्रमुख भाषा है। इसे बोलने वाले १ करोड़ ७० लाख लोग हैं। तामिल-भाषी भूभाग वैसे तो तुङ्गभद्रा नदी के नीचे से कन्याकुमारी तक है, परन्तु तामिल वैयाकरणों के अनुसार यह भू-भाग तिरुप-तीर्थ पर्वत और कन्याकुमारी के बीच का भाग है। ईसापूर्व ६०० वर्ष तक प्राचीन तामिल का काल माना जाता है। अगस्त्य ऋषि के शिष्य ने 'तोलकप्पियम्' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा जो तामिल का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। प्राचीन तामिल साहित्य को 'संगम साहित्य' भी कहते हैं। मदुरा में तीन संगम थे, उन पाठशालाओं से यह नाम रखा गया। ईस्वी ५०० तक का सारा प्राचीन साहित्य पद्य में ही लिखा गया। उसमें वीर-काव्य भी बहुत-सा है। वैसे तामिल के आदि-काल का पता महामहोपाध्याय डा० स्वामिनाथ अय्यर जैसे संशोधकों को ६५ वर्ष के शोध के बाद भी नहीं मिला।

का. श्री. श्रीनिवासाचार्य लिखते हैं:

"आज तामिल साहित्य को विश्व-साहित्य में जो ऊँचा स्थान मिला है,

"श्री चिन्नुस्वामी अय्यर की हार्दिक अभिलाषा थी कि भारती ऊँची अंग्रेज़ी शिक्षा पा कर कोई अच्छी नौकरी कर लें और आराम से जीवन-निर्वाह करें। उस ज़माने के मापदण्ड के अनुसार उनकी यह इच्छा स्वाभाविक थी। परन्तु भारती के भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था! जिन्हें विधि ने स्वाधीनता का संदेश फैलाने का भार सौंपा हो, उन्हें आराम का जीवन कब बदा है? तो भी पिता का आदेश मानकर भारती तिरुनेलवेली के हिन्दू कालेज में भरती हुए। वहाँ का बनावटी जीवन उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। वे पाँचवीं कक्षा तक ही शिक्षा पा सके। फिर पढ़ाई छोड़ दी। उन्होंने उस छोटी उमर में ही अनुभव किया कि अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली हमारे देश के अनुकूल नहीं है। इससे देश की आत्मा कुंठित हो जाती है। सिवाय रुपये-पैसे के खर्च के, कोई लाभ नहीं है। इस शिक्षा से हमारे वास्तविक जीवन का कोई संबंध नहीं। इसके फलस्वरूप देश की सांस्कृतिक चेतना नष्ट होती है। इस शिक्षा के संबंध में उन्होंने 'स्वचरित' में लिखा है—'बारह वर्ष तक विद्यार्थी गणित सीखते हैं, परन्तु उन्हें आकाश के नक्षत्रों की गति का बोध थोड़ा भी नहीं होता। बहुत से श्रेष्ठ काव्यों का परिश्रम उठा कर अध्ययन करते हैं, पर कवि की भाव-भूमि तक उतरने में बिलकुल असमर्थ रहते हैं। व्यापार और अर्थशास्त्र के ज्ञान की डींग मारते हैं, लेकिन इतने अन्धे हैं कि अपने देश की संपत्ति के विनाश का पता उन्हें नहीं! हजारों ग्रंथों के नाम जानते हैं, पर किसी एक का संपूर्ण ज्ञान नहीं! शिक्षित होकर भी कच्चे और अबोध हैं!' विदेशी शिक्षा-प्रणाली की कैसी तीव्र आलोचना है!

"जिस शिक्षा-प्रणाली में वे स्वयं इतनी खराबियाँ बताते हैं, उसे कैसे स्वीकार कर सकते थे? कालेज की पढ़ाई भी समाप्त!

"जब भारती की अवस्था १४ वर्ष की थी, तभी पिता ने विवाह भी कर दिया। एक वर्ष बाद बीमारी से पिता चल बसे तो भारती पर मानो वज्र गिर पड़ा। पिता की मृत्यु के अनन्तर भारती को कठोर दरिद्रता के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। अपने जीवन के अंतिम दिन तक इस संघर्ष से उनका पीछा न छूटा। कोई सम्बन्धी भी ऐसा नहीं था जो विपत्ति के अवसर पर उनकी सहायता करता। भारती की फूफी उन दिनों काशी में रहती थीं। फूफी की आर्थिक-स्थिति कुछ अच्छी थी। उनका बुलावा पाकर भारती अपने परिवार को गाँव में छोड़कर अकेले काशी चले गये।

"काशी में भारती के फूफा कृष्णशिवन् ने उनसे कालेज में भरती होकर

अध्ययन करने का बार-बार आग्रह किया। इस आग्रह को वे टाल नहीं सके। दूसरे वर्ष वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में हिन्दी लेकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। वहीं उन्होंने अपना संस्कृत-ज्ञान भी बढ़ाया। उन्हें अंग्रेजी का मोह न था। किन्तु बाद में उन्होने अंग्रेजी का भी अध्ययन इतनी अच्छी तरह किया कि अंग्रेजी कवितायें तक लिखीं और अपनी तमिल कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया। इनका संग्रह Agni and other poems के नाम से प्रकाशित हुआ है। भारती ने हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त बँगला, गुजराती और मराठी से भी परिचय प्राप्त किया।

"कालेज के जीवन में उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का गहरा अध्ययन ही न किया बल्कि वे समाज-सुधार संबंधी कार्यों में भी सक्रिय भाग लेने लगे। भारती प्राचीनता का गौरव अवश्य करते थे। उसके प्रति उनके हृदय में ममता थी, परन्तु वे उसके साथ बँधे नहीं थे। उनका हृदय इतना विशाल था कि नवीनता का स्वागत करने में उन्हें संकोच नहीं होता था। देश और समाज के सम्मुख जो-जो विकट प्रश्न आते थे, उन्हें नवीन दृष्टिकोण से हल करने का वे प्रयत्न करते थे। वे कोरे विचारक नहीं, व्यावहारिक व्यक्ति थे। अपने विचारों को सदा कार्यान्वित करने का यत्न करते थे।

"भारती का यह नवीन दृष्टिकोण प्राचीनता के भक्त श्री शिवन् जी को पसंद न आया। वे अक्सर भारती के नये प्रयासों पर अप्रसन्नता प्रकट करने लगे। धीरे-धीरे भारती ने भी अनुभव किया कि काशी-वास से उनके गौरव की हानि होती है। वे बड़े ही आत्माभिमानी व्यक्ति थे। दूसरों के लिए भार होकर रहना उन्हें अच्छा न लगा। इसके अतिरिक्त घर की चिंता भी उन्हें सता रही थी। इसी समय एट्टयापुरम् के जमींदार ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया। भारती ने भी उचित अवसर पर आये हुए निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया और थोड़े ही दिनों में एट्टयापुरम् के लिए रवाना हुए। भारती ने अपने कासी-वाशी से जितना हो सका, लाभ उठाया।

"एट्टयापुरम् में वे इस बार केवल तीन वर्ष ही रह सके। वहाँ का दरबारी जीवन उन्हें अरुचिकर लगा। पराधीनता के जीवन में भी शृंगार और प्रेम के झूले में झूलने वालों का साथ स्वाधीनता के पुजारी भारती को कैसे पसंद आ सकता था? इसलिए जमींदार का आश्रय त्याग कर वे मदुरा आ पहुँचे और सेतुपति हाईस्कूल में तीन मास तक तमिल-अध्यापक का काम किया। वहाँ कई गण्य-मान्य लोग उनके मित्र बन गये, जिन्होंने भारती की मेधा और प्रतिभा से

प्रभावित होकर उन्हें हर तरह से प्रोत्साहन दिया। अन्त में हाईस्कूल के काम से वे ऊब उठे। अपनी इच्छा से सरस्वती की आराधना करने वाले कहीं नियमों के बंधन में रह सकते हैं! उनके लिए पाठशाला का काम बिलकुल नीरस था। पुरानी कविताओं का शब्दार्थ, भावार्थ, व्याकरण-संबंधी विशेषताएँ आदि सिखाने में उनका मन नहीं लगा। उनका दृढ़ मत था कि इस तरह की पढ़ाई से विद्यार्थियों के बुद्धि-विकास में बाधा पड़ती है। अब वे जीवन के तूफानी सागर में कूद चुके थे। यह समय उनके जीवन में घोर मानसिक संघर्ष का समय था।

"तमिल देश का भाग्योदय ही समझना चाहिये कि भारती के जीवन का रुख बदल गया। उन दिनों तमिल की प्रमुख दैनिक पत्रिका 'स्वदेशमित्रन्' के संपादक दिवंगत श्री जी. सुब्रह्मण्य अय्यर थे, जिनके नाम से भारत के निवासी अच्छी तरह परिचित हैं। उन्होंने भारती के देश-प्रेम और कवित्व-मेधा को तुरन्त पहचान लिया और भारती को मद्रास बुलाकर 'स्वदेशमित्रन्' में उपसंपादक का काम सौंपा।

"यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारती का वास्तविक क्रांतिकारी जीवन तब से आरंभ हुआ जब से वे 'स्वदेशमित्रन्' कार्यालय में आये। उपसंपादक की हैसियत से उन्हें देश-विदेश की परिस्थितियों का यथोचित ज्ञान हुआ। राजनीतिक प्रश्नों में वे स्वभावतः रुचि रखते थे। देश-भक्ति के भावों से उनका हृदय ओत-प्रोत था। पराधीनता को चुपचाप स्वीकार करने वाले अपने देश-निवासियों पर उन्हें अपार क्रोध आता था। पर जनता की विवशता समझ कर उस पर सहानुभूति भी रखते थे। इस समय के उनके लेखों, टिप्पणियों और कविताओं में देश-भक्ति का स्वर ही प्रधान रहा। एक गीत में वे स्वतंत्रता-देवी की वन्दना इन शब्दों में करते हैं—"सुखदायक घर का आराम छिन जाय, कारावास में रह कर कष्ट सहना पड़े, तो भी हे देवी, तेरी वन्दना करना नहीं छोड़ूंगा।" भारत-माता की आराधना और सेवा ही उनके गीतों का सार था। वे प्रवासी भारतवासियों को भी सदा याद रखते थे। केवल पेट की आग बुझाने के लिए सैकड़ों लोगों को अपनी प्यारी मातृ-भूमि को छोड़कर समुद्र-पार, दूर-दूर के दक्षिण अफ्रिका, फिज़ी, मलाया आदि देशों और द्वीपों में हज़ारों संकटों के मध्य अपना जीवन बिताना पड़ता है। उनकी क्या हालत है, यह हममें से हर एक जानता है। आठों पहर तन तोड़कर मेहनत करते हैं, उन देशों की धन-संपत्ति बढ़ाते हैं, पर विधि की भी कैसी विडंबना है कि उनको एक जून भोजन भी

"शासन-सत्ता भारती के तीव्र प्रचार-कार्य से सहन न हुई। उनकी गिरफ्तारी की आज्ञा निकाली गयी। यह घटना भारती के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण है। उनके हृदय में घोर संघर्ष का तूफ़ान उठा। एक ओर स्वयं देश-भक्तों की तरह कारावास ग्रहण करने की इच्छा थी तो दूसरी ओर वाग्देवी की आराधना की अभिलाषा थी। उन्होंने अनुभव किया कि दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते।

"मित्रों ने आग्रह किया कि जेल में सड़ने के बदले पांडिचेरी जैसे स्थानों में रह कर देश-सेवा करना अच्छा है। उनका कहना मान कर भारती पांडिचेरी के लिए रवाना हुए, जो उन दिनों अरविंद बाबू जैसे नेताओं का आश्रय-स्थान था। पांडिचेरी में वे लगभग आठ साल रहे। वहीं अरविन्द के साथ उनकी भेंट हुई। दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया। दो मेधावियों का यह मिलन दोनों को आनन्ददायक था। भारती ने 'आर्या' पत्रिका चलाने में श्री अरविंद को अमूल्य सहयोग दिया। वे स्वयं भी लेख और कविताएँ लिखा करते थे। ये आठ वर्ष भारती के जीवन में बड़ा महत्त्व रखते हैं। इन्हीं वर्षों में उन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक गीत, 'कण्णन पाट्टु', जो सारे तमिल साहित्य ही क्या भारतीय वाङ्मय में अपने ढंग की अकेली चीज है, तथा सुप्रसिद्ध काव्य 'पांचाली शपथम्' और अनुपम खंडकाव्य 'कुईल' (कोयल) आदि लिखे। ये ग्रंथ आधुनिक तमिल साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। तमिल भाषा-भाषियों ने उन्हें अभिमान और प्रेम के साथ जो महाकवि या कविचक्रवर्ती की उपाधि प्रदान की, वह इन्हीं ग्रंथों के कारण सार्थक है।

"१९१८ में भारती पांडिचेरी का अज्ञातवास छोड़कर सपरिवार अपने गाँव कडयम् में रहने लगे। वहाँ दो साल रह कर फिर मद्रास आये और दुबारा 'स्वदेशमित्रन्' में उपसंपादक बने। भारती का सारा जीवन कठोर दरिद्रता में ही बीता। वे जो कुछ कमाते थे, वह परिवार के खर्च के लिए काफ़ी न था। वे दयालु इतने थे कि कभी-कभी अपनी आधी से अधिक कमाई दीन-दुखियों की सेवा में खर्च कर डालते थे। कितने ही दिन भारती के घर वालों ने उपवास किया है। शायद बहुत कम साहित्यज्ञ जान-बूझ कर ऐसी दरिद्रता को अपनाते। साथ ही यह दरिद्रता एक महान् कवि-हृदय को कुण्ठित और शक्ति-हीन न कर सकी। उलटा इसने भारती की वाणी को ओज, उत्साह और शक्ति से भर दिया।

"भारती की मृत्यु बड़े ही विचित्र ढंग से हुई।

"उन्होंने अपने 'पाप्पापाट्टु' (बच्चों के गीत) नामक सुन्दर गीतों में कहा भी है—"कौआ, पपीहा, पहाड़, पत्थर आदि सब हमारी ही जाति के हैं। समस्त जीवों में जड़ और चेतन में ईश्वर का वास है।" अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे मद्रास के एक मोहल्ले तिरुल्लिक्केणी में रहते थे और वहाँ के पार्थ-सारथी मंदिर में प्रतिदिन दर्शन के लिए जाया करते थे। अपने साथ नारियल फूल, फल आदि अवश्य ले जाते थे। मंदिर के मुख्य फाटक पर मंदिर का हाथी बँधा रहता था। भारती नारियल आदि हाथी को खिला देते और उसके बाद देव-दर्शन करते थे। एक दिन अचानक वह हाथी बिगड़ गया। वह इधर-उधर दौड़कर लोगों को डराने लगा। सदा की भांति नारियल आदि ले कर भारती मंदिर में आये तो उन्हें यह बात ज्ञात हुई। वे तुरन्त हाथी को शान्त करने उसके पास गये। उसे नारियल और फल खिलाये, फिर मधुर शब्दों में "भैया, भैया" कह कर उसे शान्त करने लगे। पर मूर्ख हाथी भारती का मूल्य क्या जाने। उसने क्रोध में आकर भारती को सूँड में लपेट कर दूर फेंक दिया। वे बेचारे खंदक में जा गिरे और बुरी तरह घायल हो गये। इसी के फलस्वरूप ११ सितम्बर, १६२१ को रात के करीब डेढ़ बजे भारती की उज्ज्वल आत्मा भौतिक शरीर का बंधन तोड़कर मुक्त हो गयी और उस अनन्त ज्योति में जा मिली जहाँ से वह इस मर्त्यलोक में ३८ वर्ष पूर्व आयी थी।"

अब उनकी कविताओं के कुछ सुन्दर उदाहरण अनुवाद रूप में दिये जाते हैं :

तामिलनाड की धरती के प्रति उसकी परंपरा का सुभग दर्शन कराते हुए भारती अपने 'सेन्थामिल नाडु' नामक गीत में लिखते हैं :

'सेन्थामिल नाडु के शब्द सुनते ही मानो मधुर कलसंगीत सुन रहा हूँ ऐसा मेरा हृदय हिल उठता है और उसे मेरी पितृभूमि कहकर पुकारते समय, उच्छ्वास लेते हुए मेरे प्राण मानो बलवान होते जाते हैं।

'कावेरी, पालरु, मोरुनेई के प्रवाहों से तामिलनाड का देह शृंगारित हुआ है। फेनिल उछलते हुए नील सागर के किनारे चिरंतन रूप से खड़ा कोमोरिन का तपस्वी अन्तरीप और मालवन की टेकड़ी के बीच में बसा तामिलनाड तेरे यशस्वी कार्यों की गौरव-गाथा से भरा है।

'ये कम्बन और शिलाप्पाधिकरण के रचनाकार और वल्लुवन जैसी महा-मेधाओं ने रचित अमूल्य रत्नमालाओं से विभूषित है।

'व्याघ्र और मत्स्य का चिह्न वाला ध्वज लंका, फिलिपाइन्स और जावा में

गाड़ने वाले यहाँ के लोग थे। अन्धकार का नाश करने वाला कलिंग का युद्ध करनेवाले वीर सैनिक यहीं बने थे।

'यहीं के लोगों ने तामिलनाड की कीर्ति चीन, मलाया, बर्मा आदि प्रदेशों में फैलाई है और संस्कार, ज्ञान और व्यापार का विस्तार किया है।'

परन्तु भारती संकुचित राष्ट्रीयता का कवि नहीं था। 'भारत नाडु' नाम से भारत की महत्ता का गान करनेवाला गीत भी उसी ने लिखा और इटली के मुक्तिदाता 'मैज़िनी की शपथ' की वज्र-निश्चयात्मकता का तुमुल और झनकार से भरा गीत भी उसी ने लिखा। भारती ने ३८ वर्ष की आयु में २७ ग्रंथ लिखे, जिनमें 'देशीय गीतंगल' (स्वदेश-संगीत) बहुत प्रसिद्ध है। आन्ध्र विद्यापीठ के उपकुलपति रेड्डी ने १९४७ में कहा था : 'सुब्रह्मण्य भारती की कवि-प्रतिभा दो महान संस्कारों के संघर्ष और संयोग का सुफल है। भारती के राष्ट्र-प्रेम के गीत, जब उसके संवेदनशील हृदय ने देश की गुलामी और मनुष्य की मनुष्य के प्रति अमानुषता का तीव्र अनुभव किया तब उसमें से उद्भूत संघर्ष, दर्द और लड़ाई में से उपजे हैं।'

स्वतन्त्रता का गीत गाते हुए भारती ने कहा है—

स्वतन्त्रता ! स्वतन्त्रता !! स्वतन्त्रता !!!

'पुरयन्, तियत्, पुलयन्, परवन्, वगैरा नीचे वर्णों के लिए स्वतन्त्रता ! उनसे भी नीची जातियों कुरवन् और मरवन्—सबके लिए स्वतन्त्रता !!

'कुशल और निर्दोष कर्तव्य करते हुए हम सब इसी भूमि में रहेंगे और उच्च-शिक्षा और ज्ञान पावेंगे।

'धर्म में कोई गरीब या गुलाम नहीं है।

'भारतवर्ष में कोई नीच व्यक्ति नहीं है।

'हम सब समान भाव से शिक्षा, समृद्धि और सुख का संयुक्त उपभोग करते हुए इस भूमि में रहेंगे।

'स्त्री को नीचा गिननेवाले अज्ञान का हम नाश करेंगे। स्त्री निराधार है यह खयाल नष्ट करके उन्हें पुरुष के समान मानकर इस देश में जीयेंगे !'

उसी प्रकार से सुब्रह्मण्य भारती ने स्वतन्त्र भारत का आवाहन किया है। उसी ओजस्वी कवि भारती का एक दूसरा प्रसिद्ध गीत है 'श्रम' :

लोहे को पिघला दो
यंत्र बनाओ,
गन्ने को और दबा कर रस बाहर निकालो !

समुद्र में डुबकी लगाकर उत्तम मोती बाहर लाओ।
अपना पसीना बूंद-बूंद इस धरती पर गिरने दो और हजारों कार्यों के लिए श्रम करो!
मैं तुम्हारी महिमा का गान-गरज गाऊँगा।
मिट्टी में से पात्र बनाओ! वृक्ष काट कर घर बनाओ!
अन्न और फल खाओ! तेल, दूध और घी लाओ!
सूत कातो और वस्त्र बुनो!
तुम पृथ्वी की रक्षा करने वाले हो, क्या इस रीति से रक्षा पाओगे?
गीत और काव्य रचो
भारत नाट्यम् नाचो,
पृथ्वी की भीतरी वस्तुएँ खोजकर निकालो और उस ज्ञान को विज्ञान में संग्रहीत करो।
तुम ही हमारे चक्षुओं को दिखाई देने वाले देवता हो!!

परन्तु भारती की सारी कविता ऐसी प्रगतिशील कविता नहीं थी। उसमें रवीन्द्र की भांति रहस्यवाद, आदर्शवाद की ओर एक गहरी रुझान थी। के. चन्द्रशेखरन् ने 'आर्यन पाथ' मासिक में उनके रहस्यवाद की चर्चा की है। और नायक-नायिका भाव, जो कि श्रीमद्भागवत के गोपिका गीत से चला आया है, रहस्यवादी कविता का परम-बिन्दु मानकर उसी परम्परा में भारती के कन्नम्मा के प्रति प्रेम-गीतों से एक उद्धरण दिया है जो 'निराला' और माधव-ज्यूलियन् के 'तू और मैं' की याद दिलाता है। वह गीत इस प्रकार से है :

प्रिये, तुम उज्ज्वल प्रकाश हो,
और मैं मुक्त घूमने वाली आँख हूँ।
प्रिये, तुम चमकीली सुरा हो
और मैं मतवाला मधुकर
मैं तुम्हारे गौरव का गान करने का यत्न करता हूँ
परन्तु शब्द मौन में खो जाते हैं
तुम स्वर्गीय सुषमा की साम्राज्ञी हो
तुम अमर क्रान्ति हो।
तुम एक वीणा हो, प्रिये,
और मैं चतुर क्रीड़ा-रत उँगलियाँ।
तुम एक रत्न हो, प्रिये,

और मैं उस रत्न की कान्ति हूँ।
जब जब मैं मुड़ता हूँ, प्रिये
तो तुम्हारे प्रेम के प्रकाश से विश्व जगमगा उठता है
तुम साम्राज्ञी हो, प्रिये,
तुम मेरे जीवन की पतवार हो
तुम सुगन्ध हो, मैं विकच कुसुम हूँ।
तुम बोले हुए शब्दों का अर्थ हो, मैं केवल शब्द जोड़नेवाला हूँ।
तुम चन्द्रिका हो प्रिये, मैं आह्लादित सिंधु हूँ।
तुम मेरे जीवन की अस्ताई हो और मैं उसका अन्तरा हूँ।

ऐसे और भी गीत हैं जिनमें कन्नम्मा के साथ आँख-मिचौनी का खेल खेला जाता है, और जिनमें परम-तत्त्व प्रेयसी का रूप बदलकर स्वामी का रूप लेता है, और कहीं गड़रिये का या अजा-पाल का।

अन्त में भारती के 'गाँधी-पंचकम्' का रा. वीलिनाथन् कृत अनुवाद देने से पूर्व उसकी रचना की मनोरंजक कहानी सुना दूँ। मार्च १९१९ के आरम्भ में गाँधी जी मद्रास गये थे। सत्याग्रह छेड़ने की बात थी। राजाजी के घर ठहरे थे। एक दिन दोपहर को ३-३० बजे, जब वे महादेव देसाई को कुछ लिखा रहे थे, तब भारती वहाँ सीधे चले आये और सीधे गाँधीजी से बोले—'गाँधी जी, आप आज त्रिप्लिकेन समुद्र किनारे की सभा में सभापतित्व करेंगे! मैं वहाँ शाम को ५-३० बजे बोल रहा हूँ।

गाँधीजी—महादेव, आज हमारे क्या-क्या काम हैं, देखो तो!

महादेव—नेपियर पार्क में उसी समय एक सभा में हमें जाना है।

गाँधीजी—कृपया अपनी सभा आप कल रख लें तो कैसे होगा?

भारती—'क्षमा कीजिये। मैं वह नहीं कर सकता। पर मैं आपके आन्दोलन को आशीर्वाद देता हूँ।' और यह कह कर भारती चले गये। जब राजाजी से गाँधीजी ने जाना कि यह तामिल के राष्ट्रकवि हैं, तब गाँधीजी ने कहा: 'इस आदमी की बहुत कोमलतापूर्वक सँभाल होनी चाहिये। क्या आपके देश में कोई ऐसा नहीं है?'

गाँधी-दर्शन के बाद भारती ने जो कविता लिखी, वह है 'गाँधी-पंचकम्।'

(१) जीते रहो, हे ईश्वरोपम महान् आत्मा! तुम चिरंजीव हो कर जीते रहो। इस भारत देश को, जो इस समय संसार के सारे देशों से अधिक दलित और दीन-हीन अवस्था को प्राप्त हो गया है, दारिद्र्य के पंजे में पड़ कर दबा

जा रहा है, अपनी स्वतन्त्रता को खो कर, जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है—ऊपर उठाने और जीवित रखने को तुमने अवतार लिया। हे गांधी महात्मा, तुम शतायु रहो; चिरंजीव रहो!

(२) इस देश के लोग दासता के चंगुल से छुटकारा पाएँ तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करें। धन-दौलत में तथा शिष्टाचार में सबसे आगे बढ़े रहें। शिक्षा-दीक्षा ज्ञान-विज्ञान आदि में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करें तथा संसार के नेतृत्व की बागडोर भी अपने हाथ में ले लें, ऐसी व्यवस्था तुमने कर दी है। फलस्वरूप अटूट और अन्तहीन कीर्ति पायी। सिर्फ यही नहीं, इस भूभाग में तुमको सर्वोत्तम स्थान भी प्राप्त हो गया है।

(३) कठोर विषधर नाग के पाश से छुड़ाने के लिए जो औषधि लाने गया था, उस (हनुमान्) से तुम्हारी तुलना करें, या बादल तथा बिजली से बचाने के लिए, जिस (गोवर्धन-धारी) ने पर्वत को ही छतरी बना कर हाथ की उँगली पर उठा लिया था, उससे तुम्हारी तुलना की जाय? क्या कह कर हम तुम्हारी प्रशंसा करें? अनवरत दुःसह दुःख देने वाली पराधीनता रूपी भयंकर व्याधि से पिंड छुड़ाने के लिए तुमने जो उपाय (नुस्खा) खोज निकाला है, उसके समान नवीन तथा सरल उपाय संसार भर में नहीं है।

(४) अध्यात्म-ज्ञान हमको यह शिक्षा देता है कि उस व्यक्ति के प्राणों को भी, जो तुम्हारे ही प्राण लेने पर उतारू है, अपने प्राणों के समान समझना चाहिए तथा संसार के उन समस्त जीवों को उसी ईश्वर का स्वरूप और उसी परम पिता की संतान मानना चाहिए। अध्यात्म-ज्ञान के इन उत्तम तत्वों का समावेश उस राजनीति में करने का तुमने सत्साहस किया, जिसमें युद्ध, हत्या, दंड, षड्यन्त्र आदि नीच-से-नीच कृत्य उलझे रहते हैं। अर्थात् षड्यन्त्र से भरी राजनीति में अध्यात्म के उन उत्तम सिद्धांतों का सम्मिश्रण करके, पाप से भरी राजनीति को पुनीत करने का भार अपने ऊपर लिया। हे महान् आत्मा! तुम चिरंजीव रहो।

(५) हत्या-कांडों से भरी युद्ध-नीति की तुमने घोर अवहेलना की। और तुमने यह जाना ही नहीं, सिद्ध भी कर दिया कि ललित-कला-मर्मज्ञों तथा अध्यात्म-ज्ञानियों का धर्म-मार्ग उन भयंकर हत्या-कांडों से सहस्र-गुनी शक्ति रखता है। तुमने देखा कि भारत के उज्ज्वल भविष्य के लिए असहयोग-नीति ही सद्यः-फल देने वाली है और सारे संसार का भी कल्याण उसी में निहित है। इसलिए तुमने उपदेश दिया कि संसार पारस्परिक शत्रुता भूल कर सद्धर्म में प्रविष्ट हो

: २२ :

वल्लथोल (मलयालम) *******

वल्लथोल केरल के टगोर माने जाते हैं। मलाबार में पंडित और सामान्य जनता सब उनकी कविता को चाहते हैं। कथकली नृत्य के उद्धारक के नाते वे विश्वविख्यात हैं। चेरुथुरुथी ग्राम की आपकी 'केरल कलामण्डल' की शाला में भारतभर के विद्यार्थी आते हैं। वे केवल कवि और नृत्य-गुरु ही नहीं, सामाजिक कार्यकर्ता और निर्भय राष्ट्रवादी भी हैं।

पश्चिमी घाटों में से धो-धो करती हुई वेगवती नदियाँ अरब सागर से मिलने बहती हैं। भारत, तिरूर जैसी अनेक पहाड़ियों से घिरी संकरी पट्टी में मलाबार के लोग रहते हैं। ये गाँव नहीं बसाते, खेतों के पास छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं। सुपारी, आम और कटहल के पेड़ों के झुण्ड और नारियल के पेड़ों की कतारों से इनका प्रदेश घिरा है। चौमासे में घोर वर्षा के बाद ये पानी घेर कर अपनी खेती वहाँ करते हैं। नीलम और पन्ने से भरी जैसी यहाँ की चिरहरित् भूमि है।

चि. कुञ्जन् राजा ने अपने लेख 'मलयालम साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था' में लिखा है कि यह भाषा एक करोड़ बीस लाख जनता की भाषा है। मलयालम साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास रहस्य से आवृत है। फिर भी प्रायः १००० ईस्वी से इस साहित्य का आरम्भ होता है। आरम्भिक काल की कविताएँ संस्कृत चम्पू के ढंग पर गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। इनमें संस्कृत और मलयाली दोनों प्रकार के छन्द हैं। 'चन्द्रोत्सव' जैसे सुन्दर काव्य नायिका के विषय में ही लिखे गये हैं। 'राज-रत्नावलीयम्' कोचीन के एक राजा से सम्बन्ध रखता है। बाद में रामायण महाभारत, भागवत आदि संस्कृत काव्यों का अनुवाद हुआ। अठारहवीं शती के

कुंचन नाम्बियार या उन्नीनयी शली के मेणिप्रवाल में काव्य में अनेक कम्पाली [illegible] है। आधुनिक कवि का प्रादेशिक वैशिष्ट्य नष्ट होता जा रहा है। प्राचीन मलयाली के तीन चम्पू मिलते हैं—उण्णियाटि चरितम्, उण्णियच्चि चरितम्, और उण्णिच्चिरुतेवी चरितम्'। 'लीला तिलकम्' नाम का एक अलंकार-ग्रंथ भी मिलता है। १२०० ईस्वी से पूर्व का कोई साहित्य नहीं मिलता।

'केरल की आत्मा' नामक के. भा. नायर के लेख में कहा गया है कि केरल की परंपरा पौरुषमयी है। 'हाय, यह तो शान ही नहीं! उफ़, काल कितना बदल गया! इस जाति में आंसू भरी आंखें पहली बार देख रहा हूं। उन्हें गिरने से पहले पोंछ डाल। ऐसा न हो कि धरती भी तुमसे घृणा करे।' मलयालम के श्रेष्ठ उपन्यासकार रामन् पिल्लम् के उपन्यास का यह एक उद्धरण है। अतः 'केरल के इतिहास में भी आंसू-तूफान का लोप वैसे ही परिलक्षित है जैसे उसके वातावरण में। इस देश के लोग, जिन्होंने सब चीजों से बढ़कर पौरुष को महत्त्व दिया, एक ऐसी परम्परा में पले हैं कि वे आत्मा की कोमलतर प्रवृत्तियों को कमज़ोरी समझते हैं। आंसुओं से घृणा उन्हें जन्मजात है।'

वल्लथोल नारायण मेनन का जन्म सन् १८७९ में हुआ। मानो घुट्टी में ही इन्होंने संस्कृत सीखी थी। १५ वर्ष की छोटी उम्र में ही कालीकट की भाषा-पोषिणी सभा का सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति का इनाम इन्हें मिला। आपकी शक्ति शुरू में आयुर्वेद के ग्रंथ पद्य-बद्ध करने में व्यतीत हुई और इस प्रकार से उनकी कला में वैज्ञानिकता का आग्रह बढ़ा। वल्लथोल ने बचपन में ही कालिदास के रघुवंश का 'तीरेषु तालीवन मर्मरेषु' गाना शुरू किया। उनकी काव्यवाणी नवजीवन-सर्जना के विशालतर मानवतावादी दर्शन से अनुप्राणित हो उठी उनकी एक कविता में प्राकृतिक सौंदर्य की कैसी अनोखी छटा है। ग्रीष्म का उत्ताप समाप्त हो गया है और वर्षा-सूचक बदली शाम को जमा हो गये हैं। यह दृश्य देखकर किसान गाता है :

आकाश सरोवर का पानी सूख गया है, इसलिये तालाब में कीचड़ के छोटे-छोटे काले टुकड़े रह गये हैं। ऐसे ही बादल यहाँ दिखाई देते हैं।

धरती का पात्र उबल रहा है, और इस भट्टी का धुँआ ऊपर के छप्पर तक पहुँचा हो ऐसे बादल खड़े हैं।

बादलों में प्रकाश की आभा फूटकर पास की धरती पर बिछ गई है। मानो धरती कोई नवोढ़ा हो! अथवा सूर्य के कोमल प्रकाश में नहाकर संध्या ने क्षितिज पर सूखने के लिए बाल छोड़कर फैला दिये हैं।

बिजली रूपी 'केसरी' (सिंह) को बन्द करने वाले पिंजरे जैसे बादलों में से कभी-कभी गर्जना भी सुनाई देती है।

बिजली के नाच के बाद बिखरे हुए आभरणों के नीलम की तरह बिखरी फैली हुई हरियाली दिखाई देती है।

चातक की तरह आकाश की ओर राह देखते हुए किसान की खुली आँखों में बिजली रूपी रुपहली सलाई में सुख का सुरमा आँज दिया गया है! और कभी-कभी उठता हुआ मेघनाद यों लगता है मानो आनेवाले मंगल-दिनों की बधाई के ढोल बज रहे हों!

यह काले बादल किसानों को ऐसे जान पड़ते हैं मानों भैंसें चरने निकली हों। और काले बादलों में से निकलती सूरज की किरणें, ऐसे जान पड़ती हैं जैसे पकी हुई सुनहरी गन्ने की कतार हो।

हे भयंकर ताप! तू तप ले! इंद्र बादलरूपी म्यान में से बिजलीरूपी तलवार खींच रहा है। और अब तेरी दहाड़ें पूरी हुई हैं।

हे मेरे देश! तू चिन्ता न कर। दुख के बाद सुख के दिन आते हैं। नीलम के कुंभों में से वह तुझ पर अमृत-वर्षा करेंगी।

काले मेघ जैसे विष्णु और बिजली जैसी गौरलक्ष्मी इंद्र-धनुष की माला पहनकर गरीबों की मदद करने आ रहे हैं।"

इस पर किसान प्रसन्न हो जाता है। उन बादलों को सोंधी मिट्टी के पीले कुमुदों की माला पहनाकर पूजना चाहता है। मलाबार में नंबुद्री नारियाँ बारह महीने 'सोला' पहने रहती हैं वैसा 'अंदरजन' उसे मानकर धरती माता के लिए रेशमी साड़ी बुनने का काम तुझे मिला है ऐसा प्रश्न पूछते हैं, माँ प्रसन्न होगी तो हम प्रसन्न होंगे। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए माता की सेवा करना सबसे उत्तम मार्ग है:

इस प्रकार से आनन्दजनक विचार करके किसान खुश हो रहा था, कि पवनरूपी पत्थर टूटने से भैंसों जैसे बादल दो-चार बूँद बरसा कर बिखर गये।

कई शिकारियों के बाण खाली जाते हैं वैसे, किसान का आशाभंग हुआ। तब तारे हँसने लगे। क्योंकि, वे तो ऊँचे बसते हैं न!

प्रकृति देवी ने तारों के रूप में आकाश में सैकड़ों सोने की मुहरें बिखरा दीं। परन्तु उसके नीचे, धरती पर असंख्य आदमी भूखे मर रहे हैं और उनके हाथों में तांबे का सिक्का भी नहीं है।

विचार-धारा से प्रभावित हैं। श्री कृष्ण शास्त्री तेलुगु, संस्कृत तथा अंग्रेजी वाङ्मय के अच्छे ज्ञाता हैं। भावाभिव्यंजना के अनुकूल शब्द-चयन तथा उनका औचित्यपूर्ण प्रयोग इनकी रचना-शैली की विशेषताएँ हैं। इन्होंने कई फुटकर गीत तथा खंड-काव्य रचे हैं। अब तक इनके तीन संग्रह निकले हैं—'कृष्ण पक्षमु' 'प्रवासमु' तथा 'ऊर्वशी।'

श्री देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री की कुछ रचनाएँ अपने मित्र प्रो. वाराणसि राममूर्ति 'रेणु' के अनुवाद के साथ दे रहा हूँ: आपकी लब्ध-प्रतिष्ठ रचना 'कृष्ण पक्षमु' की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही कवि ने अपने स्वतन्त्रता-प्रेम का परिचय इस प्रकार दिया है:

आकुलो आकुनै पूवुलो पूवुनै,
कोम्मलो कोम्मनै, नुनुलेत रेम्मनै,
ई यडवि दागिपोना—यट्लैन—
निचटने आगि पोना ?
'क्या यहीं मैं ठहर जाऊँ ?
यत्न कर जैसे बने, वन-प्रांत में
छिप-छहर जाऊँ ?
पात में बन पात, सुम (न) में सुमन बन
उन्मन क्षणों में,
शाख में शाखा, तथा टहनी बने
मृदु टहनियों में,
यत्न कर जैसे बने, वन-प्रांत में
छिप-छहर जाऊँ ?
क्या यहीं मैं ठहर जाऊँ ?
सरसराते लघु पवन की, लोल लघुतर
लहर बन इक,
झरझराते स्रोत के मधुगीत की
मृदु तान बन इक,
यत्न कर जैसे बने, वन-प्रांत में
मधुप बन छिप विद्रुमों-से सहज
पल्लव के पुटों में,
मुग्ध-मोहन लाज बन सुम (न) बालिका

के दृग-पुटों में,
यत्न कर जैसे बने, वन-प्रांत में
पेड़ पर चढ़, दूर नील पहाड़ पर चढ़
कुछ विलंबित,
गगनचारी बादलों की नीलिमा-लज्जा
बने रे !
यत्न कर जैसे बने, वन-प्रांत में
भूख की और प्यास की दुःख-दर्द की
चिन्ता कहाँ तब ?
छोड़ सब, एकांत में उन्मत्त-सा जब
घूमता हूँ !
धुन यही, जैसे बने वन-प्रांत में
छिप-छहर जाऊँ !
क्या यहीं मैं ठहर जाऊँ ?

स्वातन्त्र्य-गीत

तिमिर वल्लियों में भी तारक-सुमन सुविकसित करके,
कठिन शिलाओं में नव-जीवन छटा-प्रस्फुटन भर के,
शुष्क ठूठ में भी नव कोंपल उगा प्रेम-स्वर भर के,
स्वेच्छा गान स्रोत भर दूँगा,अग जग प्लावित करके।
विषम दास्य, क्रूरता, कुटिलता की बनावटी कड़ियाँ,
छिन्न-भिन्न हो जायें; लगें तब शुद्ध प्रीति की झड़ियाँ,
गगनांचल गुन्जार कर उठे; यों स्वर उन्नत करके,
स्वेच्छा-गान स्रोत भर दूँगा अग-जग प्लावित करके।
भय उपजाने वाली कष्टातप की आँच भुला कर,
श्रांति-क्लांति देने वाला चिंता-तम-तोम भुला कर,
परवश होकर विश्व गा उठे, मेरे स्वर में स्वर भर के !
स्वेच्छा-गान स्रोत भर दूँगा, अग-जग प्लावित कर के !

क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?
जग हँसे, स्वेच्छया मैं गाऊँ !

कल विहंग-पंखों पर उड़ कर,
तारक-मणियों में तारा बन,
मिल जाऊँ निज मधु गानों में !
मिट जाऊँ निज मधु तानों में !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

बादल की नावों पर चढ़ कर
नभ में विहर, चमक विद्युत् सा,
झरूँ बूंद बन शोर मचाते !
गिरूँ भूमि पर गाते गाते !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

मेघों में चन्दा से झिलमिल
आँख-मिचौनी खेल खेल कर,
उतरूँ नहीं, नहीं, मैं दिव से !
उजड़ूँ नहीं, नहीं, गिर भुवि में !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

लघु मीनों से, लघु बूंदों से,
नव-मुक्ताओं संग नाच कर,
जलनिधि के हृदयांतराल में,
मिल जाऊँगा, स्वत्व गँवा कर !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

दौड़ दौड़ पीछे समीर के,
डालों में पत्तों में घुस कर,
परम-रहस्य उस प्रणय सूत्र का
परिचालित कर दूँगा, झुक कर !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

सुम (न) बाला को छेड़-छेड़ कर,
गाकर, अन्यों को पुलकित कर,
लाज भगा कर, इक मुग्धा की,
प्रौढा से बातें कर मधु-सी,
नव नव मधु गट-गट पीने को,
पी पी, झूम झूम उठने को,

फूल फूल पर, फूल फूल कर
यढ़ यढ़ कर उड़ उड़ जाऊँगा !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?

चिड़िया बनूं, बनूं लघु तारा,
मधुप बनूंगा, मधुघट चन्दा,
बादल बनूँ, बनूँ छवि चपला
फूल बनूँ, मृदु पल्लव आला !
बनूँ पहाड़ी झरना 'छलछल !'
बन मधुगीत मचा दूँ हलचल !
पवन बन पयोधि लहर इक,
कब, कैसे, क्यों, कहाँ न जाने,
रूप बदल कर रंग बदल कर,
छिप जाऊँगा ! खप जाऊँगा !
क्यों शरमाऊँ ? डर जाऊँ ?
जग हँसे, स्वेच्छया मैं गाऊँ ?

और एक कविता में दुख की अनुभूति व्यक्त है : शीर्षक है—'क्रूरार्ककिरण' :

कह नहीं सकता वह कैसे हुआ, तब
पत्तों औ' पल्लवों की गलियों से उतर पड़ी,
एक क्रूर अर्क-किरण; तुरत जमीन पर गिर कर
मेरा गुलाब झड़ गया, मुझे छोड़ गया !
तब मेरी तरफ, मेरी प्रसून-रहित उस
सूने ठूंठ की तरफ देख कर, एक
कोकिला रो पड़ी, ऊँची तान में, 'कुहू !'
हमारे लिए राह चलते एक मंद पवन ने,
एक करुणापूर्ण 'आह !' झल दी !

इस प्रकार कवि के जीवन के साथ दुःख का रसार्द्र सम्बन्ध ज्यों ही जुड़ गया, उनकी अन्तर्वीणा के तार खिंच चले; उनसे कोई नई अनोखी ही रागिनी निकल पड़ी। नूतन संगीत से विलोडित वह जीवन स्वयं कवि को विचित्र-सा लगा। उसके किनारे खड़े हो, उसका स्वयं एक अंग हो, वे अपनी विस्मयान्वित अनुभूतियाँ प्रकट करते हैं :

निराला लगता है, मेरा जीवन मुझी को !—

स्निग्ध ज्योत्स्नांकुरों से, सूची-भेद्य तिमिर-जाल से;
अमल मोहन संगीत में मैं सुनता हूँ,
हृदय-दलन-दारुण-रुदन-ध्वनियाँ !
टेढ़ी चाल चलता हूँ, सीधी सड़क पर ही,
(और) खुली सड़क के लिए झाँकता हूँ गलियाँ !
विष को अमृत और अमृत को विष-सा,
भिन्न भिन्न गतियों में बदल देता यह है जीवन !

किन्तु हृदय की यह द्वन्द्वात्मक स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रहती। उसका एक ही पहलू 'सूची-भेद्य तिमिरजाल' वाला ही रह जाता है। उसका शुक्ल-पक्ष तो बीत चला, अब तो कृष्ण-पक्ष ही उसका सर्वस्व बन गया है।

इस प्रकार दुःख की ज्वालाओं में निरन्तर दग्ध होते रहने से, कवि उसके आदी हो जाते हैं; दुःख के साथ एक प्रकार का समझौता कर लेते हैं। उस अथाह सागर को अपने जीवनमथनी के मथ कर उसका सार, नवनीत ही निकाल लेते हैं। प्रेम के अपूर्व माप-दंड से उसकी थाह ले लेते हैं। इस भांति दुःख की गहराइयों को थाह लेने पर, उसकी राई-रत्ती से अवगत हो जाने पर, उसके साथ आत्मीयता स्थापित कर लेने पर, कवि को उस दुःख में भी तीव्र रसानुभूति होने लगती है। हलाहल से अमृत की भांति दुःख से प्रेम का सृजन हो उठता है। उनका अशांत हृदय सर्वत्र शान्ति का अन्वेषण करता रहता है। निदान सारा विश्व उन्हें विश्राम एवं शान्ति का आलय लगता है—प्रकृति का पूर्व दुखद रूप एकदम बदल जाता है—वे गाते हैं :

नीलाभ्र-सरसिलो निंडु जाबिल्लि
रायंच वले विहारमु सल्पुचुंडे;
कम्म तेम्मेरलु शाखा पत्रमुलनो
कल्लोलिनी-तरंगमुलनो डागे;
नाट्यंबु मधुर गानंबुनु मानि,
गाटंपु निद्दुर गांचे शैवलनि,
सर्वेश्वरुनि हस्त-जलज-युग्ममुन,
विश्व में हाइगा विश्रांति जेंदे !

अनुवाद :

नीलाभ्र-सरसी में पूर्ण चन्द्रमा
राजहंस की तरह विहार करता है;

सुरभित पवनोर्मियाँ; शाखाओं, पत्रों
अथवा कल्लोलिनी-वीचियों में जा छिपी हैं;
शैवलिनी निज नाट्य औ' मधुर संगीत तज
प्रगाढ नींद में मगन हैं।
सर्वेश्वर के हस्त-जलज-युग्म में
समूचा विश्व ही सुख से विश्राम कर रहा है।

फिर कोमल-मेघ-शकलों के किनारों पर लास्य करने वाले, दूज के चाँद की मुसकानों के शीतल गान, प्रातःकाल पूर्व-गगनांचल में फूट निकलने वाले स्वर्णिल प्रकाश पथों से होकर अगजग को प्लावित करने वाले तुहिनाश्रुगीत, कबूतरों के कोमल हिंडोले-जैसे डैनों के किनारों से झरने वाले पावन-पवन गान, जूही-वाला की तंद्रिल-पखुड़ियों से छन कर बहने वाले सौरभ के स्वप्न-गीत, यह सभी मिल उनके दुःख-दग्ध और विदीर्ण अन्तस्तल को दौंगडे की भाँति सरस व श्यामल बनाते हैं। प्रेम के उस पारस-स्पर्श से कवि के बाह्यन्तर चमत्कृत हो उठते हैं! और वे विस्मय विमुग्ध नेत्रों से प्रश्न कर बैठते हैं :

सौरभमुलेल चिम्मु पुष्पव्रजमु?
चन्द्रिकल नेल वेदजल्लु चन्दमाम?
एल सलिलंबु पारु? गाड्पेल विसरु?
मावि गुन्न कोम्मनु मधुमास वेल
बल्लवमु मेक्कि कोयिल पाडुटेल?

अनुवाद :

सौरभ क्यों बहा देता है, सुमन-समूह?
चंद्रिका क्यों बिखेरता है, चंद्रमा?
सलिल बहता क्यों? पवन का प्रसार किस लिए?
पल्लवों से पेट भर कर, 'अंबुआ की डाली' से
मधुऋतु में कोयल गाती किस लिए?

कवि का यह प्रगाढ़ विश्वास अत्यन्त मनोहारी है :

कलुप-दुर्दान्त-पंक-संकलित कुहरों से
निकलने वाली मेरी मलिन अश्रुधारा,
हे स्वामिन्! भवदीय चरणों पर बह कर
परम-पावनी जाह्नवी की शोभा को प्राप्त करेगी!

जिस व्यक्ति का जीवन-शकट विश्वास की इस भव्य धुरी के सहारे चलता

हो, उसके आगे गतिरोध उपस्थित होगा ही कैसे ? यदि ऐसा प्राणी भगवान् के चरणों पर, उनकी असीम अनुकंपा के लिए कोई भेंट-श्रद्धांजलि-चढ़ाना चाहता हो, तो उसके लिए आँसू से बढ़ कर कौन उपयुक्त वस्तु हो सकती है ?

स्वामिन् ! प्रगाढ़ लज्जानुपात-संकलित हृदय
नीरज-पटलों से झड़ने वाले अश्रु-बिन्दु
को छोड़ तुझे और कौन चीज भेंट दे सकूँगा,
(जिससे कि) दिल की साध पूरी हो सके,
अन्तर का प्रेम पनप सके और सभी चिन्ताओं से मुझे छुटकारा प्राप्त हो सके !

यही परम-विश्वास श्री कृष्ण शास्त्री के काव्य-जीवन का चरम-लक्ष्य है ।

: २४ :

द. रा. बेन्द्रे (कन्नड)

कर्नाटक के श्रेष्ठ-कवि श्रीदत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे की मातृ-भाषा मराठी है परंतु लेखन की भाषा कन्नड है। आपके व्यक्तित्व और काव्य का परिचय देने से पहले कन्नड काव्य-परंपरा को समझ लेना उपयुक्त होगा।

कन्नड का समग्र उपलब्ध प्रथम ग्रंथ है 'कविराज मार्ग'। इसका कर्ता राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष नृपतुंग था। इसका काल ईसा की नौवीं शती है। ईसा की पाँचवीं शती के बाद का शिलालेखीय कन्नड वाङ्मय मिलता है। कानडी का प्रख्यात आदि-कवि पंप है। 'भारत' और 'आदि-पुराण' यह दो काव्य उसने लिखे। आदिपुराण का रस 'शांत' है। उलटे 'भारत' वीर-रस प्रधान रचना है। दसवीं शती में रन्न और पोन्न नाम के दो कवि चक्रवर्ती राष्ट्रकूट और चालुक्य राज्यों में विख्यात हुए। ग्यारहवीं शती में 'कादंबरी' और 'पंचतंत्र' के चम्पू रूप में अनुवाद कन्नड में हुए। बारहवीं शती में दक्षिण कर्नाटक में रामानुजाचार्य ने अपना वैष्णव पंथ स्थापित किया। और उत्तर में हैदराबाद राज्य के कल्याण प्रान्त में कलचूर्य वंश का विज्जल राजा राज्य करता था। तब बसवेश्वर, अल्लमप्रभु सिद्धराम, महादेवी, चन्नबसव इत्यादि वीर शैवधर्मीय संतों ने नया सम्प्रदाय शुरू किया, जो अब तक चल रहा है। बसवेश्वर के वचनों का अंग्रेजी अनुवाद भी हाल में प्रकाशित हुआ है। इसी शती के अंत में मध्वाचार्य ने अपने मत का प्रचार कर्नाटक में किया, जिसके फलस्वरूप १६वीं शती में कनकदास, व्यासराय स्वामी आदि ने श्रीकृष्ण-विट्ठल-भक्ति का प्रचार किया।

कुमार व्यास के तुल्यबल वीर शैव कवि हरिहर ने रगटा छंद में अनेक संत-चरित्र लिखे हैं। उनमें बसवेश्वर और नंबियण्णा के चरित्र बहुत सुन्दर हैं। बसवेश्वर के आध्यात्मिक गुरु अल्लमप्रभु की जीवनी 'शून्यसंपादन' नामक संवादात्मक गद्यकाव्य में, और प्रभुलिंगलीला नामक पद्यकाव्य में बहुत मार्मिक रीति से वर्णित है। इन काव्यों के अल्लमप्रभु, कुमार व्यास के काव्य के श्रीकृष्ण, और रत्ना की सिद्ध कवि के 'भरतेशवैभव' नामक सांगत्य छंद के महाकाव्य का नायक भरत चक्रवर्ती यह तीन व्यक्ति दत्तात्रेय की भाँति एक देह और त्रिमुख हैं। सर्वज्ञ कवि के हास्य रस से पूर्ण सुभाषित, पुरंदरदास के नर्तनोद्दीपक गीत, भक्तिरस प्रदीपक और नवरस रुचिर लक्ष्मीश कवि का लिखा हुआ 'जैमिनी भारत' नामक छोटा महाकाव्य आदि रचनाओं से विजयनगर के साम्राज्य में साहित्य का वासंतिक वैभव दिखायी देता है।

शिवाजी के समकालीन मैसूर के राजा कंठीरव और चिक्क देवराज के समय भाट-चारणों की शैली में 'कंठीरव-चरित्र', चिक्क देवराजा की उत्कट भक्ति से भरी प्रार्थनाएँ, वन्नम्मा नामक कवियित्री का गृहिणी को गौरवान्वित करने वाला काव्य, षडक्षरी कवियों के शैवभक्ति से भरे काव्य भी इसी काल की कृतियाँ हैं। परन्तु अंग्रेज़ों के आगमन के बाद, टीपू सुलतान और दूसरे बाजीराव के पराजय के बाद, कर्नाटक का भी सांस्कृतिक विघटन आरम्भ हुआ। सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागृति बहुत बाद में हुई। यानी १६१४ में कर्नाटक साहित्य-परिषद् की स्थापना के बाद साहित्य के सब क्षेत्रों में विपुल और गुण-भार युक्त रचनाएँ इधर हुई हैं। कवियों में प्रो. के. वी. पुटप्पा, प्रिंसिपल गोकाक, पी. टी. नरसिंहाचार्य और द. रा. बेन्द्रे प्रमुख हैं। शराबी के गाने के लिए राजरत्न, आध्यात्मिक काव्य के लिए मधुर चेन्न, घरेलू गानों के लिए नरसिंह मूर्ति और कवयित्रियों में भारती कर्नाटक में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

भास्कर गोविन्द गोखले ने 'अभिरुचि' (जुलाई ४६) में बेन्द्रे का एक रेखाचित्र प्रस्तुत किया है। उसका सारानुवाद मैं यहाँ दे रहा हूँ :

"बेलगाँव के कन्नड साहित्य-सम्मेलन में कविता पढ़ने के लिए व्यासपीठ पर एक साफा बाँधे नयी वामनमूर्ति आई। उसने अपनी 'हक्की हारुत्तिदे नोडिदिरा' (पक्षी ऊँचे उड़ रहा है, देखा है?) कविता पढ़ी। काल को एक प्रचंड विहंगम मानकर यह कविता लिखी गयी है। इस कविता को प्रत्येक श्रोता ने लिख लिया। तब से कर्नाटक में उनकी कीर्ति फैली। 'कुणियोनु बार' (चलो, नाचें) यह कविता अत्यन्त लोकप्रिय है।"

बेन्द्रे का जन्म धारवाड़ में १७-२-१८९७ में हुआ। बचपन में पितृवियोग हुआ। माँ और नानी ने अत्यन्त कष्ट सहन करके उनकी शिक्षा पूरी की। ऊँची शिक्षा के लिए वे पूना गये। वहाँ से वे फर्गुसन कालिज से बी. ए. हुए। सरकारी नौकरी उन्होंने नहीं की। वे एक विख्यात अध्यापक हैं। कर्नाटक में उन्हें 'मास्टर जी' के नाम से सब जानते हैं। धारवाड़ में अध्यापक बनकर वे आये तब उन्होंने 'गेलेयर गुंपु' (मित्र-मंडली) नाम से एक संस्था स्थापित की। इसी समय 'स्वधर्म' और 'जय कर्नाटक' नाम से दो मासिक पत्र चलाये। बेन्द्रे ने आजीवन काव्य-साधना की। और विरोधी परिस्थितियों से बराबर जूझते रहे। वे केवल कवि नहीं, पर सहृदय आलोचक, प्राचीन कन्नड के संशोधक, लघुनिबंध लेखक, एकांकीकार, समाजशास्त्रज्ञ हैं। १९४६ में वे कर्नाटक साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये। वहाँ 'साहित्य का विराट स्वरूप' नामक भाषण उन्होंने दिया।

गरी, मूर्ति, नादलीले, कृष्णा कुमारी (खंडकाव्य), उरयाले, सखीगीत नाम से उनके काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं। कन्नड मासिकों में भी उनके बहुत से गीत प्रकाशित होते हैं। उनकी कई कविताएँ अप्रकाशित हैं। मेघदूत का बड़ा सुन्दर और सरस अनुवाद उन्होंने कन्नड में किया है। प्रोफेसर रा. द. रमडे के 'कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलॉसफी' का अनुवाद उन्होंने और श्री रंगनाथ दिवाकर ने मिलकर किया है। उनका एक बड़ा ग्रंथ 'साहित्य और विमर्श' है, जिसमें उनके आलोचनात्मक लेख संगृहीत हैं। 'साहित्य संशोधन' में पुराने ग्रंथों का परीक्षण है।

सैकड़ों व्याख्यानों से जितना प्रचार नहीं होगा उतना 'तुत्तिन चीला' (चावल की बोरी) नामक उनकी कविता से हुआ। इस कविता में काजी नजरुल इस्लाम की बंगाली कविता 'विद्रोही' या 'जोश' मलीहाबादी की कविता 'इन्सानियत का कोरस' जैसी जान है। कविता के अंत में वे कहते हैं—"देवताओं की कब्र बनाकर, धर्म का धूप जलाकर, प्राणों की घन्टी बजाकर, मृत्यु की वेदना से तिलमिला कर सारी पृथ्वी मैं खा जाऊँगा, ऐसी गर्जना गरीबों के पेट में का, अन्दर का, एक-एक आवाज कर रहा है।"

कौओं को पेड़ पर नाचते देखकर उन्होंने कुणि योणु बा रऽ (आओ, नाचें) नाम की एक सुन्दर कविता है। जीवन भी एक नृत्य ही है, यह उसमें की मध्यवर्ती कल्पना है। 'हुबलीयांवा' (हुबली का) नाम की कविता में वेश्या जीवन का विषय है। वेश्याएँ भी स्त्री सुलभ एकनिष्ठ प्रेम कर सकती हैं। यह इस

कविता में चित्रित है। प्रकृति-चित्रण पर अनेक कविताएँ उन्होंने जिनमें 'श्रावण अभा' बहुत प्रसिद्ध है। 'रुद्रवीणे' कविता में मराठी के 'रुद्र का आवाहन' जैसा वीर-रस है। जिस कविता से उन्हें नजरबन्दी और देशनिकाला मिला, उस 'नरबलि' कविता में वे कह "कोई मुर्गा मारे तो गुस्सा आता है, बकरी मारी तो शिकायत होती है मनुष्य को मारें तो? कौन पूछता है-कौन पूछता है? यही 'शुद्ध' काली पूजा होती है। लोग इसी को युद्ध कहते हैं।" जेल में उन्होंने 'हसरागी विनोदी कविता, जेल के सब पत्तों के साग पर लिखी।

मुवत्तुमूरु कोटी (तैंतीस करोड़) नामक कविता में भारत-माता पृथ्वी को अपना दुखड़ा सुना रही है। "यही हैं मेरे बालक? कुछ पागल, कुछ कुछ लड़ने वाले, कुछ अवला, कुछ अछूत—वैसे गिनती में तैंतीस क कितने सोहर, कितने प्रसृति के कष्ट! ये कुछ कर गुजरेंगे इस आशा से इन्हें स्तनपान कराया और दुनिया में भेजा। परन्तु अनुभव यह मिला मेरी पुकार कभी तुम्हें सुनाई देती है?" इसी प्रकार की एक कविता 'कन नल्लोंदु कनसु' (स्वप्न में स्वप्न) है। त्याग के बिना कोई आदर्श उपलब्ध न होता। कन्नड भाषा और प्रांत का पुनरुज्जीवन होने वाला हो तो आत्यंति त्याग आवश्यक है—यही इस कविता का मुख्य स्वर है। 'उय्याले' (झूला संग्रह में उनके सॉनेट हैं। सखी-गीत आत्मचरित जैसा खंडकाव्य है। 'नन्नहाडु (मेरा गाना) कविता में वे अपने जीवन का दर्शन-सार देते हैं। सामरस्य उनके जीवन का प्रधान ध्येय है।

'अंबिकातनय दत्त' उनका कवि-नाम है। इस क्रान्तिदर्शी कवि पर प्रि० गोकाक ने 'त्रिवेणी' त्रैमासिक में 'बेंद्रे एण्ड हिज पोएट्री' नामक रसलतापूर्ण समीक्षा लेख लिखा है। अंगरेजी में प्रि० मेनेंजीस ने उनके अनुवाद किये हैं। अपनी कविता की स्फूर्ति का मूल-स्रोत वे अपनी माता की दरिद्रता में मानते हैं।

उनकी एक कविता का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :

हवा के झोंके खुले
उसी में नव-दृष्टि फूली
उस स्पर्श से हृदय झूम उठा
हाँ! हाँ! आकाश मानो झूमने लगा!
नेत्रों ने रँगा

श्वासों ने नृत्य दिया
नाम के लिये लज्जित हुआ
—काव्य बना !
उनके वे वज्रबोल
रूखे हृदय में गहरे घुसे
निंद्य जीभ जलाकर
झूठ को भगाकर
दुःखपर वे नाचे
गर्वी सिर को कुचलते हुए !
—गोल दृष्टि नाप
स्वर्ग नरक व्यापी
अँतड़ियों से बोला
सौख्य के साथ डोला,
सुप्त सुमन में दंग होकर
प्रेम-प्रेम में रंग गया
प्राणों का छत्ता भर आया
काव्य और गीत में डूब गया
गीत लहरी उपड़ी
तारे भी खिलखिलाये,
भूमिपर ऋतु खेला
सूर्य चन्द्र पर आसक्त हुआ !
प्राण प्राणों से खिंच गये
सब ओतप्रोत होकर
वे एक दूसरे में रस उँडेलते हैं।

नान्हामल
सुन्दरम्
उमाशंकर जो

: २५ :

नान्हालाल

राज ! कोई वसंत ल्यो, वसंत ल्यो !
हाँ रे ! म्हारी क्यारी मां एक महक महकी ।
हो राज ! कोई वसन्त ल्यो, वसन्त ल्यो !!
राज ! देव देवी सोहाग लेवा आवे
हाय रे मीठी स्नेहनी वंसरी वजावे
हो राज ! कोई वसन्त ल्यो, वसन्त ल्यो !!

'वसंतोत्सव' नामक नान्हालाल दलपतराय कवि के खंड-काव्य का यह एक उद्धरण है। जिसका अर्थ है—"कोई वसन्त लो जी वसन्त! हमारी पुष्प-वाटिका में सौरभ महक रहा है। वसंत लो जी वसंत! स्वयम् देव और देवांगनाएँ इस समय यहाँ आई हैं और प्रेम की मधुर मुरली वजा रही हैं। कोई वसंत लो जी वसंत !!" सुमित्रानंदन पंत की 'लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल, लोगी मोल !' की याद दिलाने वाली पंक्तियाँ पूना के डेक्कन कालिज में कवि नान्हालाल बी. ए. में पढ़ते थे, तब रची हैं, अपनी वय के इक्कीसवें वर्ष में। नान्हालाल के साथ-साथ आधुनिक गुजराती कविता में अद्भुतरम्य (रोमैंटिक के लिए गुजराती प्रतिशब्द) भावनोत्कट-काव्य का युग आरम्भ हुआ।

नान्हालाल की कविता के रसग्रहण से पहले गुजराती काव्यसाहित्य की परम्परा का एक रेखाचित्र देना उपयुक्त होगा। प्राचीन गुजराती कवियों में मीरावाई और नरसी मेहता इन दो कृष्ण भक्त-कवियों का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। मीरा राजस्थानी भाषा की कवयित्री है। परन्तु द्वारिका

के डाकोरजी के दर्शन के बाद वह गुजरात में भी उतनी ही लोकप्रिय है जितना हिंदी-भाषी प्रान्तों में। गुजराती साहित्य में सुविधानुसार मीरा की राजस्थानी को बदल कर गुजराती शब्दयुक्त बना दिया गया है, जो मीरा के साथ अन्याय है। नरसी मेहता के पचास-साठ उपदेश पर पद मिलते हैं, जिनमें गांधीजी का प्रिय प्रसिद्ध 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये' पद है। उनकी शेष कविता कृष्ण और गोपी के रासलीला के प्रेमगीतों से भरी हुई है। रासलीला का प्रत्यक्ष दर्शन नरसी को हुआ था। उस समय मशाल हाथ में लेकर खड़े होने का काम उन्हें मिला था, ऐसी जनश्रुति है। नरसी मेहता की रचना में गुजराती की स्वाभाविक ओजस्विता सहज-व्यक्त होती है।

इनके बाद 'आखा' नामक अहमदाबाद का सुनार वेदांती-कवि हो गया। कबीर की भाँति ज्ञानयोगी होते हुए इस कवि ने समाज के दंभ और अनाचार पर तीव्र चाबुक-प्रहार किया है। 'आखो' पर उमाशंकर जोशी ने एक समीक्षा-ग्रंथ (मोनोग्राफ) लिखा है। आखो के बाद विपुल रचना करने वाला गुजराती वैष्णव भक्त कवि है प्रेमानन्द। प्रेमानन्द ने एक कवि-मंडल अपने आसपास जमा किया और तुलसी के अनेक ग्रंथों की भांति या मराठी के मोरोपन्त के विपुल लेखन-संभार की भांति प्रेमानन्द की भी रचनाएँ गुजराती में संख्या में सर्वाधिक मानी जाती हैं। प्रेमानन्द कथावाचक था। उसने असंख्य पौराणिक आख्यान लिखे हैं। ग्रामीण जनता के सुख-दुःख को उन्हीं की भाषा में व्यक्त करने की उसकी शक्ति अद्भुत थी। इसी प्रेमजीवन का विस्तार दयाराम ने किया। दयाराम गुजराती का सूरदास है। वैष्णव-सम्प्रदाय की मधुरा भक्ति का विकास परमोच्चबिंद पर दयाराम में पहुँचा।

आधुनिक गुजराती कविता का आरम्भ नर्मद कवि से होता है। नर्मदाशंकर हिंदी के मैथिलीशरण, उर्दू के हाली, मराठी के केशवसुत और बँगला के नवीन-चन्द्रसेन की भांति राष्ट्रीय वृत्ति के वीर-कवि थे। उनकी स्मृति में एक पुतला सूरत शहर में बनाया गया है। नर्मद प्राचीन गौरव-गाथा के गायक और समाज-सुधारक थे। प्रार्थनासमाज का प्रभाव भी गुजराती पर पड़ा। आधुनिक युग के अन्य श्रेष्ठ कवियों में काठियावाड़ का रंगीला राजपुत्र-कवि कलापी और उसी का समकालीन कान्त है। कलापी ने उर्दू गज़लों को अपनाया और उत्कट प्रणय-गीतों की रचना की। इसी कारण से कलापी बहुत लोकप्रिय गुजराती कवि बने। उनके कई गज़ल जैसे 'ज्यां ज्यां नज़र म्हारी ठरे, यादी भरी त्यां आपनी!' गाँव-गाँव में गाई जाती है। कान्त की रचना संख्या में कलापी से

कम, परन्तु गुणों में श्रेष्ठ है। उनकी 'वसंत विजय' कविता के विषय में कालेलकर ने कहा—है 'मनुष्यस्वभाव की निर्बलता और गुजराती भाषा की सबलता दोनों एक साथ इस कविता में व्यक्त हुई हैं।' आधुनिक गुजराती कविता के निर्माताओं में कवि नरसिंहराव दिवेटिया और पारसी गुजराती के राष्ट्रीय-वृत्ति के ओजस्वी कवि अर्देशर फ्रामजी 'खबरदार' का नाम भी गौरव से लिया जाता है।

'रास-युग-प्रवर्तक' कवि नान्हालाल का जन्म १८७७ ईस्वी में हुआ। इनके पिता दलपतराम भी एक प्रसिद्ध प्राचीन-पद्धति के कवि थे। यों 'कवि' वंशनाम के इन पिता-पुत्र कवियों से बाणभट्ट और उनके पुत्र या चंद और उसके पुत्र की याद आती है। उनके जीवन में कोई विशेष घटनाएँ नहीं हैं। पूना के डेक्कन कालिज और बम्बई के एलफिन्स्टन कालिज में आपकी शिक्षा हुई। बाद में राजकोट में राजकुमार कालिज के वे प्रिंसिपल बने। क्रिकेट और घुड़सवारी से भी इन्हें बड़ा शौक था। परन्तु गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में सन् १९२० में आपने प्रिंसिपल का पद छोड़ दिया। बाद में गांधीजी की राजनीति से आपका मतभेद हुआ और राजनीति से विरक्त होकर नान्हालाल एकान्त काव्य-साधना करते रहे। नान्हालाल की पत्नी का नाम माणेकबाई था। और दोनों ही आतिथ्य बहुत अच्छा करते थे। अपनी पत्नी के प्रेम में उन्होंने 'दांपत्य स्तोत्र' कविता-संग्रह प्रकाशित किया था। यह पत्नी-प्रेम मराठी कवि तांबे की भाँति उच्छल, उत्कट 'स्त्री ला नमस्कार हा!' जैसा नहीं है, न बच्चन के 'निशा-निमंत्रण' की भाँति विरहाग्नि।

लेख के आरम्भ में जिस 'वसंतोत्सव' काव्य से उद्धरण दिया है, वह अद्भुतरम्य विषय पर आधारित अभिनव मनोहर रचनाशैली का काव्य है। इसी की तरह उनके अन्य सब काव्य हैं। उनमें गम्भीरता और अद्भुतरम्यता प्रधान गुण है। विनोद उनकी कविता में कहीं भी नहीं है। कवि नान्हालाल नित्य प्रातःकाल काव्यरचना करते थे। उनके करीब उन्चास काव्यग्रंथ उपलब्ध हैं। 'वसंतोत्सव' कविता न गीतात्मक है, न वृत्तात्मक। और वह कोरी गद्यात्मक भी नहीं है। वह एक प्रकार के अमिताक्षर छंद में है। बँगला में माईकेल मधुसूदन दत्त ने अतुकांत अमिताक्षर शैली का आरम्भ किया; हिन्दी में 'प्रसाद' ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' और 'पेशोला की पुकार' जैसी रचनाओं में जिसका विस्तार आगे 'निराला' ने किया; मराठी में इस मुक्तछंद शैली का प्रवर्तन रेंदालकर ने किया था। उर्दू में मुक्तछंद बहुत बाद में आया और 'बिला-तरह नज्मों'

अर्थ—हे प्रकृतिभगिनी ! तू मालिन है इसलिए कहती हूँ कि चंद्र ने जिस अमृत की वर्षा शुरू की है उस अमृत को अपनी अंजली में भरकर हम नहीं रख सकते। इसलिए तू फूलों की कटोरियाँ बना दे। हमारी अंजली का अमृत गिर जायगा, इसलिए देवताओं की अंजली की तरह जान पड़ने वाली ये फूलों की कटोरियाँ, हे मालिन, तू जल्दी तैयार कर !

: २६ :

सुन्दरम् ******************

श्री त्रिभुवनदास पुरुषोत्तमदास लुहार का उपनाम 'सुन्दरम्' है। गुजराती के आधुनिक कवि-नक्षत्रों में उनका स्थान बहुत ऊँचा और कान्तिमान है। काका कालेलकर ने एक बार अपने प्रिय आधुनिक कवियों के बारे में बोलते हुए १९४८ में कहा था कि—"उमाशंकर जोशी मेरा प्रिय या लाडला कवि है। पर देखते-देखते वह बड़ा मोटा विद्वान् हो गया है। 'सुन्दरम्' की कविता उसके नाम के अनुरूप नितांत सुन्दर है। मैंने उत्तराखण्ड की यात्रा लिखी तो सुन्दरम् ने दक्षिण भारत का प्रवास करके दक्षिणायन लिख डाला। सुन्दरम् का यह दक्षिणायन संस्कृति-चिन्तन की दृष्टि से सब तरह से तृप्तिदायक है। 'स्नेहरश्मि' नामक आधुनिक कवि भाषा की कोमलता व्यक्त करने में कमाल करता है, तो करसनदास माणेक कविता के किसी भी क्षेत्र को दूर नहीं रखता। कृष्णलाल श्रीधराणी ने बचपन में बहुत मधुर कविता लिखकर बहुत बड़ी आशा निर्माण की थी, परन्तु अमरीका को जाकर आने से उसने अंग्रेजी गद्य का रास्ता पकड़ लिया है।" इन नामों के अलावा और भी कई नाम आधुनिक गुजराती कवियों में हैं जैसे रमणलाल देसाई (नीहारिका) झवेरचन्द मेघाणी (युगवन्दना), इंदुलाल गांधी (खंडित मूर्तियाँ), चंद्रवदन मेहता (इलाकाव्यो, रतन), सुन्दरजी बेटाई (ज्योतिरेखा), रामनारायण विश्वनाथ पाठक (शेषनां काव्यो), 'स्वप्नस्थ', उशनस्, भोगीलाल गांधी आदि। परन्तु इन सब में 'सुन्दरम्' का नाम अलग से चमकता है, क्योंकि परिमाण में बहुत थोड़ा लिखकर भी परिणाम में उनका काव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उनके आरंभिक दो कवितासंग्रह यथानाम कड़वाहट से भरे थे। इनमें तीव्र व्यंग और सामाजिक विषमता की प्रखर चेतना है। 'कोया भगतनी कड़वी वाणी' और 'गरीबोना गीतो' यह उनके आरंभिक काव्यसंग्रह थे। मैंने ये संग्रह बहुत वर्षों पहले पढ़े। तब कलापी के काव्य-संग्रह के साथ-साथ पढ़े और सुन्दरम् की नवयुग को सोहने वाली नई काव्योक्ति (पोएटिक ईडियम) ने मेरा ध्यान सहज खींच लिया। 'उंदरडी' नामक उनकी कविता का उल्लेख मैंने 'अभिरुचि' (मराठी मासिक) में मराठी के नव-युग-प्रवर्तक कवि बालकृष्ण सीताराम मर्ढेकर की (कु) विख्यात कविता 'पिपांत मेले ओल्या उंदिर' (पीपे में मरे गीले चूहे) पर जो पैरोडी-प्रवाह बहा था, तब पूरी कविता उद्धृत करके किया था। उसी प्रकार से 'अमदावाद नां शहेरमां भाई' नाम की मजदूरों के दुख-दर्द को दो टूक भाषा में व्यक्त करने वाला उनका गीत मुझे याद है। 'भारतीय संस्कृति' नामक जो त्रैमासिक मैं संपादित करता था उसके एक अंक में यह दो गीत मैंने दिये थे :

१. अमारे हिन्दुने : शूद्रो

अमे भले चाकरी न भाखरी ज खोयां,
भले अमे मजूरीमां रात दीन जोयां,
ऊजकिया लोकलाज तेज नूर खोयां,
भले अमे छोकराने नंगा भूखा जोयां,

तोय अमे मानताओ छोडी न थी दीधी,
बामण ने दखणाओ भावे खूब दीधी,
ऊँची नीची आभड ने छेट झाली लीधी,
गोरजीना टीपणे ना श्रद्धा कम कीधी,

भले पर सेवी पाडी,
शेठ ने करावी गाडी,
अमें खेंची रात दाड़ी,
मान जो अनाड़ी,
कोढमां ने गभाणमां, गोदाम मां के डॉक मां,
ढेडवाडे, मेलखाडे, चाली ओ ने चौक मां,
फोगट शी,
काय कसी,

होता है। 'काव्यमंगला' में सन् १६२६ से १६३३ की ५४ रचनाएँ संगृहीत हैं। कई सानेट हैं और कई गीत। सब रसों की कविताएँ यहाँ हैं; और सब तरह के विषय भी हैं। उदाहरणार्थ कुछ कविताओं के शीर्षक देखिये :

रणगीत, अंतिम आशा, संजीवनी, बुद्ध के चक्षु, त्रिमूर्ति, सत्यं शिवं सुन्दरम्, कालिदास के प्रति, हँसते-हँसते, टूटी हुई घड़ी से, स्वप्न भंग, कवि का स्वप्न, पतंग और गरुड़, मेघनृत्य, रुदन, जुदाई, राम जी ये तो, जन्मगाँठ, मानवी मानव तलावणी, रंग-रंग की बदली, धूमकेतु, ध्रुवपद कहाँ ?, हमारे दर्द, माँ का फोटोग्राफ आदि।

उनकी कुछ कविताओं के नमूने मूल गुजराती को नागराक्षरों में लिखकर दे रहा हूँ। गुजराती हिंदी की अंतवर्ती भाषा है, अतः अर्थ की अपेक्षा सारांश-मात्र दे रहा हूँ। पहला प्रबोधन-गीत 'रणगीत', करीब-करीब मराठी में 'बी' कवि का डंका या 'केशवसुत' के तुतारी, या काज़ी नजरुल इस्लाम के 'आगे चल आगे चल, भाई' (जिसकी तर्ज की नकल में फिल्मी गीत 'चल चल रे नौजवान' बना) की तरह से कोरस-गीत है। उसमें मार्चिंग सॉंग जैसी गति है। खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक कविता में ऐसी मार्चिंग सॉंग की शैली शायद 'त्रिशूल' या 'स्नेही' का 'स्वतंत्रता का जन्म हुआ मृत्युञ्जय वीर कुमारों पर' (प्रकाशन : त्यागभूमि); या सोहनलाल द्विवेदी के 'किसान' या श्यामनारायण पांडेय की 'जौहर' आदि रचनाओं में मिलती है। मैंने एक कविता इस शैली पर 'नयी जमीन, नयी जमीन' युद्धकाल में लिखी थी जो 'नये गीत' में छपी है। सोवियत्-मित्र-संघ की पहली बैठक में बंम्बई में विजयलक्ष्मी पंडित की अध्यक्षता में 'नोवा ज़ेमलिया' (रूसी शब्द जिसका अर्थ है 'नयी जमीन') मैंने सन् १६४४ में पढ़ी भी थी। वैसे 'बच्चन' का 'अग्निपथ, अग्निपथ, अग्निपथ' और शिवमंगलसिंह 'सुमन' का 'बढ़े चलो किसान धीर, बढ़े चलो मजदूर वीर' इसी तरह का गाना है। सुन्दरम् का 'रणगीत' का प्रथम और अंतिम छंद यों है, ध्यान रहे कि मार्च तीस में दांडी-यात्रा हुई, उसके पहले का रचा इसी समय का गाना है यह :

कोण रे ऊठशे भाई ?
हो के, कोणरे ऊठशे, भाई ?
शंख कराले, दुःखना आडे,
भारतमाता, आपणी गाथा
बोले, ओ भाई !

भारत आपणी वोले,
भूख मिटावा, दुःख फिटावा,
कोण रे ऊठशे, भाई ?
हो के, कोण रे ऊठशे, भाई ?
[वृन्दगान]
भारत वीर, भारत वीर
ऊठवा अमे सौ अधीर,
ऊठशु अमे भारत वीर
कोण रे मरशे, भाई ?
हो के, कोण रे मरशे, भाई ?
केसर रंगे, कालभुजंगे,
जीवन घोली खेलतो होली,
अंगे, ओ भाई !
जीवन होली, अंगे,
मुक्ति काजे, अमर साजे
कोण रे मरशे, भाई ?
हो के, कोण रे मरशे, भाई ?
[वृन्दगान]
भारतवीर, भारतवीर,
मरवा अमे सौ अधीर,
मरशूं अमे भारतवीर,

भावार्थ—कौन उठेगा, भाई ? हाँ रे, कौन उठेगा ? पीड़ित होकर कराल शंखनाद के रूप में भारतमाता अपनी गाथा कह रही है, भाई (भारतमाता अपनी बात कहती है। भूख मिटाने, दुःख हटाने, कौन उठेगा ? भाई ? हाँ रे, कौन उठेगा ?

(समूह गायन) हम सब भारत वीर उठने के लिए अधीर हैं। हम उठेंगे।

कौन मरेगा, भाई ? हाँ रे कौन मरेगा ? केसरिया पहन कर काल भुजंग से कौन लड़ेगा ? जीवन घुलाकर कौन खुद होली खेलेगा ? मुक्ति के कार्य के लिए अमर साज पहन कर कौन मरेगा भाई ? हाँ रे, कौन मरेगा ?

(समूह गायन) हम भारत वीर सब अधीर हैं। हम मरेंगे।

'त्रिमूर्ति' कविताएँ बुद्ध, ईसा और गांधी पर तीन सानेट हैं। यह कविता

सोहनलाल द्विवेदी संपादित 'गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' नामक काव्य-संग्रह में (जिसमें मराठी विभाग की कविताओं का चयन और अनुवाद मैंने किये थे) अर्थ सहित देखी जा सकती हैं।

'कालिदास के प्रति' नामक शिखरणी वृत्त में लिखी सौ पंक्तियों की कविता के अन्त में कवि ने कहा है कि 'आज तक के इतिहास में युगों-युगों की सामग्री पड़ी है जिस पर महाकाव्य रचे जा सकते हैं। मुझे श्रद्धा है कि आगे चलकर कवि-गुरु यहीं जन्म लेंगे और इस कहानी को अमर-कवन का रूप देंगे। उसी आशा पर मैं आपके कवन-मार्ग पर चलता हूँ और यह लकड़ियाँ जमा कर रहा हूँ। तुम बाद में आकर इसमें से खराब लकड़ियाँ फेंक देना, सीधी पुष्ट समिधाएँ ले लेना। जब आपकी प्रचण्ड अधिक गुण द्वारा काव्यज्वाला प्रकाशित होगी तब इनका होम में उपयोग करना। इसी हेतु से प्रार्थना करता हूँ कि अच्छी लकड़ियाँ जमा करने का रास्ता मुझे दिखाओ!' मूल यों है :

१. वादली

सोनेरी वांदली
रुपेरी वादली
ऊतरी रे कहान मारे तलाव,
संध्याप्रभातना रंग भरी पाँखे,
सूरज नां आंजणां आंजने आँखे,
सागरना हैये आलोटी ए वादली,
अमृतना गर्भ धरी,
ऊतरी रे कहान मारे तलाव।
सूकां तलाव, मारां सूकां सरोवरो,
सूकां कमलदल, सूको आ वायरो,
सूनां आकाश मूकी नाठीं ती वादली,
धरती नो फेर फरी
ऊतरी रे कहान मारे तलाव।
नानु तलाव मारुं पाणीडां छलके,
भीनो पवन कमल आछेरां मलके,
दुनियानां आंसूडां लोती ए वादली,
मलकंती प्रेम भरी
ऊतरी रे कहान मारे तलाव।

सार : सुनहरी, रुपहली बदली मेरे तालाब पर उतरी। उसके पंख संध्या-प्रभात के रंगों से भरे हैं, उसकी आँखों में सूरज का अंजन है, समुद्र के हृदय पर यह लोटी है। अमृत का गर्भ धरी यह मेरे तालाब पर उतरी है। तालाब सूख गया, मेरे सरोवर, कमलदल, हवा तक सूख गयी। सूने आकाश में वह बदली रख दो। धरती का फेरा फिरकर मेरे तालाब पर वह उतरी। मेरा छोटा-सा तालाब है, पानी छलकता है। भीना पवन कमलों को झकझोर देता है। दुनिया भर के आँसू ढोकर यह बदली प्रेम से उमड़ती हुई मेरे तालाब पर उतरी।

२. मेघनृत्य

(झूलणा)

आज आकाशना मंटपे मेघनां नृत्यना चंड पडछंद गाजे,
प्रकृतीना पांच यजवैं गवैया उठया, त्वरित निज निजतणा साज साजे,

सोहनलाल द्विवेदी संपादित 'गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' नामक काव्य-संग्रह में (जिसमें मराठी विभाग की कविताओं का चयन और अनुवाद मैंने किये थे) अर्थ सहित देखी जा सकती हैं।

'कालिदास के प्रति' नामक शिखरिणी वृत्त में लिखी गयी पंक्तियों की कल्पना के अन्त में कवि ने कहा है कि 'आज तक के इतिहास में युगों-युगों की सामग्री पड़ी है जिस पर महाकाव्य रचे जा सकते हैं। मुझे श्रद्धा है कि आगे चलकर कवि-गुरु यहीं जन्म लेंगे और इस कहानी को अमर-कवन का रूप देंगे। इसी आशा पर मैं आपके कवन-मार्ग पर चलता हूँ और यह लकड़ियाँ जमा कर रहा हूँ। तुम बाद में आकर इसमें से खराब लकड़ियाँ फेंक देना, सीधी पुष्ट समिधाएँ ले लेना। जब आपकी प्रचण्ड अधिक गुण द्वारा काव्यज्वाला प्रकाशित होगी तब इनका होम में उपयोग करना। इसी हेतु से प्रार्थना करता हूँ कि अच्छी लकड़ियाँ जमा करने का रास्ता मुझे दिखाओ!' मूल यों है :

महा काव्यो आजे प्रगट इतिहासो युगतणा,
पडी आ सामग्री कविजन !; महा काव्य कृतिनी,
मने श्रद्धा : पाछा कविगुरु अहीं जन्म धरशो,
अने आ टाणाने अमर कवने मूर्त करशो।
उरे ते आशा भी तम कवन मार्गे ज पलतो
करूँ भेगां काष्ठो तम अरथ अग्नि प्रकटवा,
पछी त्यारे आवी मुज कवन नां काष्ठ निरखी
सडेलां वां कां ने तजी, सरक्त ने पुष्ट ग्रहजो।
कृतार्थी हूँ थाऊँ, कवन मुज आ काष्ट सरखां
प्रजा को हो भाई अधिकगुण काव्यज्वलन -मां
चहूँ तेथी तारां नयन उघड़ी क्रान्तदरशी
मने चींधो रस्तो चयन करवा काष्ट वगडे।

परन्तु सुन्दरम् केवल ओजस्वी और विराटवादी कवि नहीं हैं। वे सुन्दर गीतकार भी हैं। लोकगीतों की धुन पर 'वदली' जैसे उनके गीत, और शब्दसौंदर्य से 'मेघदूत' का आनन्द देनेवाले झूलणा छंद और संत कवियों के से फक्कड़-पन से गाये 'जुदाई' (और वैसे ही वर्गभेद को संकेत से व्यक्त करने वाले 'तलावणी' जैसे) गीत भी उन्होंने लिखे हैं। वे तीनों गीत इतने सरल हैं कि पूरा अर्थ अनावश्यक है। वे गीत मैं नागराक्षरों में सार के साथ दे रहा हूँ :

ताल मडदंग का धिंग पूंठे, गुम्पजे गगनना गाजि उठे।
तरलतन दामिनी द्युति तयार घोंत ने, चमक चमकार ले रंगभोमे,
मेघला वारुणीमत्त शा ठेक लै गूँथता नृत्यना गोंफ व्योमे,
घुमे तांडवी चाल साधी, अहो! जागता रुद्र छोडी समाधी।
गहन नभसिंधुनां वारिनां वहनपे नर्तको पाय दै ठेक लेता,
क्षितिज क्षितिजे गुंथी आंगली वेलमां घुमरतां पृथ्वीने चाक देता,
भमरडो पृथ्वी नो ऊँध लेतो, अहो! नृत्यनो रंग रेलाई रेहतो।
चकितदृग देवनी मंडली पुलकभर नृत्यरंगे दुधी आँख मींचे,
जलद नर्तक गणो हृष्ट चरितार्थ थै, अंक जननीतणे भेट सींचे,
देवथी प्राप्त उपहार भोलो अहो! सृष्टिनो स्निग्ध छलकाय खोलो।

मेघों के गर्जन की तुलना वादकों-गायकों के समूह से की है और देवगण यह नृत्य-गान देखने आये हैं। इसी का विवरणपूर्ण वर्णन है।

३. जुदाई

तारे ने मारे आवडी जुदाई,
आवडी जुदाई, तूं आगल, हूं पाछल, भाई।
एक मा ना बे दीकरा आपण,
दीकरा आपण, तूं भणेल, हूं भूलेल, भाई।
गगना तारे घुम्मट रहेवा,
घुम्मट रहेवां, देहडी मारी नानी, भाई।
अखूट आकाश खेलवा तारे,
खेलवा तारे, चौखूंट मारे भोमका भाई।
सूरजसोभनी आँखडी तारे,
ओडकारा तारे, आमडे मारी आँख वँधाई।
अमृतना नित ओडकारा तारे,
ओडकारा तारे, अन्नपाणी मारे लेवां भाई।
थाक नहीं तारे, नींदना ना रे,
नींदना ना रे, हांफवांधोरवां मारे भाई।
आलमना अखत्यार तारे घेर,
भाई तारे घेर, आर तसु मारे भोंय ना भाई।
[illegible]नां तारे [illegible]
[illegible] आभानी चादर मारे, भाई।

(यानी नाव) से उन्होंने किया। जेल से छूट कर उमाशंकर ने फिर कालेज की शिक्षा आगे ग्रहण की। जब वह पढ़ते थे तभी उनकी कविताएँ कोर्स में लगी थीं। १६३६ में उन्होंने 'गुर्जर पुरोगामी साहित्यसंघ' स्थापन किया। इस संघ के वे प्रमुख प्रवर्तक और मन्त्री रहे। १६३७ में गांधीजी के सभापतित्व में गुजराती साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। तब वे उसकी कार्यकारिणी पर चुने गये। २६ वर्ष की छोटी उम्र पूरी होने से पहले वे कवि, कहानीकार, एकांकीकार और निबन्धलेखक बने।

१६३१ में उमाशंकर ने 'विश्वशांति' नामक पाँच सौ पंक्तियों का खण्ड-काव्य लिखा। यहीं से उनकी काव्य-सेवा आरम्भ होती है। गंगोत्री नामक काव्य-संग्रह ने उनकी कीर्ति अक्षय कर दी। कहानियाँ उन्होंने 'वासुकी' के नाम से लिखी हैं। १६ बरस की उम्र में 'विश्वशांति' रची गयी। उसके निवेदन में उन्होंने लिखा—'बापू का पश्चिम प्रयाण भारतीय स्वतन्त्रता के लिए चाहे हो, परन्तु इसमें देश की स्वतन्त्रता से भी अधिक पश्चिम को शांति का महान् दैवी विशेष संदेश मिलेगा, यही तत्त्व मुझे विशेष आकर्षक जान पड़ा। इसी पर इस काव्य में विशेष ज़ोर मैंने दिया है।' काव्य का आरम्भ ही बड़ा भव्य है—'इतने में दूर से मंगल शब्द सुनाई दे रहे हैं! युग-पुरुष के विना शत्‌शत् संवत्सर सूने-सूने रहे हैं। उन चिरशांत ऐसे शतसंवत्सर रूप गुंबदों को गुंजाते हुए यह चेतनमंत्र कहाँ से सुनाई दे रहा है? इस शब्द से पाप मिट जाता है पर पापी जीवित रहता है। जग के किनारे पर खड़े हुए अनेक योगी पुरुषों ने यह मंत्र सुना है, सहा है। अरण्यकों ने, ऋषिमण्डल में, बुद्ध ने, ईसा ने, महावीर ने सबने यह मन्त्र सुना है, परंतु इस मन्त्र से निद्राजड़ जगत नहीं जागा और फिर यह मन्त्र अनन्तता में विराम पा गया है। इस अर्थवाली मूल-पंक्तियाँ देखिये :

त्यां दूरथी मंगल शब्द आवतो!
शताब्दिओना चिरशांत घुम्मटो
गंजावतो चेतनमंत्र आवतो!"
त्यां दूरथी मंगल शब्द आवतो;
युगोतणी कैंकं पडी कतार
आवे ध्वनी एहनी आरपार
तू पाप साथे नव पापी मारतो,
ए मन्त्र झील्यो जगने किनारे
उभेल योगी पुरुषे अनेके,

आरण्यकोए, ऋषि-मंडलो ए,
सुणेल बुद्धे, इशुए, महावीरे
न तोय निद्राजड लोक जाग्यां
डूबी गयो मंत्र अनंत तामां !

गुजरात के विख्यात आलोचक स्व. प्रो. नरसिंहराम दिवेटिया के हाथों में जब यह काव्य आया तो वे इतने आनन्द-विह्वल हुए कि उन्होंने समीक्षा में लिखा— 'यह एक असामान्य गुणोंवाला काव्य है। इसमें प्रकट होने वाला गम्भीर दर्शन कवि की विराट-दृष्टि (विजन) का साक्षी है। इसमें सौष्ठव और लालित्य की अपेक्षा भाव और नाद की गम्भीरता विशेष दिखाई देती है। भाषा-शैली सीधी और प्रत्यक्ष है। विचार और भावनाओं में भव्य और उन्नत तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण है।'

इस काव्य में युद्ध के विषय में उमाशंकर लिखते हैं—"रक्त से सींचे हुए दुनिया के आँगन में युद्ध की तैयारी चल रही है। हृदय पर हुए दूखते घाव तुम्हें दिखाई देंगे और प्रजा-प्रजाओं के शोणित लेख तुम पढ़ सकोगे। मनुष्य-मनुष्य के बीच चलने वाले इस संहार को देखकर भूतकाल पैशाचिक अट्टहास्य करता है। ···परन्तु एक बार मानव-जाति जब शांति-व्रत लेगी तो सारी वसुधा एक कुटुम्बवाली हो जायगी और यह शब्द अनन्त अवकाश के पार, जहाँ कोटि-कोटि सूर्यमालाएँ घूमती हैं, और वहाँ शान्ति का एक रसीला रास रचा है, वहाँ जा पहुँचेगा और सारा विश्व पक्षियों का एक नीड बन जायगा।" 'विश्वशांति' के अन्तिम प्रकरण 'कालासागर' में उमाशंकर की उदात्त प्रतिभा के पूरे दर्शन होते हैं।

'गंगोत्री' में जो रचनाएँ हैं, उनमें विषयों की विविधता बहुत है। राष्ट्रीय दार्शनिक, सामाजिक परिहासपूर्ण सब प्रकार के विषयों पर गीत इस संग्रह में मिलते हैं। प्रणयगीत बहुत थोड़े हैं : सिर्फ दो-चार हैं। 'चौंतीस साल का साहित्य' नामक निबन्ध में ज्योतीन्द्र दवे ने 'गंगोत्री' के बारे में कहा था : "इस वर्ष के सारे काव्यग्रंथों में यह श्रेष्ठतम ग्रंथ है। इसमें गहरी मानवता, संस्कारी सयम, काव्यप्रकारों का ही नहीं परन्तु विचारों और विषयों की विविधता, चिन्तनशीलता, वस्तुओं का यथार्थ-दर्शन और स्वभावजन्य विनम्रता आदि विशाल प्रमाण पर दिखाई देते हैं। धोबी और मोची, चूसकर फेंकी हुई आम की गुठली, घूरा आदि आज तक काव्य के लिए अविषय-रूप चीजों को छुआ है। प्रसंगा-नुकूल उनकी निरूपण-शैली भी विविध प्रकार की होती गयी है। समरकन्द

और बुखारा, कराल-दर्शन, कराल कवि, हरीफ, एक छोटी लड़की को श्मशान में ले जाते हुए, नया नाटककार आदि काव्यों में अन्तर्गत नवीनता है।"

'प्रश्न' नामक गीत में 'कोई मेरा हृदय दुनिया में है?' यह सवाल कवि प्रकृति की अनेक वस्तुओं से करता है, परन्तु उसे कोई उत्तर नहीं देता। अन्त में दुनिया की बेपरवाही से चिढ़कर कवि बड़ी आशा से और भरोसे से स्वयम् अपने हृदय से पूछता है—'हे हृदय! तू तो आखिर मुझे अपना कहेगा?' हृदय भी ऐसा बेहया है कि उत्तर देता है—'बाबा, तू मेरा मालिक नहीं है। तेरे देह में मैं केवल दूसरे के लिए ही रहता हूँ!' कवि खूब चिढ़ जाता है, और अन्त में उसे विचार सूझता है:

बीजां काजे वसतु मुजमां, तोपदर्थे बीजामां
हैयां वासो नहि शुं वसतां कैं हशे स्नेह भीनां?

अर्थ—मेरा हृदय यदि इस शरीर में दूसरे किसी के लिए जीता है तो मेरे लिए भी स्नेहार्द्र हुए कई हृदय कहीं और जरूर बसते होंगे।

'एकला, साथमां वा' (अकेले या साथ में); 'भोमिया विना' (राहगीर के बिना); 'बलतां पाणी' (जलता हुआ पानी); विश्वतोमुखी आदि ऐसे ही सुन्दर गीत हैं। 'मीलन' गीत की सुकोमल प्रेम-भावना बड़ी हृद्य है:

सखे! संध्याकाले
प्रतीचीने भाले
टिलडी टमके शुक्रकणिका
पलक झबके ज्योत क्षणिका
थती तेजोवृष्टि,
परोवा त्यां दृष्टि,
अनिमिष घड़ी वार उभजे!
हुंय नजर सांधीश तहीं, ने
सुरश्मि थंकोरे
सखे! दृष्टिदोरे
पल उभलके थी झुली रही,
उभय मलशुं आपण तहीं!

अर्थ—सखे! संध्या-समय में पश्चिम दिशा के भाल पर शुक्र का तारा बिंदिया की तरह चमक रहा है। एक क्षणभर के लिए मानो ज्योति चमक जाती है। वहाँ तेजोवृष्टि होते ही, अनिमिष पलकों से दृष्टि लगाना। मैं भी अपनी

दृष्टि वहीं गूंथ दूँगा। उस सुरश्मि-स्रोत में, सखे, उस दृग्पथ में, मन क्षणभर जब आंदोलित होगा, तभी अपना मधुर मिलन भी होगा।

उनके राष्ट्रीय-सामाजिक गीत भी उच्च-कोटि के हैं। 'पिपासा', 'घाणीनु गीत' (तेलघानी का गाना), 'हथोडानु गीत' (हथोड़े का गीत), 'बुलबुल और भिखारिन', 'दलनारा दाणा' (पिसे जाने वाले दाने), 'कला का शहीद', 'बाप बेटा', 'मोची', 'जठराग्नि' आदि प्रसिद्ध गीत हैं। 'जठराग्नि' गीत में उन्होंने बड़े ओजस्वी ढंग से कहा है—'गगनचुम्बी मंदिर बनाओ, फौवारों में नाचो! चंद्रशालाएँ रचो। परन्तु दरिद्री जीवन का उपहास करने वाली ये तुम्हारी लीलाएँ कब तक चलेंगी? जब तक भूखे जीवों का कोटि-जिह्वाओं-से फैला हुआ जठराग्नि जगा नहीं है तब तक। बाद में उन मंदिरों के खँडहरों की राख भी नहीं दिखाई देगी।' मूल यों हैं :

रचो रचो अम्बरचुम्बी मंदिरो, उंचा चणो म्हेल, चणो मीनारा!
मढो स्फटिको लटकाओ झुम्मरो, रंगे उडावो जलना फुवारा!
रचो रचो चंदन वाटिकाओ, रचो रचो कंचनस्तंभ माला!
उंडा तणावो नवरंग घुम्मटो, ने कैंक क्रीडांगण चन्द्रशाला
रचो भले! अंतर संघती शिला एकेम भावे बहु कालसांखशे!
दरिद्रनी ए उपहास लीला संकेलवा, कोटीक जीभ फैलतो
भूख्यां जनो नो जठराग्नि जागशे, खंडेर नी भस्मकणीन लाधशे!

अब अन्त में श्री उमाशंकर जोशी का साहित्य-विषयक दृष्टिकोण समझने के लिए 'साहित्य : एक शक्ति' नाम से उनके भाषण का एक अनुवाद नीचे दिया जा रहा है। यह भाषण उन्होंने सन् '३८ में दिया था :

'साहित्य से हम यह समझते हैं कि उसमें उन लेखों का समावेश है, जिसमें सबको रस देने वाले उत्कृष्ट भाव उतनी ही उत्कृष्ट भाषा में हों। मनुष्य जाति के प्रारंभ से कविता साहित्य का एक माना हुआ अंग है। परन्तु नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध, इतिहास, तत्वज्ञान, जीवनचरित्र, विवेचना आदि भी साहित्य के अन्यान्य रूप हैं।

'इस विविध प्रकार के साहित्य से मानव-जीवन का अत्यन्त निकट का संबंध है। भूतकाल के मानव-जीवन के साथ के संबंध की यह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। घास पर आमने-सामने बैठे, मस्ती में डोलते और सोमरस की लहर में अर्थ-हीन 'वाउ-वाउ' पुकारते ऋषियों को सृष्टिरचना का रहस्य कैसा लगा होगा। वहाँ से लगाकर किसान और मजदूर वर्ग के हित का चिंतन करने वाले

नानक से आज तक

: २८ :

नानक से आज तक********

पंजाबी भाषा के साहित्य में व्रजभाषा का उच्चारण-लालित्य, काव्य चमत्कार या अनुप्रास कहीं भी नहीं मिलता। फारसी गीतों और मसनवियों का प्रभाव भरपूर है, परन्तु पंजाबी भाषा का अवधी की साहित्यकृतियों से साम्य है। रामकृष्ण की उपासना और भक्तिपरक सूफी पंथ का असर पूर्व नानक-कालीन कविता पर नहीं है। सिर्फ योग और एक खास ढंग के वैराग्य का ही विशेष प्रचार किया गया था। लोकगीत और लोककथा की समृद्ध परम्परा है और उनकी सहायता साहित्यकृतियों को मिली है।

बारहवीं सदी में मुसलमान अपनी राजधानी लाहौर से दिल्ली ले गये। इस काल के आरम्भ में इस्लाम के रहस्यवाद का बड़ा विकास हुआ और मुलतान, लाहौर और दिल्ली में उनका अपूर्व प्रसार हुआ। लहंदी काव्य का जनक सुप्रसिद्ध शेख उर्फ बाबा फरीद और शम्स ताब्रीज़, निज़ामुद्दीन, बुरहाना, दाऊद, अमीर खुसरो, शेख कबीर, जलालुद्दीन अवधो, शमसुद्दीन याहिया आदि का समकालीन था। इन सब लोगों का परस्पर सहवास हुआ और इन्होंने सूफी पंथ का विकास और प्रचार किया।

आदिग्रंथ में बाबा फरीद की कृतियों का संग्रह करने का श्रेय पाँचवें सिख गुरु अर्जुनदेव को है। तीसरे गुरु ने उसमें कुछ पद्य जोड़ दिये। चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक सूफी कविता पर कृष्णोपासकों का प्रभाव पड़ा और उनमें वासनामय शृंगार की गहरी छाया फैली।

गुरु नानक सिख पंथ का आद्य संस्थापक (ईस्वी १४६६ से १५६८ तक) था। उसके बाद उसकी साहित्यिक और धार्मिक परम्परा १७०८ तक यानी गुरु

गोविन्दसिंह का दक्षिण हैदराबाद में नांदेड़ में मृत्यु होने तक अखंड रूप से चलती थी। इस युग के साहित्य के मोटे तौरपर दो विभाग किये जा सकते हैं। पहले में आदिग्रंथ में उसके भाग का, दूसरे में नवाआत्मक गाथाएँ और टीकाएँ हैं। दूसरे विभाग में उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : (गद्य) (१) नसीहतनामा (२) रेखता (३) मुनाजात (४) प्राण संगली अथवा सुन मंडल की कथा (५) ज्ञान सरोदई (६) काफी (७) कथा श्री कृष्णचंद्र और कथा दस अवतार (८) चतुर सलोकी (९) बानी विहंगम (१०) फारसी फर्द (११) फारसी रुबाई (१२) बारा (१३) सी हरफी (१४) वर (१५) सहंसर नामा (गद्य) (१६) हाजिर नामा। इनमें १० और ११ छोड़कर बाकी सब साहित्य पंजाबी हिंदवी या लहंदी भाषा में है। निरंजनी साहित्य के कबीरपंथियों ने बहुत-सा साहित्य झूठे ही नानक के नाम लगाया है। नानक ने आदिग्रंथ में शब्द, जपनिसान, सोदर, सोहिला, पेहरी, बंजारी, पट्टी आदि काव्यप्रकारों और छंदों का उपयोग किया है। नानक के काव्य की विशेषता उसकी व्यापकता है। उसके साहित्य में छंद और लोकगीतों का मिश्रण, हिन्दू-मुस्लिम, बौद्ध-शाक्त, द्वैताद्वैत शब्दावली का प्रयोग है। नानक का साहित्य पूर्ण अधिकृत रूप में अब तक उपलब्ध है, यह उसकी एक और विशेषता है। हिन्दुस्तानी कविता में नानक का प्रथम उल्लेख देवीसिंह बनारसी की सन् १६८५ के करीब लिखी लावनी में मिलता है।

नानक की परम्परा में जो कवि हुए उनके नाम हैं—(१) अंगददेव (२) अमरदास (३) रामदास (४) अर्जुनदेव (५) हरगोविन्द (६) तेगबहादुर (७) गोविन्दसिंह। ये सब कवि संत-साहित्य का विकास कर रहे थे, तब हिन्दुओं के अधिकाँश धर्म-दर्शन के ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में हो रहा था। और उर्दू की मारफत पंजाबी साहित्य में हिन्दू-दर्शन या धर्म ने प्रवेश किया।

उधर जन-साहित्य में बहुत-सा पद्यमय आख्यानसाहित्य चल ही रहा था : लैलामजनू, सोरठ बीज, सस्सीपुन्हू, हीर-रांझा आदि प्रेम कथाएँ और 'तिरिया-चरित्तर' की सैंकड़ों कथाएँ सुविख्यात हैं।

मुग़लों के उत्तर-काल में देश की अराजकपूर्ण हालत में गुरु गोविंदसिंह के बाद गुरु-परंपरा बन्द हुई और गरीबदास (ई० १७१७-७८) के सिवा कोई संत उनमें पैदा नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में पाँच मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ पंजाबी में दिखाई देती थीं—(१) संगीत विषयक नोट देकर वर्गीकृत काव्यसंग्रह तैयार करना (२) संतों या गुरुओं के जीवन वृत्तान्त गद्य में लिखना (३) देशी-विदेशी शूरवीरों पर काव्य-रचना करना (४) संस्कृत और व्रजभाषा के

मूल ग्रन्थों का अनुवाद और लिपि बदलकर प्रतिलेखन करना (५) पंजाबी देशज और तद्दितर संमिश्र शब्द-संग्रह का प्रयोग। धार्मिक लोकगीतों का प्रसार भी इसी काल में हुआ। यथा वीरसिंह फुलारी का गोविंदसिंह का बारांमाह, आगरा का हकीकतराय इत्यादि। इस काल के कुछ उल्लेखनीय कवि और उनकी कृतियाँ हैं :

अली हैदर— काफी व सी हरफी
आभ— सस्सी पुन्हू
बुधसिंह— काफी, सी, हरफी, मध्वानल
बुल्हा— काफी, सी हरफी, दोहरा
गरीबदास— शबद
हमीदशाह— हीर व जंगनामा
जमियतराय—सिंहासन बत्तीसी
लालजीदास—मंजरी व माझा
नजाकत— वी नादिरशहा
परमानन्द— सिंहासन बत्तीसी
रज्जब— छप्पय
वजीद— शलोक व शबद
वारिस शाह—हीर

इनमें अली हैदर, बुल्हा और वजीद सूफी ढंग के गीत रचने वाले, गरीबदास स्तोत्रकार और शेष अद्भुतरम्य काव्य रचने वाले कवि थे। गुलाबसिंह, लालजीदास और रज्जब अध्यात्मवादी या बुद्धिवादी कवि थे। चरणदास की अनुयायिनी सहजोबाई अच्छी कवियित्री थी।

रणजीतसिंह के काल में सिखों के उपपंथ निर्मल ने धार्मिक पुनरुज्जीवन का प्रयत्न किया। फारसी के गज़ल और मसनवी के ढंग पर रचना शुरू हुई। उर्दू छंद का प्रयोग पंजाबी कवि अधिक करने लगे। 'रेखते' भी लिखे गये। ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य के ढंग पर पंजाबी के मुस्लिम कवि मुहम्मद पैगम्बर की व्यक्ति-पूजा में रत हुए। हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा। अमृतसर की पंजाबी भाषा को मानक (स्टैंडर्ड) रूप मिलने लगा। हिन्दी और उर्दू की नयी-नयी रचनाओं के अनुवाद बढ़े। महाराजा रणजीतसिंह के दरबार के कवि हाशम ने इस काल के सर्वोत्तम वैणिक (लिरिक) रचे। उसके २०८ दोहरों से वह पंजाबी का खैयाम माना जाता है। गोपालसिंह, संतदास,

वीरा पेड़े करानियाँ आड़ुओं जेड़े
वीरा लुच्ची तलावां कोई थाल जेडी
सद्दो सहेलियो नी वीर रोटी खावे
वीर खाण आया नाल सट्ठ जणे
वीर खाण बैठा, पक्खा झलभैने
वीर खा उठया कुम्म मंग भैणा।
वीरा सब कुछ वधेरा वे विछोड़ा मन्दा॥

अर्थ—ऐ सखियो! मेरी उँगली कट गई है। कोई बताओ यह घाव कैसे अच्छा हो?

सहसा किसी ने कहा—तेरा भाई आ रहा है—बहन की उँगली का दर्द जाने कहाँ चला गया!

उसने साढ़े सात मन गेहूँ मँगाये, उन्हें मोतियों की तरह साफ कराया, सुर्मे की तरह बारीक पिसवाया, मलाई की तरह नरम गुँधवाया। आड़ुओं जैसे छोटे (गोल और खूबसूरत) पेड़े बनवाये और थाल जैसी बड़ी-बड़ी लुच्चियाँ तैयार करवाईं। इसके बाद सहेलियों से कहा—अब जाकर मेरे भाई को बुला लाओ। भाई साठ दोस्तों के साथ खाने आया, बहन सामने बैठ गई और प्यार से पंखा करती रही। भाई ने प्रसन्न होकर कहा—बहन, माँग क्या माँगती है।

बहन ने उदास होकर उत्तर दिया—भाई! परमात्मा का दिया सब कुछ है। केवल तेरा विछोह अखरता है।

यह गीत निश्चय ही किसी स्त्री का बनाया हुआ है। पता नहीं, कविता का उसने कभी नाम भी सुना था या नहीं? पर इसमें सन्देह नहीं कि वह उच्च-कोटि की कवियित्री थी और उसके इन सीधे-सादे शब्दों में बहन का स्वार्थ-रहित प्रेम, ऊँचे दर्जे की सुघरता, परिश्रम की आदत और अन्त में अपनी विवशता और भाई के पास रहने की अपनी आकांक्षा और प्रार्थना कूट-कूटकर भरी हुई है। पहला ही बन्द कितना काव्योचित है और इसके साथ ही कितना स्वाभाविक। ससुराल में किसी लड़की की उँगली कट गई है, वह सहेलियों से पूछती है—अब यह घाव क्यों कर भरेगा? सहेलियाँ इसका सीधा जवाब न देकर कहती हैं—तेरा भाई आ रहा है।

बस, अब कहाँ का घाव और कहाँ का इलाज? बहन भाई के खिलाने-पिलाने को उड़ी फिरती है। इस शौक़ में उँगली का दर्द जाने कहाँ लुप्त हो गया।

और फिर अन्तिम चरण तो सरलता की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। भाई प्रसन्न होकर कहता है—बहन, कुछ माँग ले। बहन कपड़ा नहीं माँगती, गहना नहीं माँगती, रुपया-पैसा नहीं माँगती; क्योंकि इससे उसके ससुरालवालों का अपमान होने का डर है। वैसे सन्तुष्ट स्वर में कहती है—भाई! मेरे पास सब कुछ है, मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं, मगर तेरा विछोह अखरता है, कभी-कभी मिल जाया करो, तो यह शिकायत भी न रहे।

इस लड़की ने मुँह से कुछ नहीं कहा। सास-ससुर की भी कोई शिकायत नहीं की; पर अंतिम प्रार्थना ने सब कुछ कह दिया—'भाई, तेरा विछोह अखरता है, इस वाक्य में दर्द की दुनिया भी है, जिसे देखकर पाषाण-से-पाषाण हृदय वालों की आँखों में भी आँसू उमड़ आते हैं। यह शब्द नहीं, टीस का संसार है—दर्द का उबलता हुआ सोता।

लड़की जब घर में रहती है, तो उसे घर की कीमत नहीं मालूम होती। ब्याह के बाद जब घर से नाता टूट जाता है, और वह पराई हो जाती है, तब उसकी आँखें खुलती हैं कि मुझसे क्या छिन गया। उस समय वह अपने माँ-बाप से मिलने के लिए कितनी आतुर और आकुल हो उठती है और क्या कुछ करने को तैयार हो जाती है, यही इस गीत का विषय है :

वीरा! घर घर ने धरेकां फुल्लियाँ धरेकां दी ठंडी छाँ
मा पियू दया जाया, वे झट ।१।
फीकण बैठां, बीबी भोलिए, मेरे साथी ते जांदे ने दूर
मा पियू दिये जाइये, छड-लड़ ।२।
वीरा तेरे साथियाँ नू देवाँ घियो खिचड़ी, तैनूं देवाँ मक्खन ते बदाम वीरा लै चल
लै चल मा पियू दे देस, वीरा लै चल ।३।
बीबी अग्गे ते धुआँ नी डाडियाँ, इक धुप लग्गू मर जाएँ भैणां रह घर
रह घर मा पियू दिए जाइये! भैणां रह घर ।४।
वीरा छतरी बनवावां रेशमी, वे मैं छाँ करेन्दी जावाँ वीरा लै चल।
लै चल मा पियू दे देस वे, वीरा लै चल ।५।
बीबी अग्गे ते सूलाँ तरिक्खियाँ, इक सूल चुभे मर जाएँ भैणां रह घर
रह घर मा पियू दिए जाइये, भैणां रह घर ।६।
वीरा जुत्ती बनवावाँ साहेनी, वे मैं ठुमक-ठुमक दी जावां वीरा लै चल।
लै चल मा पियू दे देस, वीरा लै चल ।७।

भाइया राहीया जान्दिया, जानां तूं केहड़े देस, मैं वारी ।१।
जाणां धीयी, तेरे पेकड़े, दे सुनेहा लै जावां, मैं वारी ।२।
जा आखणां मेरी माँ नूं, धियाँ क्यों दित्तियाँ दूर ? मैं वारी ।३।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे, दित्तियाँ उन्हां दे बाप मैं वारी ।४।
बावल कुर्सी बैठया वे, धीयाँ क्यों दित्तियाँ दूर, मैं वारी ।५।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे, दित्तियाँ उन्हां दे वीर, मैं वारी ।६।
सुण वे वीरा राजया, धीयाँ क्यों दित्तियाँ दूर, मैं वारी ।७।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे, दित्तियाँ उन्हां दे लेख, मैं वारी ।८।

अज वन्हावाँ पनोड़ियाँ
भलके सूहियाँ चुनदियाँ
परसों भैणां दे मोल ।९।

सस पिसावे चक्कोड़ियाँ, सौहरा घुटावे भंग, मैं वारी ।१०।
हथ दी पूणी छड्ड के नी, लगजा तां वीर दे गल, मैं वारी ।११।
भैण दियाँ निकल गइयाँ चीकड़ां, वीर दे डुलपये नैन मैं वारी ।१२।
पग दा पल्ला लाह के जी पूंजया चा भैण दा मुँह, मैं वारी ।१३।
भंग दा बूटा पट सुट्टया, चक्की दे टोटे चार, मैं वारी ।१४।
सस ने लाह लिया चँदरिमा, सौहरे ने लाह लये वन्द, मैं वारी ।१५।
नीला घोड़ा वेच के वणा दयाँ भैण नूं चंद, मैं वारी ।१६।
गल दा कंठा वेच के लै दयाँ, भैण नूं वन्द, मैं वारी ।१७।

अर्थ—एक लड़की अपने जन्म-स्थान से दूर व्याही गई है। सास-ससुर का व्यवहार भी उसके साथ अच्छा नहीं है। बेचारी उदास रहती है। अन्त को एक दिन एक मुसाफिर से, जो उसके घर की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है, पूछती है कि तू कहाँ जायगा ? । १ ।

मुसाफिर उसके देश का है। वह कहता है—मैं तेरे मैके जा रहा हूँ, कुछ संदेश भेजना हो तो भेज दो। २ ।

लड़की कहती है—तू मेरी माँ से कहना, तेरी लड़की पूछती थी कि तूने मुझे दूर क्यों व्याह दिया, जहाँ से आना-जाना मुश्किल है ? । ३ ।

माँ उत्तर देती है—उसका व्याह उसके बाप ने किया था। ४ ।

संदेश-वाहक उसके पिता से पूछता है—ऐ कचहरी की कुर्सी पर बैठने वाले पिता ! तूने लड़की को दूर क्यों व्याह दिया ? वह बहुत परेशान है। ५ ।

बाप उत्तर देता है—उसका विवाह मैंने नहीं किया, उसके भाई ने किया है, यह बात जाकर उससे पूछ। ६।

मुसाफिर उसके भाई के पास जाकर कहता है—ऐ राजा-भाई! तेरी बहन रोकर पूछती है, तू ने मुझे इतनी दूर क्यों ब्याह दिया। ७।

भाई कहता है—इसमें मेरा कुछ दोष नहीं, उसके भाग्य में यही लिखा था। कोई क्या कर सकता है। ८।

मगर इससे उसकी तसल्ली नहीं होती। दो दिन वह तैयारी करता है और तीसरे दिन बहन के घर जा पहुँचता है। ९।

बहन पर सास-ससुर बड़ा अत्याचार करते हैं। उससे सास आटा पिसवाती है और ससुर भंग!। १०।

भाई पूछता-पूछता बहन के आँगन में जा पहुँचा और बोला—बहन, हाथ की पूनी वहीं रख दे और उठकर भाई के गले लग जा। ११।

बहन ने सिर उठाकर भाई की सूरत देखी, तो उसकी चीखें निकल गईं। यह देखकर भाई की आँखें भी सजल हो गईं। १२-१३।

इसके बाद भाई ने अपनी पगड़ी के छोर से बहन की आँखें पोछीं, फिर चक्की के चार टुकड़े कर दिये और भंग का पौधा उखाड़कर फेंक दिया। १४-१५।

यह देखकर सास ने आकर सिर का चन्द और ससुर ने आकर हाथों के बन्द उतार लिये। १६।

भाई ने कहा—ऐ मेरी बहन! तू ज़रा भी चिन्ता न कर। मैं अपना नीला घोड़ा बेचकर तुझे चन्द बनवा दूँगा और अपने गले का कंठा बेचकर तेरे लिए बन्द तैयार करवा दूँगा। तू चिन्ता न कर। १७।

भाई बहन के लिए कुछ करे या न करे; मगर बहन को उस पर बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं। वह समझती है, मेरा भाई मेरे लिए सब कुछ कर गुजरेगा। अपना कंठा भी बेच देगा, अपना प्यारा घोड़ा भी अलग कर देगा। मेरे ससुरालवाले अगर ज़ालिम हैं तो हुआ करें, मेरा भाई जीता रहे। मुझे इनकी परवाह ही क्या है!

मुहब्बत की आँखें कितनी आशामयी हैं और निराशा के अँधेरे से कितनी अपरिचित!

ससुराल में लड़की को तकलीफ़ हो, तो उसे भाई बहुत याद आता है। इस अन्धकार में यही उसकी आशा की किरण है। और यह है भी सर्वथा स्वा-

भाविक। माँ-बाप बड़ी उम्र के हैं, घर में भाई का राज्य है, घर का सब प्रबन्ध, सब व्यवस्था उसी के हाथ में है। जो भला-बुरा, स्याह-सफेद चाहे करे, कोई उसका हाथ पकड़नेवाला नहीं। कोई उसे रोकने वाला नहीं। और फिर उसे मिलने के लिए भी लड़की के ससुराल बाप नहीं आता, उसका भाई आता है। इसलिए जब लड़की को तकलीफ़ होती है, तो उसे अपना भाई ही याद आता है।

घर घर डेकां फुल्लियाँ वे, मेरया राजया वीरा
घर घर ठंडी दी छां। १।
सभणांदे वीर मिल गए वे मेरया राजया वीरा
मैं परदेसन दूर। २।
उठ के कुण्डा खोल दे, मेरिये राणिये भैणां
वाहर खड़ा तेरा वीर। ३।
सस दा दितड़ा न खुले, वे मेरया राजया वीरा
कंध टप अन्दर आ। ४।
कंध टप्पे चोर नी मेरिये राणिये भैणां
मैं खड़ा तेरा वीर। ५।
चमकण लग्गी विजली, बोलण लग्गे मोर
मेरिये तनिये भैणां। ६।

अर्थ—हर घर में डेक के वृक्ष फूले हैं। हर घर में ठंडी छाया खेल रही है। १।

ऐ मेरे राजा भाई, और सब लड़कियों के भाई आकर उनसे मिल गये हैं। मगर तुझे अपनी परदेसी बहन का ध्यान क्यों नहीं आया ?। २।

इतने में भाई आ गया। और बाहर से बोला—ऐ मेरी रानी बहन ! उठकर दरवाजे की साँकल खोल दे। तेरा भाई तुझसे मिलने आया है। ३।

बहन ने उत्तर दिया—भाई ! सास की लगाई हुई साँकल नहीं खुल सकती (क्योंकि मैं साँकल खोलूँगी तो वह ख़फ़ा होगी) इसलिए तू दीवार फाँदकर अन्दर आ जा। ४।

इस पर भाई ने कहा—ऐ मेरी रानी बहन ! दीवारें फाँदना चोरों का काम है। मैं तो तेरा भाई हूँ, उठकर साँकल खोल दे। ५।

अब बिजली चमक रही है और मोर बोल रहे हैं। तेरा भाई मेंह में भीग जायगा। ऐ मेरी रानी बहन ! उठकर किवाड़ खोल दे। ६।

बहन के हृदय में अपने भाई पर जो मान और गर्व है, वह उसके एक शब्द राजा भाई से ज़ाहिर है। इस एक शब्द ने बहन के दिल की सारी कहानी बयान कर दी है। इस गीत से यह भी मालूम होता है कि पुराने जमाने की सास कितनी सख्त और पाषाणहृदया होती थी।

इस गीत की पूरी शान देखनी हो तो पंजाब के किसी गाँव में जाकर उस जगह खड़े हो जाइये, जहाँ दो-चार बहुएँ बैठी चरखा कातती हों और अपने-अपने भाई को याद करके अपने काँपते हुए, मीठे-मादक स्वर मिलाकर, यह दर्द भरा गीत गा रही हों, उस समय पवन भी साँसें भरती हुई दिखाई देती है और विटप रोते दिखाई देते हैं।

भाई के घर पुत्र जन्मा। बहन बधाई देने आई। भाभी उसे कोई उपहार भेंट करना चाहती है; पर ननद कहती है, मैं तो केवल हार लूँगी।

ननद आई लाडे पाहुनी पिया, कैसे कु बहनावे
ननद लाडे आवणा। १।
देणां एं तां हार दे भाबी, नईं ते—आओ नी अड़िये
नहीं ते, दे दे नी जवाब, जाइये घर अपणे। २।
गहणयाँ दे विचों आरसी पिया, सौं मेरी—आहो वे लाला
सो मेरी ननदे नूँ दे। ननद घर जावणा। ३।
देणां एं तां दे हार नी भाबी, नईं ते—आओ नी अड़िये
नहीं तां दे दे नी जवाब, जाइये घर अपणे। ४।
भांडयां दे विचों देचका पिया, सौं मेरी—आहो वे लाला
सो मेरी ननदे नूँ दे, ननद घर जावणा। ५।
नाँ तेरे बाप घड़ाया ननदे—आओ नी अड़िये
ना तेरे चंचल वीर—घड़ाया मेरे बाप ने। ६।
रुस्सी ताँ ननद, ओह गई पिया, लंघ गई—आहो वे लाला
लंघ गई दरिया—ननद घर जावणां। ७।
वीर भैण प्यारया, भैण नूँ—आओ वे अम्मा जाई नूँ
लियान्दा मणाए, जाणां घर अपणे। ८।
थाल भरिया लुच्चियाँ मोतियाँ बीची, उपर—आहो नी अ...
उपर नौ सौ दा हार, जावीं घर अपणे। ९।
दुध पीवें भरजाइये, अड़िये गोदी ताँ—आओ नी अ...
गोदी ताँ लाल खड़ा, जाइये घर अपणे।१०।

वीर जीवे, पुत्ता पोतियाँ, मेरी भाबो दा–आओनी मेरी भाबो दा
अटल सुहाग—चलिये घर अपणे।११।

अर्थ—ऐ मेरे स्वामी! मेरी ननद और तुम्हारी बहन मेरे यहाँ आई है, उसका भली-भाँति सत्कार करो। यह बेचारी हमारे यहाँ कभी-कभी आती है।१।

ननद कहती है—ऐ भाभी! देना है तो हार दे, नहीं तो जवाब दे, ताकि मैं अपने घर लौट जाऊँ।२।

भाभी कहती है—ऐ मेरे स्वामी, ननद अपने घर जाने को तैयार हो रही है। इसे आरसी दे दो।३।

ननद कहती है—मुझे आरसी की आवश्यकता नहीं। देना है तो हार दे, नहीं तो मैं अपने घर लौट जाऊँगी। मेरे पास आरसियाँ बहुत हैं।४।

भाभी कहती है—अच्छा इसे अच्छी-सी बटलोही दे दो।५।

ननद कहती है—यह अपने घर रखो, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। अगर देना हो, तो हार दो, नहीं तो मैं अपने घर जाती हूँ।

भाभी क्रोध से कहती है—यह हार न मुझे तेरे पिता ने दिया है, न तेरे चंचल भाई ने दिया है। यह हार मुझे मेरे बाप ने दिया है। यह तो मैं न दूँगी।६।

ननद ने यह ताना सुना तो रूठकर अपने घर लौट गई, और थोड़ी ही देर में नदी के पार पहुँच गई।७।

भाभी चुप थी; पर भाई का प्रेम कैसे मानता? वह भागा-भागा गया और रूठी हुई बहन को मना लाया।८।

इसके बाद उसने सच्चे मोतियों का थाल भरा और उसके ऊपर नौ सौ रुपयों का हार रखकर बहन को भेंट किया और कहा—ऐ मेरी प्यारी बहन, अब तू शौक से अपने घर जा।९।

बहन ने देखा, मेरी मन की मुराद पूरी हो गई। उसने प्रसन्न होकर भाभी को दुआ दी कि तेरे यहाँ दूध की कमी न हो, और तेरी गोद सदा हरी-भरी रहे, फिर भाई को दुआ दी कि तू सदा बेटों-पोतों का मुँह देखे और मेरी भाभी का सुहाग अटल हो।१०-११।"

इस गीत में [illegible] की लड़ाई का जो विवरण दिया गया है, वह इतना मधुर और रोचक है कि दिल नाचने लग जाता है। खेद है, आज भाई-बहन के [illegible] गीतों का रिवाज कम होता जाता है; लेकिन जो सुनते

हैं, वे सिर धुनते हैं, और इन गीतों के मनोमुग्धकारी संगीत और दिल में उथल-पुथल मचा देने वाले भावों में खोकर रह जाते हैं, जो आज-कल एसे कहीं दिखाई नहीं देते।

और एक लेख हमारे मित्र श्री यशपाल ने 'रूपाभ' के अप्रैल १६४८ के अंक में छापा था, जिसमें पंजाब के दो गीत दिये गये हैं। उसके एक अंश से यह लेख समाप्त करता हूँ :

"साहित्य में जन की भावना का प्रतीक जनगीत से अधिक और क्या हो सकेगा? एक तो यह है ही जनगीत; क्योंकि उसमें कहीं बहुत पीछे ओझल-सा रह जाता है, यहाँ तक कि गीत को अपनी ही भावना अनुभव कर और ऐसा विश्वास कर जन गीतकार का नाम ही भूल जाता है। कभी-कभी तो जन स्वयं ही ऐसे गीतों का रचयिता होता है। ऐसे गीतों में वातावरण के आधार पर उनकी लय या धुन ही भाव-अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम होती है, जो शनैः-शनैः जन के हृदयों में प्रस्फुटित और विकसित होकर सर्वमान्य रूप ले लेती है। इन गीतों के शब्द और पद भी इसी प्रकार चुने जाकर मान्य हो जाते हैं। परन्तु अत्यन्त सुलभ और साधारण समझे जाने के कारण यह गीत प्रायः ही साहित्यिक विवेचना या क्रम से वंचित भी रह जाते हैं।

ऐसे जन गीत अपने स्थान के भौगोलिक और सामाजिक वातावरण का एक बहुत स्पष्ट संकेत और चित्र लिये रहते हैं। पंजाबी देहात का ऐसा ही एक बहुत साधारण गीत है :

उच्चियाँ लम्मियाँ टाहियाँ वे
विच गुजरी दी पींग वे माहिया

गीत की भाषा, गीत के देश और उसके जन से परिचित के लिए इस छन्द की दूर्बीन के छिद्र से एक बहुत व्यापक दृश्य का चित्रपट खुल जाता है :

शीशम के ऊँचे और लम्बे कद्दावर पेड़।

शीशम के पेड़ ऊँचे और लम्बे! युक्तप्रान्त की कोमल उर्वरा भूमि और वातावरण में वर्षाधिक्य से पर्याप्त न भी पाये, लुचलुचा कर टेढ़े और फैल जाने वाले शीशम नहीं। ऐसे शीशम जिन्हें पृथ्वी से पर्याप्त रस पाने के लिए अपनी जड़ों को कठोर धरती का कलेजा फोड़ कर बहुत गहराई तक धँसा देना पड़ता है और जिनके पत्रदल कड़ी लू और कड़े पाले दोनों का ही सामना करने के लिए अधिक घने, अधिक मोटे और अधिक श्यामल होते हैं। जिन वृक्षों के शिखर की ओर आँख उठाने से सिर की टोपी पीछे गिर पड़ती है और जिनकी

घनी छाया के घेरे के बाहर चिलचिलाती धूप में फैले खेतों में आँखें चौंधियाँ जाती हैं। जिसके समीप ही पंजाबी देहात का विशेष आश्रय, एक रहट काष्ठ की रगड़ से शनैः शनैः और मधुर राग अलापता हुआ गहरे कुएँ से ठंडा पानी खींच-खींच कर तपते खेतों की भूमि पर फैलाता रहता है और तपती दुपहरी में किसान का परिवार उस टाल्ही (शीशम) की छाया में मोटी रोटियों की गठरी और छाछ का बर्तन लेकर एकत्र होता है। हे माहिआ, ऐसे ऊँचे लम्बे और घने शीशमों में गुजरी की पींग या झूला बँधा है।

नायक माहिआ और नायिका गुजरी के परिचय की भी कुछ आवश्यकता है :

माहिआ प्रायः गंगा यमुना के मध्य देश के कान्ह का समानार्थक हो सकता है परन्तु उससे कुछ भिन्न। ठीक वैसे ही जैसे कि युक्तप्रान्त का शीशम-पंजाबी की टाल्ही से। माहिआ प्रायः लाठी लेकर भैंसों के साथ जंगलों में या नदियों के कछारों में घूमता है। उसके बाहु और जंघा भी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल हैं। वह उतना चुलबुला और चटोरा नहीं, उसकी आँख कुछ खोई-खोई-सी और तबियत का निरपेक्ष-सा है। वह सुरीली तीखी वंशी नहीं, कुछ भारी स्वर का अलगोजा कभी-कभी बजाता है। सूक्ष्म संकेत की अपेक्षा उसके लिए पुकार की जरूरत रहती है और तब भी एक बार पगड़ी के नीचे सिर को खुजा कर ही वह कुछ समझ पाता है शायद यह भैंस के भारी दूध का प्रभाव है। लेकिन जब समझ पाता है तो फिर अंधेरी रात में भारी दरिया फाँदता है और राह में दही चुराने की अपेक्षा, प्रेमिका के भोजन के लिए अपनी जाँघ से माँस काट कर राँधने लगता है।

वैसे ही गुजरी ग्वालिन का समानार्थक होते हुए भी कुछ भिन्न है। वह सकुचाती सलोनी नहीं, धरती पर पाँव धमक कर चलती सीधी शहतीर है, दूध-छाछ से पली गोरी। यों गुजरी अपने भोले और सलोनेपन की व्यंजना के कारण नागरिक पंजाबी के लिए भी प्यार का सम्बोधन है। महाराज रणजीतसिंह की एक रानी के लिए भी यही सम्बोधन था और आज भी प्यार का यह नाम डायलेट के परिमार्जन के बावजूद चलता ही है। सो टाल्हियों की पोढ़ी शाखों से लटकी पींग या झूले पर गुजरी और माहिआ की बात है :

जन-गीत कहता है :

पींग झुटेन्दे दो जने वे
आशिक ते मशूक वे माहिआ।

दो जने प्रेमी और प्रेमिका झूला झूल रहे थे।

पींग सी पतली मशूक सी भारा,
भूटे लैं दें दूर दे माहिआ।

उस भूले की रस्सी पतली और कमज़ोर थी, लेकिन वे दोनों जने दूर-दूर के हिलोरे ले रहे थे।

पींग भुटेंन्दे डिग पये,
हो गये चकनाचूर वे माहिआ।

भूला भूलने के इस खेल में वे दोनों गिर पड़े और गिरकर चकनाचूर हो गये।

गीत का रूपक दुखान्त है। गीत माहिआ को सम्बोधन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि यह प्रेमिका की उक्ति है और वह अपने प्रेमी माहिआ को ले गिर कर चकनाचूर हो जाने की व्यथा का वर्णन करती है।

पतली कमज़ोर रस्सी के भूले पर वज़नी प्रेमिका को लेकर भूलने की बचकाना भूल की वक्रोक्ति में केवल प्राणों से अधिक मूल्यवान प्रेमी माहिआ को विरोधी सामाजिक परिस्थितियों में पा सकने के प्रयास की विफलता की ओर ही संकेत है या इस वक्रोक्ति की कुछ आध्यात्मिक या मार्फती व्यंजना भी है। अपर्याप्त दृढ़ निश्चय और साधना का समय लेकर आध्यात्मिक सिद्धि की चेष्टा करने वाला साधक कैसे असफल हो जाता है, यह सांसारिक जीवन के लिए एक सुझाव है कि अपनी परिस्थितियों और साधनों के विचार से ही मनुष्य को इच्छा के हिलोरे लेने चाहिएँ वरना सामर्थ्य से अधिक वस्तु के लिए बावले बनने से परिणाम आत्मघात ही होता है। यह जनगीत भूले और विनोद के समय गाया जाने पर भी अर्थ और व्यंजना की गुरु गम्भीरता लिये है।"